दुष्यन्त कुमार

रचनावली 1

संपादक

विजय बहादुर सिंह

दुष्यन्त कुमार रचनावली

चार खंडों में समग्र रचना-संसार

पहला खंड

कविताएँ एवं गीत

दुष्यन्त कुमार रचनावली

(पहला खंड)

कविताएँ एवं गीत

संपादक

विजय बहादुर सिंह

किताबघर प्रकाशन

नयी दिल्ली

दुष्यन्त कुमार रचनावली : पहला खंड

ISBN—81-7016-733-7 (चार खंड)
81-7016-734-5 (पहला खंड)

प्रकाशक
किताबघर प्रकाशन
4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

आवरण
हरचन्दन सिंह भट्टी

मुद्रक
बी०के० ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

DUSHYANT KUMAR RACHANAVALI : 1 (Hindi)
Ed. by Vijay Bahadur Singh

आभार एवं कृतज्ञता

रचनावली को यह स्वरूप देने में सर्वप्रथम मैं कवि दुष्यन्त के बड़े बेटे आलोक, उनकी पत्नी मानू और राजो भाभी (श्रीमती राजेश्वरी त्यागी दुष्यन्त) के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने ढूँढ़-ढाँढ़कर सारी बिखरी-फैली सामग्री एकत्र की और मुझे दी। मानू ने अधिकांश प्रकाशित रचनाओं की सूची बनाकर मुझे दी, जिससे साठ के बाद की अधिकांश तिथियाँ ढूँढ़ी जा सकीं। इस काम में कवि दुष्यन्त के मित्र और जाने-माने कथाकार-लेखकों के पत्रों के अलावा 'धर्मयुग' के संपादक और 'अंधायुग' जैसी युगांतरकारी कृतियों के रचनाकार धर्मवीर भारती, 'कल्पना' त्रैमासिक के संपादक बद्रीविशाल पित्ती, 'ज्ञानोदय' के संपादक शरद देवड़ा और कथाकार रमेश बक्षी, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के संपादक मनोहर श्याम जोशी के अलावा कवि-मित्र और आलोचक धनंजय वर्मा, कथाकार शानी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शरद जोशी के लेखों और पत्रों ने भी मेरा मार्गदर्शन किया। खुद कवि दुष्यन्त की कभी-कभार की लिखी डायरियों और गद्य-टिप्पणियों से भी मुझे राह बनाने में सहयोग मिला। दुष्यन्त पांडुलिपि संग्रहालय के राजुरकर राज, भारत भवन के मदन सोनी, मेरे स्नेहपात्र कवि ध्रुव शुक्ल ने कुछेक रुकी हुई जगहों पर मेरी गाड़ी को हाथ लगाया। नवोदित पत्रकार रामकृष्ण डांगरे, मेरे छात्र केशव शर्मा, मेरी सहायिकाएँ मनीषा यादव और शमा पांडुलिपि तैयार करने में मदद करते रहे। माधवराव सप्रे संग्रहालय के अध्यक्ष विजयदत्त श्रीधर जी, वहाँ की निदेशिका मंगला अनुजा ने भी 'कल्पना' आदि पत्रिकाओं से सामग्री ढूँढ़ने में मेरी मदद की।

कविवर भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली को दस बरसों के परिश्रम से संपादित कर चुकने के बाद मैं लगभग थक गया था और प्रतिज्ञा-सी कर चुका था कि इस तरह का काम अब आगे कभी नहीं करूँगा। पर अपने संकटकालीन मित्र और कवि दुष्यन्त कुमार के छोटे भाई प्रोफ़ेसर प्रेमनारायण सिंह त्यागी अर्थात् 'मुन्नू जी' का कहना था कि घर के लोगों का फ़ैसला है कि यह काम तुम्हें ही करना है। मुझे अपना मन तब बदलना ही पड़ा और याद रखना पड़ा कि मेरे छोटे से छोटे काम के लिए दुष्यन्त जी किस तरह दौड़ पड़ा करते थे। विट्ठलभाई पटेल और बालकवि बैरागी आदि अपने आत्मीयों के बीच मेरा ज़िक्र छिड़ जाने पर मुझे कैसी अहमियत दिया करते थे और मेरा कद रेखांकित किया करते थे।

रचनावली की तैयारी के प्रत्येक क़दम पर आदरणीय कमलेश्वर जी हमेशा मेरा पथ-प्रदर्शन करते रहे। कवि दुष्यन्त को समझने में उन्होंने मेरी भरपूर मदद की है और यह संयोग ही था कि उधर दिल्ली में पांडुलिपि ग्रंथाकार रूप ले रही थी, इधर कमलेश्वर जी डेढ़-दो महीनों के लिए संयोग से भोपाल आ गए थे। लगभग प्रत्येक शाम को गायत्री कमलेश्वर (भाभी जी), राजो भाभी के साथ बैठकर जिज्ञासाएँ करना और उनका सटीक उत्तर पाना चलता रहा। मेरी लिखी जीवनी, भूमिका आदि को समय निकालकर पढ़ना और ज़रूरी जगहों पर संशोधन सुझाना, कमलेश्वर जी ने जिस मनोयोग और ज़िम्मेदारी के साथ किया उसका अनुभव दुर्लभ और अविस्मरणीय है। कमलेश्वर दुष्यन्त के लिए क्या थे और आज कमलेश्वर के लिए दुष्यन्त क्या हैं, इसे शब्दों में शायद ही कहा जा सके। कहने की मजबूरी ही आ पड़े तो फिर दुष्यन्त के ही शब्द लेने पड़ेंगे—'वह स्वभाव से अत्यंत संवेदनशील, भावप्रवण और गंभीर है, लेखन में असाधारण होते हुए भी वह बिलकुल साधारण इंसान है। वह दोस्तों की महफ़िलों में मिल सकता है, किसी बीमार के सिरहाने बैठा हुआ भी मिल सकता है···वह दूसरों के दुःख में दुखी, उसकी परेशानियाँ सुलझाता हुआ और अपने दुःखों में हँसता हुआ भी मिल सकता है।' कौन नहीं जानता, दुष्यन्त का इस तरह अकस्मात् जाना कमलेश्वर का अपना दुःख रहा है। तभी तो रचनावली का दुष्यन्त की अनुपस्थिति में इस तरह आना उनका अपना सुख भी है।

कवि दुष्यन्त के निधन के बाद मेरी एक शोध छात्रा अनुभा दत्त ने उनके गाँव तक जाकर प्रामाणिक सामग्री जुटाई थी। इलाहाबाद के उनके मार्कण्डेय आदि मित्रों से तथा गाँव में कवि दुष्यन्त की माँ से भी मिली थी। उसके अधूरे रह गए शोध-कार्य की ढेर सारी प्रामाणिक सामग्री का उपयोग भी यहाँ किया गया है। इसलिए उसको याद रखना और करना मुझे यहाँ ज़रूरी लग रहा है।

भारत भवन, भोपाल के कलाकार हरचंदन सिंह भट्टी ने रचनावली का कवर तैयार किया। भाई देवीलाल पाटीदार ने भी इसमें मदद की। अब यह काम उनका भी है, सिर्फ़ मेरा नहीं।

मेरी बेटियों—चित्रा-प्रिया सिंह, दामाद मोहित और पोती ऋचा सिंह ने मुझे ऐसा वातावरण दिया जिससे मैं यह काम कर सका। उन्हें अब ज़रूर ख़ुशी होगी।

अब जब यह निर्विघ्न संपन्न हुआ तो सब एक साथ याद आ रहे हैं।

—संपादक

अनुक्रमणिका

कवि का जीवन

बचपन 15

कैशोर्य 21

चंदौसी काल 28

इलाहाबाद का जीवन 34

भोपाल का जीवन : मधुवन भी तो महाभारत भी 63

कवि दुष्यन्त के अंतिम जीवन के वे पल

1. 29 दिसंबर की वह रात 85

2. वह एक वटवृक्ष 88

काव्य-चेतना का विकास

तुम्हारे हाथ में आई तो इक मशाल हुई 95

पांडुलिपियों के बीच दुष्यन्त 112

कविताएँ एवं गीत

समर्पण 117

भावनाओं का है इस्कूल 117

एक युग से गिन रहा हूँ 118

फिर कर लेने दो प्यार प्रिये ! 119

काश ! मैं भगवान होता 119

रोने में भी मज़ा बड़ा है 121

क्यों तुमने मुझको प्यार दिया ? 122

ये ऊँचे शैल शिखर सुंदर 123

प्रथम प्रारूप 124

अंतिम प्रारूप 125

तुम एक बार मुस्का दो ना ! 126

दूसरा प्रारूप 127

मैंने भी एक क्षण देखा है 127

यह मत समझो मतवाले हैं 128

तुम्हीं बता दो 129

सत्य सपनों का सुखद संसार 130

दुनिया आज चली है करुणाकर 131

मुझे पागल कहता संसार 131

तुम्हें कसम है इन प्राणों की 133

उस समाज को 134

एक राग से गाएँ 134

नित्य बैठा सोचता हूँ 135

कितना निष्ठुर यह जन समाज 136

भुला सकूँगा नहीं कभी 136

कौन तुम मेरे स्वरों में 137

चाँद-सितारों का वह सुंदर देश 138

हे भारत जननी के किरीट 139

जागो देश पुकार रहा है 140

अमर है अभिमान मेरा 140

किसान ! 141

वह बार-बार कह रहा कौन 143

आज युग का पथ-प्रदर्शक खो गया 144

सिंधु ने अपने हृदय में ज्वार लाकर 145

शोकगीत 146

अब सुमनों की भरमार कहाँ 146

वह भारत का भगवान 147

शेष फिर भी आग उसमें 148

आ रही मुझको तुम्हारी याद 149
विकल वेदनाएँ 150
मैं एक नाम, पर लाख रूप 150
मेरी वो आँखें पथराईं 151
दीवाली 152
मत पूछो कैसे रात कटी है मेरी 153
यह दुस्तर पथ 154
क्यों अपने प्रण को भूल गए 155
दिवस आज उद्घाटन का 155
विक्षत उर का उपचार बना 156
इन अधरों का गीत बनी तुम 157
इन नयनों का गीत तुम्हीं हो 158
बोलो क्या करूँ स्वीकार 158
ऐसा भी अंबर देखा है 159
याद किसकी आ रही है 160
कोई कहता 160
मैं गीत बनाना क्या जानूँ ? 162
खिल रही चाँदनी वसुधा पर 162
दूजे को वरदान मिला क्यों ? 163
प्रिय तुम गीले गीत न गाना 164
हँसते-हँसते मरना सीखो 165
अधिकारों की कुर्सी पाकर 166
इस दिन सारा जग रोया था 166
गीत बनाना छोड़ दिया है 167
अंतर नहीं दिखाया जाता 168
वरदान तुम्हें दे सकता हूँ 169
प्रीत सदा देता आया हूँ 169
गीतों की छाया में मेरे 170
मैं विरही की प्यास अमर हूँ 171
विज्ञापन के पर्चे हैं 172
मगर हम अनाड़ी थे कच्चे खिलाड़ी 173
दो लाज भरे सुरमई नयन 175
तब याद मुझे करती होगी 176
हृदय की पीड़ा का इतिहास 177
क्या तुमको मेरी याद नहीं आती है 178
दो क्षण का प्यार मुझे दे दो 179
तुम मुझे अभिशाप दे दो 180
मैं तुम्हें वरदान दूँगा 181
दो मुझे आश्वास प्रेयसि ! 182
दीवाली के दीपक 183
कैसे क्रूर विधान बन गए 183
यही बहुत है 184
यही बहुत है याद हमारी
कर लेती हो 185
वे अपने हठ की पक्की हैं 186
चिराकुल सपनों को 186
क्यों गाता है ? 187
यही हार है, यही जीत है 188
मधुमास सही 188
प्यार की पतवार 189
जल रहे हैं गान मेरे 190
मुझे शोक है 191
अधरों में मुस्कान बंद है 192
प्रणय की धार 193
भूल जाना भी नहीं आसान 194
प्यासे अधरों से अधर मिले 194
किसी के सामने सिर
झुक नहीं सकता 195
तुम्हारी याद में पागल प्रवासी
लौट आया है 197
पाठांतर 197
मैं प्राणों में प्यास लिए हूँ 198

अच्छी देन विश्व को 199
मैं समझता हूँ 200
तू साधन न बन ! 201
मेरे अधःपतन का कारण ही
तेरा उत्थान बना है ! 202
हे होली के त्यौहार
हमें तुम माफ करो 203
मैं भी जलता रहा रात भर 204
मैंने तुमको ही प्यार किया 205
ठहर जाओ 206
तुम कब बोले ! 206
मैं रोता हूँ 207
नया साल आए 208
तीसरा महायुद्ध 209
संसार नहीं मिलता है 210
मेरा जीवन 211
मैंने धरती पर भी स्वर्ग
बसाना चाहा 212
किसी दिन 212
यह तूफान न बंदी होगा 213
पूँजीपतियों की चपतों से 214
मेरे ही गीतों में 215
मैं विरही का वह स्वप्न 215
निराला 215
दुःख में आओगे जाने वाले ! 217
ओ पत्थर के भगवान 217
कब कहता हूँ 218
ओ अमर गायक करो
स्वीकार अभिनंदन 219
मेरा यह जीवन मत बाँधो ! 220
यहाँ बटोही आते भी हैं, जाते भी हैं 220
मेरे गीतों में कोई 221
तुम्हें हर बोल में मैंने पुकारा 222
पत्नी के प्रति : 1 222
पत्नी के प्रति : 2 223
अभी तो आधा पंथ चले ! 224
ओ मेरे आराध्य 224
धरा की जलन 225
अधिकार नहीं मिलता है 226
जाने कैसे कातर स्वर में 227
सुधियों की समाधि पर 227
मत उदास हो 228
अभिसार मुझे करना होगा ! 229
आ गई बरसात देखो ! 230
तुम्हारा ही रहूँगा 231
ज़िंदगी का कारवाँ 232
मैंने पथ के हर पत्थर को 232
पागल प्यास 233
परिचित सीमाएँ 234
कवि 236
असफलता के तूफान 237
कभी किसी दिन तुम बन··· 238
ओ मेरे मन मत उदास हो 239
जब-जब फूलों से शृंगार किया 239
अपने दोस्तों से 240
साँस के तार 241
गीत कि जो मैंने गाया··· 241
पत्नी के प्रति 242
ओ बुलबुलो ! 243
बोलो मान लूँ क्यों ज़िंदगी से हार 244
मृत्यु प्रदेश 245
मुक्तक 245

बूँद तुम्हारी याद लिए	245	प्यार के देवता प्यार की···	274
विदा बेला	246	विरल अनुभूति	275
मैं उदास क्यों ?	248	क्योंकि मैं अकेला नहीं	275
वह न कवि है	249	मन उदास हो गया अचानक	276
भय का चाँवर	249	आकांक्षा	277
मत उदास हो	250	दर्द	278
जलते पथ पर	250	ओ गुलाब के फूलो !	278
थके बटोही	252	युग के विचार	279
शेष दुःख	253	नामुमकिन	279
है पास नहीं मेरे मेरी परछाईं	255	एक पत्र	280
तब भी आता चाँद	255	मेरा प्यार	281
प्राण किसलिए	256	अधूरी कविता	282
मैं अकसर सोचा करता हूँ	257	भीतर-बाहर	283
सहृदय	258	नाकाम कोशिशें	284
मन्मथ गंध	259	गगन का गीत	285
नई राह	259	रुबाइयाँ	285
आत्मविश्वास	260	गीत : जीवन की लहरों से···	286
प्रतिच्छाया : 1	261	प्रेम कविता (संदेश काव्य)	287
प्रतिच्छाया : 2	262	ये पथ टेढ़ा है	291
मुक्तक	262	रवि का साथ	292
तीन मुक्तक	263	कमलेश्वर के नाम	293
नया विहान	264	स्वर-संबंध	293
चित्रकार से	264	अंतिम क्षण तक	294
घुटे तिमिर में प्राण : 1	265	तेरी सुधि	294
प्रतिकूल राह : 2	267	मौन	295
मरुधर से	268	हमें मिलना है	295
अब के कवियों का चाँद	269	मेरे लिए	296
आज मनादी हुई	270	समर्पित राह	296
अचम्भा	271	गीत	297
चार कविताएँ	271	कवि कहाँ हूँ मैं	298
लगती दुनिया यह नई-नई	273	मुक्तक	299

इस मोड़ से तुम मुड़ गईं
फिर राह सूनी हो गई ! 301
चाहे-अनचाहे 301
कमलेश्वर के नाम : 1 302
माफ करना : 2 303
फिर आऊँगा : 3 304
तोड़ो मत : 4 305
मेरा-तुम्हारा : 5 305
समष्टि का ज्वार 307
कवियों के नाम : 1 307
कवियों के नाम : 2 308
गगन : कालिख-पुता 309
चिराग़ बालने का वक़्त हो गया 309
हम-आप जो कवि हैं 310
पुतलियों पर दिनमान 310
रात का संदेश 311
नींद मेरी व्योम में सपने चुराकर
खो गई है 312
जीवित-अजीवित प्रश्न 313
रकीब मित्र 313
कोई तो 314
एक नज़्म 315
बीता सपना 315
दंश-क्षेत्र 316
निष्क्रिय हम 318
असंवद्ध विचार 318
कल्पांतर 318
प्रस्तरवत् 319
एक स्वप्न 319
विश्वासयुक्त 322
ओ मेरे मन 323
मैं गली सुनसान 323
बालू के टीलों से 324
ध्वनियाँ अंतिम क्षण तक 325
न जाने तुम कहाँ 326
जीवन-भर तेरी आग जलेगी
और दहूँगा मैं 327
दो भुजाओं की प्रतीक्षा 328
दूसरा प्रारूप : प्रतीक्षा 329
सहचरी ओ ! 329
ज़िंदगी का अर्थ 330
मर्यादा-महल 331
दूसरा प्रारूप 331
आभार-प्रकाशन 332
ज़िंदगी कहाँ ? 333
मापदंड बदलो 333
कुंठा 335
एक स्थिति 336
पराङ्मुखी प्रिया से 337
अनुरक्ति 338
कैद परिंद का बयान 339
धर्म 340
ओ मेरी ज़िंदगी 341
मैं और मेरा दुःख 342
शब्दों की पुकार 343
दिग्विजय का अश्व 345
चार मुक्तक 346
दिन निकलने से पहले 347
परिणति 348
वासना का ज्वार 449
एक पत्र का अंश 350
गीत तेरा 350

जभी तो	351	नई पीढ़ी का गीत	380
मोम का घोड़ा	352	सूर्य का स्वागत	381
यह क्यों	353	साँप आस्तीनों में	382
मंत्र हूँ	354	अंततोगत्वा	383
स्वप्न और परिस्थितियाँ	355	कवि	384
अभिव्यक्ति का प्रश्न	356	गीत : सीमाओं में बँधा नहीं हूँ	385
दीवार	357	किंतु तुम	386
आत्म-वर्जना	358	शिलालेख	387
दो पोज़	358	शब्दावली कार्यशाला	387
एक मनःस्थिति का चित्र	359	ये कविताएँ	388
पुनःस्मरण	359	फिर भी व्यथा	389
सूर्यास्त : एक इम्प्रेशन	360	एक बिंदु जिस पर हम	390
सत्य	361	मर्मस्पर्शी	390
क्षमा	362	प्रस्तुतकर्ता : 1	391
कागज़ की डोंगियाँ	363	प्रस्तुतकर्ता : 2	392
पर जाने क्यों	364	व्यक्तिवाद	393
इनसे मिलिए	365	गीत विवश	394
माया	366	घाटियों के परिंदे	394
संधिस्थल	366	एक और दुष्यन्त	396
संतोष	367	सुख नहीं	397
प्रेरणा के नाम	368	प्रतीक्षित प्रतिध्वनियाँ	398
सूचना	370	परंपरा	398
समय	370	मेरी आवाज़	399
आँधी और आग	372	मित्र को एक पत्र	401
अनुभव-दान	372	बेरोज़गारी : एक अनुभूति	403
उबाल	374	रेडियो में काम	404
सत्य बतलाना	374	स्पष्टीकरण	405
फूल ये कमल के	375	थोड़ी दाह	406
तीन दोस्त	376	दोस्त मेरे !	406
उसे क्या कहूँ	379	ओ अपरिचित मित्र !	407
सत्यान्वेषी	380	नए कवि से	410

काल-दहन	410
आह कितनी देर	411
महत्त्वाकांक्षी	412
इन चंद साँसों के लिए	413
समय की फसल	413
दो मुक्तक	414
कल जब···	415
क्या कहूँ कैसा लगा है यहाँ आकर	416
आह ! यह दिल्ली !	416
तीन मनःस्थितियाँ	418
इन दिनों	420
मुझे छोड़कर	421
एक शहज़ादा अवध का	421
मैं कौन हूँ	423
कथा और श्रोता	424
गीत : फिर किसी ने चेतना के···	425
मैं गाऊँगा	425
विस्फोट	426
पैमान-ए-दर्द	427
मैं दुष्यन्त कुमार	428
व्यथा की झील	430
ये क्या कम है	431
जैसे हिमालय	432
एक मनःस्थिति	434
सत्य के लिए	435
आज	436
दृष्टांत	436
आग जलती रहे	437
सूखे फूल : उदास चिराग	438
साँसों की परिधि	439
अनुकूल वातावरण	439
एक यात्रा-संस्मरण	440
कौन-सा पथ···	441
आवाज़ों के घेरे	442
निर्जन सृष्टि	444
ओ मेरे प्यार के अजेय बोध	445
अच्छा-बुरा	447
गीत का जन्म	447
विवेकहीन	449
दुहरी ज़िंदगी	450
प्रश्नवाचक लोग	451
एक आशीर्वाद	451
भविष्य की वंदना	452
राह खोजेंगे···	454
दूसरा संदर्भ	455
सूना घर	455
गांधीजी के जन्मदिन पर	456
दो मुक्तक	457
अपनी प्रेमिका से	458
प्रयाग की शाम	460
स्वप्न-खंड	460
असमर्थता	461
आत्मकथा	461
घूमने अकेले	464
विवश चेतना	465
छत पर : एक अनुभूति	466
क्या मेरे साथ यही न्याय है तुम्हारा	466
सरस्वती-वंदना	467
अबोध शाप	469
शीत-प्रतिक्रिया	469
परंपरा-वियुक्त	470
मिली यह अमरता	472

कल	472	हम	481
इसलिए	473	···उपरांत वार्ता	483
फिर···	474	साथियों से	484
प्रश्न-दृष्टियाँ	475	अभी तो	485
प्यार : एक दशा	476	तीन छोटी कविताएँ	486
एक साद्धर्म्य	476	गौतम बुद्ध से	486
गली से राजपथ पर	477	सीमा की पुकार	489
ठंडे कोयले	478	कसाई के आँसू	490
एक मित्र के नाम	479	युग की रचना	491

बचपन

अपनी काव्य-कृतियों, 'एक कंठ विषपायी' जैसे बहुचर्चित काव्य-नाटक, अनेकानेक ऐतिहासिक समीक्षाओं, वैचारिक लेखों से अपने समय के साहित्यिक प्रवाह को सन्नाटे से हलचल में बदल डालने की सामर्थ्य दिखाने वाले कृती लेखक दुष्यन्त कुमार आज हिंदी भाषा और समाज के एक ऐसे ग़ज़ल-कवि के रूप में ख्यात हो चुके हैं, जिनने कई उर्दूदाँ लोगों के हिसाब से मरती हुई हिंदुस्तानी ग़ज़ल में नई जान-सी डाल दी। ठेठ साहित्य से बाहर का हिंदी समाज दुष्यन्त कुमार को न एक विशिष्ट नए कवि के रूप में जानता है, न ही ऐसे पठनीय असाधारण गद्य लेखक के रूप में, जिसने अनेकों उपन्यास लिखे, संस्मरण और व्यक्तिचित्र रचे या फिर रेडियो-रूपकों की रचना की। वह तो उन्हें अतिलोकप्रिय कृति 'साये में धूप' की ग़ज़लों के लिए जानता है। जब भी परिस्थितियाँ असूझ अनुभव होती हैं, वह 'साये में धूप' की इन पंक्तियों को कबीर और तुलसी के दोहे-चौपाइयों की तरह दुहराता है—'कैसे आकाश में सूराख़ नहीं हो सकता/एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो !'

इसमें भी आज कोई दो मत नहीं कि मध्य युग के संतों, मीर और ग़ालिब आदि महान् शायरों के बाद हिंदी समाज ने जिस किसी एक कवि/शायर में अपनी निजी और सामूहिक तबीयत की भरोसेमंद और प्रामाणिक आवाज़ महसूस की, वह यही था जिसका नाम दुष्यन्त कुमार था।

अपने किशोरकाल में कुरता-पाजामा और गांधी टोपी पहने यही कवि दुष्यन्त मौक़ा पाते ही अपना परिचय देते हुए यह कहने से चूकता नहीं था कि उसका जन्म वहीं हुआ है जहाँ से होकर मालिनी नदी बहती है, जिसके तट पर मुनि कण्व का आश्रम था और चक्रवर्ती सम्राट् दुष्यन्त ने जहाँ पहली बार अनिंद्य सुंदरी पुष्पगंधी तपोवनबाला शकुंतला को देखा और आसक्त हो न केवल अपनी सुध-बुध खो बैठे थे, बल्कि वहीं उससे गंधर्व विवाह की डोर में बँध भी गए थे। चूँकि कवि दुष्यन्त का अपना गाँव राजपुर नवादा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बिजनौर ज़िले के अंतर्गत इसी विलुप्त-सी नदी और आश्रम की पड़ोसी ग्रामीण बस्ती है, इसलिए उन्हें यह कहने और प्रचारित करने में ज़रा भी हिचक नहीं होती कि वे अभिनव दुष्यन्त हैं। इसका एक कारण यह भी था कि प्रकृति ने उन्हें आपद्मस्तक, बड़ी ख़ूबसूरती से ढाला था और पिता चौधरी भगवतसहाय और माँ

रामकिशोरी देवी का संयुक्त रूप-वैभव पाकर दुष्यन्त इस बात से और भी पुलकित रहा करते कि वे एक जन्मजात प्रतिभा हैं। उनकी इस प्रतिभा का स्वरूप अगर शास्त्रनिर्दिष्ट पदावली में कहें तो शुक्र विक्षोभी था। हथेली पर रखे पारे-सी प्रतिपल गतिमय और थरथराहटों से भरी। ज्ञानेंद्रियाँ जिसकी संवेदनतंत्रियाँ हों और कर्मेंद्रियाँ प्रकृति और लोक के रूपों और व्यापारों से पल-पल कर्मठता से जुड़ी हुईं।

अपनी माँ रामकिशोरी देवी का ज़िक्र दुष्यन्त ने दो-एक कविताओं में अन्य-अन्य प्रकार से किया है, जिससे पता चलता है कि वे एक आत्मविश्वासी और आत्ममर्यादी महिला थीं और अपने घर-परिवार का नियमन करना बख़ूबी जानती थीं। निस्संदेह उनके पास एक वत्सला माँ का गहरा अथाह मन भी था, पर अपने बाल-बच्चों की अराजकताओं का समर्थ प्रतिरोधी भी। परिवार और मित्रों द्वारा अकसर उनके और दुष्यन्त के बारे में बातचीत चलने पर यह निर्णायक तौर पर कहा जाता है कि दुष्यन्त अगर किसी से हार मानते थे तो सिर्फ़ अपनी माँ रामकिशोरी देवी से, जिन्हें वे बीबी कह संबोधित किया करते थे।

किशोर कवि दुष्यन्त जब अपनी पहली कहानी 'आघात' लिखने बैठते हैं तो पिता चौधरी भगवतसहाय का चित्र इस तरह खींचते हैं—'चौ० सहाय उस इलाक़े के सबसे बड़े रईसों में समझे जाते थे। समीप के गाँवों में वे बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। अपने असामियों (यानी रैयतों) से बड़ी प्रसन्नतापूर्वक बात करते थे। थे बड़े योग्य पुरुष, यही कारण था कि थाने में तथा कचहरियों में भी वे सम्मान के पात्र समझे जाते थे।' उनके पहनावों का वर्णन करते हुए दुष्यन्त लिखते हैं—'उनके पहनावे में और लखनऊ के नवाबों की वेशभूषा में कोई विशेष अंतर न था। वही दुकलिया टोपी, पाँवों में चुस्त पायजामा तथा एक ढीली-ढाली अचकन में वह नवाब वाजिद अली शाह के कुटुंबी प्रतीत होते थे। किंतु थे पूर्णतया आधुनिक रोशनी के मनुष्य।'

बालक दुष्यन्त का जन्म इसी सामंती ठाट-बाट वाले रईस परिवार में 27 सितंबर, 1931 को हुआ। कवि ने अपने जीवनकाल में प्रकाशित कृतियों पर जो जन्मतिथि विज्ञापित की है वह 1 सितंबर, 1933 की है। इसका एक बुनियादी और अनिवार्य कारण वे स्कूली दस्तावेज़ हैं जहाँ दुष्यन्त की जन्मतिथि 1 सितंबर, 1933 दर्ज है।

परिवार में बैठने पर आज भी राजो भाभी यानी श्रीमती राजेश्वरी त्यागी इस प्रसंग का उल्लेख कर बैठती हैं कि 27 सितंबर वाली तिथि को कवि दुष्यन्त 1 सितंबर करने के पक्ष में कैसा रोचक तर्क दिया करते थे। कहते कि 'महीने की 27वीं तारीख़ तक तो जेब ख़ाली हो जाती है। इसलिए जन्मदिन की खुशियाँ तो पहली तारीख़ को मिले हुए वेतन पर ही मनाई जा सकती हैं।' किंतु बात इतनी ही नहीं थी। हाईस्कूल के सर्टिफ़िकेट में अंकित जन्मतिथि को बदलना आसान नहीं था। सरकारी सेवा में रहने वालों के लिए तो और भी नहीं। दुष्यन्त अगर इस सरकारी दस्तावेज़ वाली जन्मतिथि के बदले जन्मकाल

कवि के पिता चौ० भगवत सहाय जी

किशोर कवि दुष्यन्त कुमार
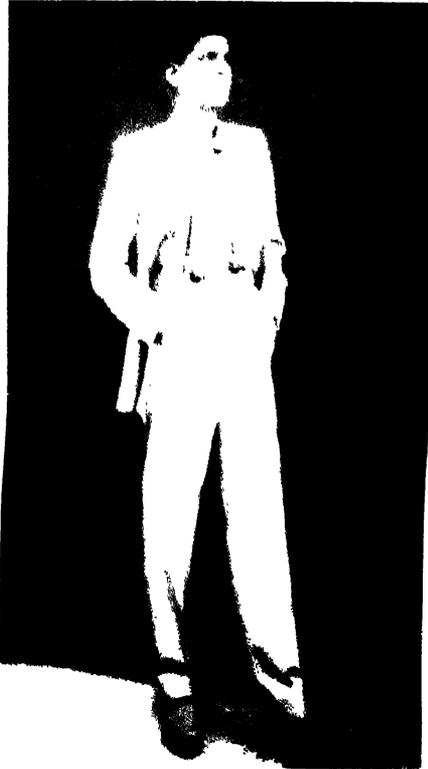
युवा लेखक दुष्यन्त कुमार

छोटे भाई मुन्नू जी (प्रेमनारायण सिंह त्यागी) के साथ

'साये में धूप' की ग़ज़लों के शायर दुष्यन्त कुमार

दुष्यन्त कुमार :
'एक और भंगिमा'

कवि-पत्नी एक अलग मूड में

कवि दुष्यन्त अपनी पत्नी राजेश्वरी त्यागी, बड़े बेटे आलोक, छोटे अप्पू और बेटी अर्चना के साथ

पत्नी राजेश्वरी त्यागी (राजो जी) के साथ

मनमोहन मदारिया, कथाकार अमृतलाल नागर के साथ। बाएँ से तीसरे दुष्यन्त कुमार

नवभारत टाइम्स परिवार के रमेशचन्द्र जैन के साथ

कवि श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के साथ

चंदौसी काल (1948-50) में अपने
लँगोटिया यार महावीर सिंह के साथ

'पुकार' संपादक रामकुमार राजपूत
के साथ (चंदौसी काल)

आकाशवाणी (भोपाल) के एक कवि-सम्मेलन में माइक पर

में बनी जन्मकुंडली वाली तिथि आधिकारिक तौर पर दर्ज़ करते तो केंद्रीय और प्रादेशिक सेवाओं में विवादपूर्ण स्थिति खड़ी हो जाती। किंतु वे इस ओर से बेख़बर थे और इस रहस्य को मन पर न लाते थे, ऐसा भी नहीं। असली जन्मतिथि दरसाने वाली जन्मपत्री को उन्होंने न केवल मुरादाबाद, दिल्ली और भोपाल तक सँभालकर रखा, वरन् उस आधार पर उन्होंने एक भरी-पूरी जन्मपत्रिका किन्हीं भा०स० जोशी ज्योतिर्विद् से दुबारा बनवाकर अपने पास रखी। संभवतः ये कोई मराठी सज्जन थे जिन्होंने नई जन्मपत्री में भी कवि की जन्मतिथि वही 27 सितंबर और जन्मवर्ष 1931 ही अंकित की है। कवि दुष्यन्त के शोधार्थियों और उनकी जीवनी में रुचि रखने वाले सहृदय जिज्ञासुओं के लिए यहाँ उनकी छायाप्रतियाँ दी जा रही हैं। मूल लग्न पत्रिका की पीठ पर चंदक शब्द फारसी लिपि में हैं, जो संभवतः दुष्यन्त के पिता चौ० भगवतसहाय के जान पड़ते हैं।

गाँव में बनी जन्मपत्री की छायाप्रति :

दुष्यन्त अपने पिता चौधरी भगवतसहाय को एक प्रकार से अपना काव्यगुरु भी मानते थे। नहटौर काल की—जब वे हाईस्कूल में थे और उन्हें अपने कवि होने का एहसास भी हो चला था—स्कूली कॉपी, जिसमें वे स्कूली नोट्स तो कम, अपने मन को कहीं ज़्यादा दर्ज़ किया करते थे, एक पन्ने पर लिखा कि 'मेरा जन्म 27 सितंबर, 1931 को हिमालय की उपत्यका में बसे गाँव राजपुर नवादा, ज़िला बिजनौर, उत्तर प्रदेश में हुआ। मेरे पिता उर्दू के अच्छे शायर हैं और शायरी मैंने उन्हीं से सीखी।'

जैसा कि दुष्यन्त के छोटे भाई मुन्नू जी अर्थात् प्रेम नारायण सिंह त्यागी, जिन्हें 'साये में धूप' की ग़ज़लें समर्पित करते हुए कवि ने लिखा—'अपने छोटे भाई मुन्नू जी के लिए'—बताते हैं कि पिताजी अकसर शायरी गुनगुनाया करते थे और खेती-किसानी, ज़मींदारी

और उससे जुड़े तरह-तरह के मुक़दमों के बावजूद पस्तहिम्मती उनके मिजाज़ में नहीं थी। 'ज़िंदगी ज़िंदादिली का नाम है, मुर्दादिल क्या ख़ाक जिया करते हैं।' इस टुकड़े को वे प्रायः जब-तब मंत्र की तरह दुहरा दिया करते थे। पहली पत्नी की मुत्यु, बाद में जवान बड़े बेटे प्रकाश नारायण की दुःखद मौत और दुष्यन्त से बड़े भाई महेंद्र नारायण त्यागी की रेल सिग्नल से टकराकर अकाल मृत्यु को चौधरी भगवतसहाय ने जिस तरह कलेजे पर पत्थर रखकर झेला था, वह शायद शायरी के ऐसे ही संदेशपरक मिसरों के बल पर जिसका गहरा संस्कार दुष्यन्त की चेतना पर हमेशा रहा और वे एक ऐसे लेखन की ओर निरंतर बढ़ते गए जो कलावादी से कहीं ज़्यादा संघर्षवादी, ध्येयवादी और मूल्यपरक था।

माँ रामकिशोरी देवी यों तो पढ़ी-लिखी नहीं थीं, पर अकसर बातचीत में पढ़े-लिखे लोगों के कान काटा करती थीं। बात को सीधे और सपाट ढंग से कहना उन्हें जैसे आता ही नहीं था। उनका प्रत्येक वाक्य आलंकारिक लपेट और भंगिमा लिए होता। इस कहने में अनुभवों का ताप जैसे एक निर्णायक भूमिका निभाता।

दुष्यन्त की शुरुआती शिक्षा इन्हीं दो 'गुरुओं' से शुरू हुई। गाँव, घर, खेत-खलिहान, ऋतुएँ और मौसमों का आना-जाना, उतार-चढ़ाव ही नहीं, एक भरे-पूरे ग्रामीण लोकजीवन के शादी-विवाह, तीज-त्योहार, चोरी-डकैती और थाना-कचहरी का अनुभव भी कवि को इसी बचपन के विश्वविद्यालय से होने लगा था। ज़मींदारी का टाट-बाट और रईसी का वैभव प्रदर्शन तो बालक दुष्यन्त ने अपने शैशव और बचपन में ही देख लिया था।

दुष्यन्त की माँ रामकिशोरी देवी चौधरी साहब की दूसरी पत्नी थीं, जो पहली पत्नी विष्णुदेई के भरी जवानी में मर जाने के बाद ब्याहकर आई थीं।

चौधरी साहब का पहला विवाह मुरादाबाद ज़िले के फौजदारी मामलों के मशहूर वकील चौधरी रामप्रसाद की छोटी बेटी विष्णुदेई से हुआ था। वकील साहब की जायदाद काफ़ी बड़ी थी और वारिस के नाम पर सिर्फ़ दो बेटियाँ थीं। बड़ी बेटी, जिन्हें घर और जान-पहचान के सब लोग 'भेनाजी' के नाम से संबोधित करते, विवाह के बाद एक बार ससुराल जाकर मायके जो लौटीं तो दुबारा कभी उस ओर मुँह ही नहीं किया। मायके आकर उन्होंने अपना पूरा ध्यान पिताजी की समृद्ध गृहस्थी में लगाया और ज़रूरत से ज़्यादा पूजा-पाठ करती रहीं। स्वभाव से बेहद सख़्त भेना जी अनुशासन के मामलों में भी कठोर थीं। शरीर से भरी-पूरी और सफ़ाईपसंद भेना जी के दैनिक व्यवहारों में एक मालिकाना अंदाज़ और नियंत्रण था।

चौधरी भगवतसहाय कुछ दिनों तक इसी वातावरण में अपनी पत्नी विष्णुदेई के साथ रहते रहे। वकील साहब को भी अपनी छोटी बेटी विष्णुदेई से काफ़ी लगाव था। पर भगवत सहाय ने अपनी सूझबूझ और दुनियादारी से यह तो भाँप ही लिया था कि ससुराल की जायदाद उनकी होने वाली नहीं है, इसलिए उन्होंने अपनी ज़मींदारी अलग बना ली थी।

पहली पत्नी विष्णुदेई से चौ० भगवत सहाय की कुल तीन संतानें हुईं, जिनमें सबसे बड़े बेटे का नाम प्रकाशनारायण था। वकील साहब ने बेटे के अभाव में अपनी जायदाद का उत्तराधिकारी अपने नाती इन्हीं प्रकाशनारायण को बनाया। इसी बीच प्रसूत रोग में ही विष्णुदेई गुज़र गईं। बेटा प्रकाशनारायण तब बहुत ही छोटा था। इसे महसूस कर वकील साहब ने ही विधुर हो चुके दामाद भगवतसहाय को दूसरे विवाह के लिए प्रेरित किया और मुरादाबाद शहर के ही पास के एक गाँव धौरारा के टीकाराम त्यागी की छोटी बेटी रामकिशोरी देवी से संपन्न करा दिया। दुष्यन्त इन्हीं रामकिशोरी देवी की दूसरी संतान थे।

कवि दुष्यन्त की पढ़ाई-लिखाई का औपचारिक सिलसिला गाँव राजपुर नवादा से शुरू होकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय तक फैला हुआ है। उनके बाल-मन पर अपने हिंदी अध्यापक पं० यज्ञदत्त शर्मा की गहरी छाप थी, जिनसे उन्हें हिंदी भाषा की व्यंजनात्मकता और संगीतपरकता का बोध प्राप्त हुआ। भाषा लिखी और बोली कैसे जाती है, सटीक शब्दों का प्रयोग कैसे किया जाता है, इसकी प्रारंभिक शिक्षा उन्हें प्राइमरी पास करते-करते मिल चुकी थी और उनका कवि-मन इस भाषा में प्रकट होने को अनजाने तौर पर आकुल-व्याकुल होने लगा था। तथापि यह कह सकना कठिन है कि प्राइमरी काल में दुष्यन्त ने कोई कविता या कहानी लिखी हो। यह ज़रूर कहा जा सकता है कि अन्य विषयों के अलावा उनका अनुराग भाषा के प्रति कहीं ज़्यादा हो चला था।

दस साल की उम्र में प्राइमरी का इम्तहान देकर वे नजीबाबाद, मुज़फ़्फ़रनगर आदि कई जगहों पर बड़े भाई महेंद्र के साथ पढ़ने के लिए भेजे जाते रहे। स्कूल के इन्हीं प्रारंभिक दिनों में एक घटना ऐसी भी हुई जो कवि के अन्याय-विरोधी और प्रतिकारी स्वभाव की पहचान कराती है। कक्षा में एक अध्यापक के यह कहने पर कि फैटर के भाई फैटर काम करके क्यों नहीं ले आए, दुष्यन्त शाम को लौट बड़े भाई महेंद्र से इस ज़िद पर अड़ गए कि अभी चलो और उस मास्टर को मारो। उसने फैटर क्यों कहा ? महेंद्र के बार-बार समझाने पर दुष्यन्त का गुस्सा ठंडा तो हुआ, फिर भी कम नहीं हुआ।

दुष्यन्त के बड़े भाई महेंद्र भी दिखने में जितने ख़ूबसूरत थे, व्यवहार में उतने ही शालीन और स्वभाव में मृदु। पढ़ने-लिखने के मामले में तो वे अव्वल थे ही और स्कूल की वाद-विवाद और भाषण-प्रतियोगिताओं में जिला-स्तर पर प्रतिनिधित्व किया करते थे। ऐसी ही एक प्रतियोगिता सहारनपुर में हुई थी जिसमें वे प्रथम पुरस्कार लेकर विजयोल्लास में मुज़फ़्फ़रनगर लौट रहे थे कि अचानक प्लेटफ़ार्म से पहले के सिग्नल से टकराकर अकाल मौत के शिकार हो गए। उस वक़्त महेंद्रनारायण की उम्र सोलह वर्ष की थी। परिवार पर तो जैसे वज्रपात ही हो गया। बड़े भाई की इस मौत का किशोर दुष्यन्त पर भयावह असर पड़ा और वे अपने को सँभालने और असूझ अकेलेपन को दूर करने के लिए 'रामचरितमानस' और 'महाभारत' का पाठ करने लग गए।

सौतेले बड़े भाई प्रकाशनारायण की मौत भी भरी जवानी में हुई। मुरादाबाद की जायदाद के वारिस प्रकाशनारायण अपने पिता के अंकुश से दूर और आज़ाद रहकर जिस तरह से सुरा और सुंदरी में डूबने लगे थे, उससे उनकी सेहत रोज़-रोज़ गिरती चली गई। पिता भगवतसहाय के समझाने-बुझाने पर भी वे राह पर नहीं आए और अस्पताल में उनकी दर्दनाक मौत हुई।

आत्मीयजनों की इन मौतों का असर दुष्यन्त की चेतना पर कितना अमिट और गहरा पड़ा होगा, इसका प्रमाण उनका वह लेखन है जो सीधे-सीधे इन दो घटनाओं और चरित्रों से जुड़ा हुआ है। बड़े भाई महेंद्रनारायण की अकाल मौत वाली घटना पर दुष्यन्त ने जो कहानी 'आघात' शीर्षक से लिखी है और जिसका ज़िक्र जीवनी की शुरुआत में ही किया गया है, यद्यपि वह अधूरी-सी है, पर वह कहानी तो कम, पीड़ा का सच्चा इतिहास कहीं ज़्यादा है। कहानी के जितने भी पात्र हैं वे सब कल्पित न होकर अपने नामों के साथ वास्तविक हैं और घटनाएँ और जगहें भी कल्पित नहीं हैं। बड़े भाई महेंद्र की दर्दनाक आकस्मिक मौत का चित्र कहानी में आँखों-देखे हादसे के रूप में अंकित किया गया है—'मुज़फ़्फ़रनगर का स्टेशन समीप आया। महेंद्र का हृदय बाँसों उछलने लगा। उसने बाहर झाँककर देखा, स्टेशन पर विद्यार्थियों की भीड़। उसका हृदय आनंदातिरेक से भर उठा। अचानक अकाल काल का झोंका आया। सिग्नल से माथे की टक्कर लगी और वह पृथ्वी पर गिरकर छटपटाने लगा। ज़ंजीर खिंची, किंतु गाड़ी स्टेशन पर ही जाकर रुकी। जब तक कि विद्यार्थी वहाँ पहुँचे, उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे।'

कहानी का आख़िरी वाक्य जो लिखा मिलता है, वह है—'चौ० साहब की आशाओं पर निराशा की चादर पड़ गई।'

दुष्यन्त ने यह कहानी किस कक्षा में लिखी होगी, यह ठीक-ठीक कहना तो मुश्किल है, किंतु इतना तो सुनिश्चित है कि यह उनकी सबसे पहली कहानी है, जो सच्ची घटना पर आधारित है और उनकी निजी ज़िंदगी का अविछिन्न और अविस्मरणीय खंड है।

कहानी पेंसिल से लिखी गई है और हस्तलिपि बहुत सुघड़ नहीं है, जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दुष्यन्त ने इसे सातवीं-आठवीं या फिर नौवीं कक्षा में लिखा होगा।

बड़े भाई महेंद्र की इस दुःखद मृत्यु के बाद मुज़फ़्फ़रनगर अकेले रहकर पढ़ना असंभव था। सारा परिवार मानसिक [illegible] था और दूसरे बेटे दुष्यन्त—जो स्वभाव से चंचल, कुछ-कुछ आक्रामक और होनहार तो है [illegible] को किसी भी स्थिति में उतनी दूर नहीं रखना चाहते थे। परिणामतः मुज़फ़्फ़रनगर छो[illegible]ना पड़ा और दुष्यन्त नहटौर के एस०एन०एस०एम० हाईस्कूल में आकर [illegible] लगे।

कैशोर्य

नहटौर को कवि दुष्यन्त का अंकुरण काल कहा जा सकता है। एस०एन०एस०एम० हाईस्कूल की नौवीं कक्षा के 'सी' सेक्शन के छात्र दुष्यन्त नारायण सिंह त्यागी अब 'विकल' उपमान के कवि और कथाकार भी थे। ऐसा लगता है कि उनका लेखन इससे पूर्व सातवीं-आठवीं कक्षा में ही शुरू हो चुका था। कवि की उम्र तब चौदह-पंद्रह की रही होगी। तारीख़ों के हिसाब से कहना चाहें तो बीसवीं सदी के पाँचवें दशक के पैंतालीसवें या छियालीसवें साल में। कवि ने चूँकि अपनी इन प्रारंभिक रचनाओं में कोई तिथि अंकित नहीं की है, इसलिए अनुमान के सहारे ही यह कहना पड़ेगा कि तब वह सातवीं-आठवीं कक्षा के विद्यार्थी रहे होंगे।

यह तथ्य है कि किशोर कवि इन दिनों दुष्यन्त नारायण, दुष्यन्त त्यागी और रचनाओं के भीतर 'विकल' उपनाम कुछ-कुछ इस तरह दर्ज़ करता चल रहा है जैसे भक्तिकाल के कवि अपने पदों या फिर उर्दू ग़ज़लों के शायर अपने शे'रों में तख़ल्लुसों का प्रयोग करते हैं। फ़र्क़ इतना ज़रूर है कि गीत-शैली की इन रचनाओं में कवि-नाम का प्रयोग अंतिम पंक्तियों में दि. ग न जाकर सुविधानुसार बीच-बीच में किया गया है।

'विकल' उपनाम औपचारिक तौर पर यत्नपूर्वक चुना गया हो, ऐसा भी नहीं कह सकते। वास्तविकता तो यह थी कि किशोर कवि दुष्यन्त की मानसिक स्थितियाँ उन दिनों उसकी विकलता का ही पर्याय थीं और इनसे आमना-सामना करने के क्रम में कवि ने यह अनुभव किया कि उसका अंतरंग परिचय इसी शब्द से संभव है। अपनी एक प्रारंभिक कविता, जिसमें प्रेमिका के बदले हुए रुख़ का संकेत है उसकी मुखपंक्ति है—'तुमसे न मुझे यह आशा थी' दुष्यन्त आगे एक छंद में लिखते हैं—'ढक लेती अपना सुंदर मुख/ मैं 'विकल' व्यथित होकर ही तब/गीतों में लिखता अपना दुःख।' कविता में कुछ जीवन तथ्य भी दस्तावेज़ के रूप में वर्णित हैं—'जब आठवीं श्रेणी में थे हम/और करती तुम जिज्ञासा थी।'

इसी गीत में कवि अपने जीवन की दो प्रमुख चिंताओं का उल्लेख भी करता है—'जीवन की चिंता दो विशेष/एक प्रेम तेरा था मुझको घेरे/दूजा था मम जीवन का दुःख।' प्रेमिका की प्रतिकूलता के दुःख के अलावा दुःख क्या हैं, जब इस पर विचार करते हैं तो दुष्यन्त के पारिवारिक जीवन के वे भयानक हादसे याद आते हैं जिन्होंने उन्हें भीतरी तौर

पर किशोर काल में ही लगभग उजाड़ डाला था। बड़े भाई महेंद्र की मौत का सदमा तो अपनी जगह था, सौतेले किंतु सबसे बड़े भाई प्रकाशनारायण की मौत को भी दुष्यन्त कभी भूल नहीं पाए। 'आँगन में एक वृक्ष' जैसा उपन्यास लिखकर तो उन्होंने मार्मिक सर्जनात्मक श्रद्धांजलि दी ही है, 'साये में धूप' का यह शे'र भी उनकी छिपी हुई पीड़ाओं और ख़ामोशी से भरी सिसकियों की कथा कहता है–

एक बाज़ू उखड़ गया जबसे
और ज़्यादा वज़न उठाता हूँ

भारत-विभाजन, खंडित आज़ादी और ध्वस्त हो चुके गांधी वाले रामराज्य के सपनों की चुभन, कसक और पीड़ा भी इन गीतों में झाँकती है–'है बिलख रहा जन-जन का मन/ कैसा स्वतंत्र स्वाधीन देश।' बापू की हत्या पर लिखी इन पंक्तियों के अलावा 'महात्मा जी के प्रति' शीर्षक कविता में उसने उस शोक और उदासी का चित्र खींचा है जो गाँधी की हत्या के बाद समूचे देश और विश्व में पाले की तरह छाकर फैल गया था। किशोर कवि दुष्यन्त मानते हैं कि 'युग का पथ-प्रदर्शक' खो गया और 'मानवता का अंत' हो चुका है। महात्मा गांधी का व्यक्तित्वांकन भी कविता में है–

अस्थि का कंकाल फिर भी शक्तिमय
वृद्ध एवम् शुष्क फिर भी ज्योतिमय
नेत्र थे कुछ क्षीण फिर भी अग्निमय
था अरे कृशकंठ फिर भी ओजमय

नहटौर काल की इन रचनाओं को देखते हुए यह कहना ज़रूरी हो जाता है कि दुष्यन्त के कवि की निगाह चतुर्मुखी है। वह केवल प्रेमिका (ओं) के रूपाकर्षण और प्रणय-पाश में बँधी हुई निगाह नहीं है। यह ज़रूर कहा जा सकता है कि इन दिनों लिखे जाते गीतों में प्रधानता इन्हीं बातों की है। वे यहाँ प्रणय-निवेदन की विकलताओं से भरे हुए हैं, किंतु आसपास की जीती-जागती सच्चाइयों, जीवन में आते-जाते अनुभवों और उनसे पैदा होने वाले विचारों और मानसिक प्रतिक्रियाओं को आँकना भी वे भूलते नहीं हैं। इन्हीं दिनों की लिखी उनकी और एक कविता है–'रोने में भी बड़ा मज़ा है/अरे कभी तो रोकर देखो' जैसी पंक्तियों से गुज़रते हुए दुष्यन्त के पिता चौधरी भगवतसहाय द्वारा अकसर दुहराई जाती ये पंक्तियाँ मन में गूँज उठती हैं–'किस-किस को याद कीजिए, किस-किस को रोइए/आराम बड़ी चीज़ है, मुँह ढक के सोइए।'

कविता अपनी विषय-वस्तु में अन्य कविताओं से भिन्न है। इसमें एक गृहस्थ घर की आर्थिक तंगियों का ज़िक्र है। पारिवारिक जीवन-संदर्भों की विडंबना और विद्रूप को पति-पत्नी के झगड़ों से रची कहानी के मार्फ़त कहती कविता विस्तार से जीवन के अनेक

बिंबों को रचती हुई व्यंग्य-विद्रूप और हास्य में परिणत होती है। इन्हीं दिनों लिखी उनकी कुछ अन्य रचनाओं से पता लगता है—जिनमें कुछेक कच्ची कहानियाँ भी हैं और सामाजिक जीवन के विसंगतिपूर्ण यथार्थ की कविताएँ भी—कि कवि एक ओर निजी संवेगों से आकुल-व्याकुल है तो दूसरी ओर लोकजीवन के प्रति अत्यंत सचेत और संवेदनशील। इससे यह अनुमान करना मुश्किल नहीं लगता कि कवि को उन दिनों चल रहे काव्यांदोलनों और उनसे बहकर आने वाली हवाओं की सूचना है। किसानों, मज़दूरों, राजनेताओं की बदलती चाल-ढाल और रंग पर उन दिनों लिखी कविताओं में उसकी जनपक्षधरता भी स्पष्ट है और सत्तावादी राजनीति के प्रति तीखा आक्रोश और आक्रामक रवैया भी। भले ही इन कविताओं में एक मँजे हुए कवि की उत्कृष्ट अभिव्यंजना न हो, पर यथार्थ को पकड़ने, उसकी विभिन्न गतियों और भंगिमाओं को महसूस करने की कला तो कवि को आती है।

मुज़फ़्फ़रनगर के दिनों से ही छात्र दुष्यन्त हिंदी के जिन दो वरिष्ठ कवियों के प्रति आकृष्ट हो चुके थे उनमें से पहले सुमित्रानंदन पंत तो दूसरी महादेवी वर्मा थीं। छायावाद के प्रवर्तक कवि प्रसाद और विरल रोमांटिक स्वच्छंद कवि निराला के गुरु-गंभीर, दार्शनिक और सांस्कृतिक संवेदनों के विपरीत 'वियोगी होगा पहला कवि/आह से उपजा होगा गान' वाले सुकुमार कवि पंत उन्हें कहीं ज़्यादा आकृष्ट करते थे। महादेवी के गीतों में उन्हें जहाँ-तहाँ अपने व्याकुल और विरही मन की छायाएँ मिल जाती थीं। महादेवी का करुण रुदन भी उन्हें कुछ-कुछ अपना-सा लगता था। दुष्यन्त के प्रारंभिक गीतों के छंदों और लयों में इन कवियों की अभिव्यंजनाओं की अनुगूँजें मिलती हैं। इसका ठोस प्रमाण तो तब मिलता है जब कवि दुष्यन्त चंदौसी काल में अपनी कविताओं की पहली हस्तलिखित पांडुलिपि बनाते हैं और अपने द्रोणाचार्यरूपी काव्य-गुरु सुमित्रानंदन पंत को खुद एकलव्य बनकर समर्पित करते हैं।

नहटौर का विद्यार्थीकाल कवि के जीवन का एक ऐसा अविस्मरणीय अध्याय बनकर आता है, जो न केवल उसकी पढ़ाई-लिखाई, वरन् उसकी कविता और सोच को भी झकझोरकर रख देता है। इसी काल में वे एक ऐसे गहरे कैशोर्य प्रेम में डूबते हैं जिसकी चर्चा और गूँज रहीम के दोहे के कथनानुसार सारे जहान में यानी घर-परिवार, नाते-रिश्तों तक फैल जाती है। कवि दुष्यन्त अपनी ही जाति की हेमलता त्यागी नाम की सहपाठिनी के रूपपाश में बँधते-बँधते उसके मोहपाश में बँध जाते हैं और बाद में लिखी एकाध कहानियों से यह पता चलता है कि यह प्रेम-कहानी इतनी चर्चित हो चुकी थी कि कस्बे का कोई भी आदमी इससे अपरिचित न था। मजबूर होकर उसके माँ-बाप ने दुष्यन्त के सामने विवाह करने का प्रस्ताव रख दिया और 'अंधा क्या चाहे दो आँखें' की तरह दुष्यन्त ने भी इसे मंज़ूर कर लिया।

पर कहानी समापन पर पहुँचने से पहले ही बाधित हो उठी। चौधरी भगवतसहाय ने बेटे का विवाह अन्यत्र तय कर दिया था और दुष्यन्त जब नहटौर से घर लौटे तो माँ से यह सूचना पाकर कि शादी पक्की की जा चुकी है, इस बात पर अड़ गए कि विवाह तो वे अपनी प्रेमिका हेमलता से ही करेंगे। घर में एक तनावपूर्ण वातावरण पैदा हो गया। दुष्यन्त अपनी ज़िद पर अड़े हुए थे कि शादी तो वे उसी से करेंगे जिससे प्रेम करते हैं और पिता भगवतसहाय बेटे को समझाइश देते हुए कह रहे थे—'बेटा ! मोहब्बत हमने भी की है। इश्क हमने भी लड़ाया है। लेकिन तुम्हारी तरह दीवाने बनकर हर उस लड़की से शादी करते नहीं फिरे।'

पर दुष्यन्त केवल एक रूपलोभी प्रणयी-भर नहीं, कवि भी थे और भावनाओं की गहराइयाँ और उनका मूल्य समझते थे। उन्हें पिता की यह समझाइश व्यावहारिक लगकर भी दो व्यक्तियों के बीच आकार लेती पवित्र भावनाओं के प्रति बेहद निष्ठुर लग रही थी। व्यावहारिक जीवन के धरातल पर सफल होने के लिए वे इस निष्ठुरता के लिए तैयार नहीं थे। सच किंतु यह भी है कि दुष्यन्त की ज़िद हार गई। तय हुआ विवाह का प्रसंग भी कुछेक दिनों के लिए टल गया।

दुष्यन्त की माँ रामकिशोरी देवी ने भी इससे पहले एक और लड़की अपने बेटे के लिए देखी थी और अपनी ओर से लगभग तय-सा कर लिया था। इस प्रस्ताव पर भी वे पहले तो तरह-तरह के बहाने बनाते रहे, पर बाद में तो यह भेद खुल ही गया कि वे किसी और लड़की से प्रेम करते हैं और शादी भी उसी से करने का मन बना लिया है।

जीत तो अंततः पिता के निर्णय की ही हुई। दुष्यन्त थके-हारे मन से हेमलता को जो ख़त लिखते हैं, पता नहीं वह भेजा भी जा सका या नहीं, पर उसकी उपस्थिति नहटौर काल में प्रयुक्त की गई दसवीं कक्षा की कॉपी के एक पन्ने पर अभी भी है—'मेरी रानी, मुझे तुम्हें यह सूचित करते अत्यंत दुःख हो रहा है कि मेरे पिताजी ने मेरा संबंध एक और रूपवती लड़की के साथ निश्चित कर दिया है। यद्यपि मेरी रुचि नहीं है पर माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध चलना भी तो''' ।'

पत्र अधूरा है और नीचे की ख़ाली जगह पर बड़े-बड़े अक्षरों में गजराज सिंह और हेमलता त्यागी के नाम लिखे गए हैं। ख़त संभवतः 1949 के सितंबर-अक्तूबर का हो। जिस पन्ने पर यह पत्र लिखा गया उसके आगे के दोनों पन्नों में से एक पर प्रेमी कवि की व्याकुलता से संबंधित एक टूटा-बिखरा-सा गीत है और सामने के पृष्ट पर गद्य में जो कुछ अस्त-व्यस्त शैली में लिखा गया है, उसकी दो-एक पंक्तियाँ इस तरह की हैं—'क्यों तैंने जीवन में हलचल मचाई, क्यों मुझे निराशा के सागर में डाल दिया। अब मैं तो यातनाएँ सह रहा हूँ।' इन दोनों पंक्तियों के बीच 'हेमलता देवी' के नाम के अक्षरों को काफ़ी बड़ा और मोटा करके लिखा गया है।

कवि के जीवन में संभव है और भी लोग आए हों, पर इस भाव-संबंध ने उसे दीवानगी तक पहुँचा दिया है। उन दिनों लिखी गई लगभग सारी कविताओं की मूल प्रेरणा यही हेमलता है, जिसके विरह ने कवि को झकझोरकर रख दिया और वह व्याकुलता का एक उफनता हुआ सागर बन गया है।

संभवतः यही वह समय है जब कवि ने निजी तौर पर इस विकलता से पैदा हुई मानसिक तबाही का अनुभव कर अपना कविनाम 'विकल' के बदले 'परदेशी' रख लिया हो। नौवीं कक्षा यानी '46-47 तक तो वह प्रायः गद्य-पद्य दोनों ही प्रकार की रचनाओं में 'विकल' उपनाम का उपयोग करता है किंतु दसवीं में आते-आते वह इसे छोड़ भी देता है। नौवीं-दसवीं का जो लंबा लाइनदार बहीखातेनुमा रजिस्टर मिलता है उस पर दुष्यन्त नारायण सिंह त्यागी 'विकल' कक्षा-10 के ठीक नीचे 'साहित्य प्रेमी रजिस्टर' वाक्य-खंड लिखा मिलता है। इससे यह सूचना तो मिलती ही है कि दसवीं कक्षा में आते-आते तक दुष्यन्त 'विकल' उपनाम का प्रयोग करते रहे हैं। मिडिल और हाईस्कूल की कॉपियों को उलटने-पुलटने पर यह भी ज्ञात होता है कि कवि अंग्रेज़ी और संस्कृत भाषा में भी प्रवीणता अर्जित करने के अभ्यास में जुटा हुआ है। अनुवादों में उसका मन बहुत लगता है और संस्कृत और अंग्रेज़ी भाषा से हिंदी में अनुवाद करने में उसे काफ़ी रस आता है।

यह भी सही है कि रजिस्टर पर 'साहित्य प्रेमी' लिख कवि दुष्यन्त ने यह जता दिया है कि वे केवल हेमलता त्यागी के दीवाने नहीं हैं, साहित्य के प्रति भी धीरे-धीरे उनका प्रेम गहरा रहा है और वे अपनी पहचान इसी रूप में क़ायम करना चाहते हैं।

इस रजिस्टर की एक विलक्षण बात यह है कि जितनी भी कविताएँ इसमें कच्चे-पक्के रूप में दर्ज़ हैं उनमें से किसी एक के भी नीचे 'विकल' नाम नहीं है। कविताओं की समाप्ति पर कवि ने बग़ैर तारीख़ों के जो हस्ताक्षर किए हैं, वे सब डी०के० परदेशी (कहीं-कहीं 'परदेसी') नाम से हैं और सब के सब रोमन लिपि में हैं। अधिकांश रचनाएँ नीली-हरी या फिर नीली-काली स्याही से और कुछेक ऐसी भी हैं जिन्हें पेंसिल से लिखा गया है।

रजिस्टर तो यह 'जनरल इंग्लिश, कम्पोज़ीशन, ट्रांसलेशन और स्टोरीज़ एंड प्रोज़' का है किंतु अंग्रेज़ी गद्य के दो-चार निबंधों को छोड़कर शेष सारा का सारा कवि के काव्याभास से भरा हुआ है। इसकी कविताओं की विषय-वस्तु केवल भावावेगी प्रेम नहीं, देश और समाज की परिस्थितियों की चिंताओं का पता देती है। ऐसी ही एक कविता, जो अन्य कविताओं की तुलना में अपेक्षाकृत लंबी है और कवि ने जिसके नीचे 'अपूर्ण' लिखकर, अंग्रेज़ी में 'डी०के० परदेशी' दर्ज़ कर दिया है, की कुछ पंक्तियाँ इस तरह हैं—
'तब न यों मज़दूर पैसे के लिए मजबूर दिखता/तब न रोटी की फ़िकर में/इस तरह मज़दूर बिकता।'

इन सामाजिक अत्याचारों और विषमताओं के अलावा कवि उन क्रूर सामाजिक बंधनों और वर्जनाओं के टूट जाने की आकांक्षा वाली कविताएँ भी लिखता है जिनके चलते दो भावुक मन आपस में मिल नहीं पाते। कवि मत गाओ गाने गीले/कवि मत देखो स्वर्ग सजीले/निज साहस उद्योग लगन से भारत स्वर्ग समान बना दो/कवि तुम ऐसा गान सुना दो।' जैसी काव्य-पंक्तियों को पढ़ते हुए यह कहना आसान हो उठता है कि कल्पनाओं के आकाश में आँख मूँद उड़ने वाले मन के दूसरे छोर पर सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की समस्याएँ और उनका यथार्थ भी उसकी काव्य-चिंताओं का एक अनिवार्य हिस्सा हो चला है।

ये सारी कविताएँ दसवीं के रजिस्टर में लिखी तो गई हैं किंतु निश्चयपूर्वक कहना मुश्किल है कि सबकी सब दसवीं कक्षा की ही हैं। संभव है, इस रजिस्टर का उपयोग चंदौसी काल के विद्यार्थी जीवन में किया जा रहा हो।

रजिस्टर में जो निबंध अंग्रेज़ी में लिखा हुआ है, उसका शीर्षक है—'हाउ डू यू सेलिब्रेट योर इंडेपेंडेंस डे ?' निबंध स्मृतिपरक है और 15 अगस्त, 1947 के दिन के उल्लासपूर्ण आयोजनों का इतिहास प्रस्तुत करता है, किंतु आख़िर के कुछ वाक्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका सार यह कि भारत अब एक स्वाधीन राष्ट्र है। हम भारतवासी दुनिया के सामने अपना मस्तक ऊँचा कर गौरव और स्वाभिमान के साथ खड़े हो सकते हैं। प्रत्येक नागरिक को विकास करने की समान सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी। भारत के लोग अपनी भूख, ग़रीबी, अज्ञानता और अन्य सामाजिक अभिशापों से लड़कर मुक्ति पा सकेंगे। लेख का अंतिम वाक्य अत्यंत उल्लेखनीय है जिसमें कवि लिखता है कि 'लेकिन यह बेहद शर्मनाक है कि हमीं में से एक ने राष्ट्रपिता की हत्या कर दी।' इस आख़िरी वाक्य से इस सूचना की पुष्टि भी होती है कि लेख जनवरी, 1948 में बापू की हत्या के बाद का है।

युगपुरुष गांधी ने किशोर कवि दुष्यन्त को कितना आंदोलित कर रखा है कि जवाहरलाल नेहरू पर अंग्रेज़ी में लेख लिखते हुए वे गांधी को याद करना भूलते नहीं और उनके बारे में अपनी राय दर्ज़ करते हुए वे घोषणा-सी करते हैं कि महामानव गांधी अपने समय के सबसे बड़े विश्वपुरुष थे।

नौवीं-दसवीं कक्षा में रहते हुए कवि की यह लोकचेतना और राजनीतिक दृष्टि आगे की कविताओं में ही नहीं उसके समूचे लेखन में विकसित और प्रौढ़ होती चली गई है। राष्ट्रीय आंदोलन को उसने अपनी किशोर आँखों से देखा था। पिता चौ० भगवतसहाय भी गांधी के क्रियाकलापों से अत्यंत प्रभावित रहे हैं। किशोर काल में गांधी पर लिखी उसकी अनेक कविताएँ यह साबित करती हैं कि गांधी को वह भारत के लोगों का राष्ट्रपिता और भाग्यविधाता ही नहीं, देवदूत भी समझता है और उसकी यह धारणा निरंतर

बलवती होती गई। शायद तभी से अन्याय का प्रतिरोध और रामराज्य का सपना उसके कवि-जीवन का बुनियादी धर्म बन गया।

नहटौर एक प्रकार से कवि दुष्यन्त का बीज-वपन या अंकुरण काल कहा जा सकता है। यहीं उनकी भेंट बाद में प्रसिद्ध हुए व्यंग्य-लेखक और कवि रवींद्रनाथ त्यागी से हुई, जो उनके साथ ही हाईस्कूल कर रहे थे। 'सारिका' के दुष्यन्त स्मृति अंक 76 में रवींद्रनाथ त्यागी लिखते हैं—'नहटौर और उसके पहले के साथी भी दुष्यन्त को प्यार से 'दुश्शी' कह पुकारते थे।' दुष्यन्त नारायण सिंह त्यागी कैसे दुष्यन्त कुमार त्यागी हुए, इसकी कथा याद करते हुए रवींद्रनाथ त्यागी लिखते हैं—'उन दिनों उसका पूरा नाम था दुष्यन्त नारायण सिंह त्यागी और मेरा था रवींद्रनाथ। हाईस्कूल का फ़ार्म भरते समय मैंने उससे कहा कि अपने नाम से 'नारायण' निकाल दो। दुष्यन्त कुमार ज़्यादा आकर्षक नाम रहेगा। वह मान गया, मगर एक शर्त पर और वह यह कि मैं अपने नाम के साथ 'त्यागी' जोड़ लूँ। इसके बाद मैं हो गया रवींद्रनाथ त्यागी और वह हो गया दुष्यन्त कुमार।'

नहटौर काल में ही दुष्यन्त अपनी कविताओं के लिए आसपास के छात्र-साथियों और मित्रों के लिए सुपरिचित हो चुके थे और उनका गाना और गुनगुनाना भी जगज़ाहिर हो चुका था। दुष्यन्त गीत और कविता लिखते हैं, गाकर लोगों को रिझा लेते हैं, अब यह कोई छिपी बात नहीं रह चुकी थी।

इसलिए जब उनके चंदौसी काल के सबसे गहरे और अंतरंग मित्र महावीर सिंह यह लिखते हैं कि चंदौसी आते ही दुष्यन्त की शोहरत अपनी तमाम विलक्षणताओं के साथ कवि-रूप में भी फैल चुकी थी तो आश्चर्य नहीं होता।

चंदौसी काल

नहटौर अगर कवि का अंकुरण काल था तो चंदौसी उसका विकसन काल। चंदौसी पहुँचकर दुष्यन्त आत्मविश्वास से भर उठे थे। सच कहा जाए तो दुष्यन्त दुष्यन्त हो चुके थे। महावीर सिंह जैसे मित्रों और रामावतार त्यागी जैसे उन दिनों के वरिष्ठ सहपाठियों ने जो हवाले दिए हैं, वे कवि दुष्यन्त की बहुरंगी तबीयत, ज़िंदादिली और उनकी साहित्यिक दीवानगी को समझने में मदद करते हैं।

कवि रामावतार त्यागी, जो दुष्यन्त से उम्र में सात-आठ साल बड़े थे, अपने एक अप्रकाशित लेख में लिखते हैं—'दुष्यन्त में विश्वविजेताओं का रक्त था और यही वजह है कि दुष्यन्त की चाल में, तेवर में, मुस्कराहट में, आचरण में, बातचीत में कहीं भी पराजित आदमी की झलक नहीं थी। मैं जानता हूँ, वह बहुत बार पराजित हुआ था लेकिन उसने कभी पराजय को स्वीकार नहीं किया।'

अपनी पहली नाटकीय समक्षता का उल्लेख करते हुए कवि रामावतार त्यागी लिखते हैं—'एस०एम० कॉलेज, चंदौसी का टी०आर०के० हॉस्टल। सन् 1944 या '45 (यह तारीख़ विस्मृति के चलते लिख दी गई है जबकि होना इसे 1948-49 चाहिए)—दिन रविवार, समय दो बजे दोपहर। मैं मेस से खाना खाकर लौट रहा हूँ कि बगबर के एक कमरे से गीत की गुनगुनाहट मेरे पाँव रोक लेती है। भीतर जाता हूँ तो दुष्यन्त आँखें बंद किए गीत सुना रहे हैं। मैं भीग गया हूँ। गीत समाप्त होते ही नज़र मुझ पर जाती है और सवाल—'भाईजान, आप···मतलब कि फ़ूटिए न'···मैं चला जाता हूँ। अगले दिन मुलाक़ात। मैं कहता हूँ—'बहुत अच्छा लिखते हो।' जवाब—'भाई साहब ! दो साल बाद आपसे लोग पूछा करेंगे कि क्या आप दुष्यन्त को जानते हैं ? '

अपने कवि के ऊपर इतना आत्मविश्वास दुष्यन्त को चंदौसी पहुँचने तक हो चुका था। इतना कि वह खुद को सबसे अलग और विशिष्ट मानने वाली भावनाओं से भर चुके थे। चंदौसी काल के लँगोटिया यार महावीर सिंह अपने संस्मरण में लिखते हैं—'एस०एम० कॉलेज, चंदौसी के म्युनिसपल हॉस्टल के छात्रों के बीच शुरू अगस्त '48 में एक नाम उभरता है—दुष्यन्त। दुष्यन्त कवि है, उसका तख़ल्लुस परदेसी है, वह कविता लिखता है, उसकी कविताएँ बड़ी ज़ोरदार होती हैं। वह रात-भर जागकर कविताएँ लिखता है और दिन-भर सोता है। उसने कमरा नंबर 19 लिया है जिसमें रोशनदान नहीं, जिसमें सीलन

है, जिसमें पाख़ाने की बदबू आती है। वह किसी दूसरे लड़के के साथ नहीं रहना चाहता। उसके कमरे में जाओ तो वह किसी से बैठने को नहीं कहता' आदि-आदि। किंतु जैसा कि महावीर सिंह आगे लिखते हैं—'उसी वर्ष जनवरी-फरवरी के महीने में दुष्यन्त को छात्रावास छोड़ देना पड़ा क्योंकि वह किसी दूसरे को अपने साथ रख नहीं सकता था और छात्रावास की माँग उसे अकेला न रहने के लिए विवश किए हुए थी। इसलिए वह राजनीति विज्ञान के प्रोफ़ेसर श्री बिसारिया की कोठी के एक बाहरी कमरे में पहुँच गया था, जिसके आगे काफ़ी बड़ा सहन था, जहाँ उसकी साहित्यिक महफ़िलें मज़े के साथ जमने लगीं। यह जगह छात्रावास से कोई दूर भी नहीं थी।'

चंदौसी में दुष्यन्त के पास एक साइकिल भी हुआ करती थी जिस पर वह कॉलेज आने-जाने के अलावा उन जगहों की भी ख़ूब परिक्रमा किया करते जहाँ-जहाँ उनका मन उन्हें बरबस खींचे लिए जाता। महावीर सिंह ने अपने संस्मरणों में इन परिक्रमाओं का रोचक वृत्तांत दिया है। चंदौसी काल के सहपाठी और लँगोटिया यार महावीर सिंह कवि दुष्यन्त का अपनी कक्षा में प्रवेश और परिचय देने की कहानी कुछ यूँ याद करते हैं—'हुआ कुछ यूँ कि दुष्यन्त कुछ देर से कॉलेज में आया। अतः क्लास में नई शक्ल का परिचय शील जी (हिंदी विभागाध्यक्ष प्रोफ़ेसर गंगाशरण 'शील') ने माँगा। देखा, पीछे एक गोरा-चिट्टा, छरहरा, ख़ूबसूरत कुर्ता-पाजामा और टोपी में खड़ा हुआ लड़का अध्यापक से मुख़ातिब हो रहा है—'मैं ज़िला बिजनौर के उस क्षेत्र का निवासी हूँ जहाँ कण्व के आश्रम में दुष्यन्त और शकुंतला की प्रणयलीला हुई थी और इत्तफ़ाक़ से मेरा नाम भी दुष्यन्त ही है।' वाक्य के समाप्त होते-होते उसकी दृष्टि अध्यापक से हटकर छात्राओं की ओर पहुँच चुकी थी और इससे पहले कि अध्यापक महोदय कुछ बोल पाएँ, उसकी अदा में बाँकपन आया, दृष्टि छात्राओं पर जमी और अगला वाक्य चल पड़ा—' 'परदेसी' उपनाम से कविता लिखता हूँ। आपके लिए अब तक हूँ भी परदेसी ही, किंतु आगे परदेसी नहीं रहूँगा, 'प्रियतम' बन जाने का इरादा है।' सुनते ही लड़कियों की आँखें मेज़ें घूरकर मुस्कराने लगीं। लड़कों के ठहाकों से कमरा गूँज उठा और शील जी के मुख से अच्छा ! अच्छा ! के साथ अध्यापन शुरू हो गया।'

महावीर सिंह आगे का क़िस्सा बयान करते हुए लिखते हैं—'आगे चलकर तो शील जी ने हम दोनों को 'विद्वान्' की उपाधि प्रदान करने के साथ-साथ उपस्थितियों की झंझट से आश्वस्त करके क्लास से पूरी तरह छुट्टा रहने का आग्रहपूर्ण आदेश दे दिया था जिसे हम लोगों ने गुरु के अनुग्रह के रूप में सहर्ष शिरोधार्य कर उन्हें अपनी अनुपस्थिति की गुरुदक्षिणा देकर स्थायी प्रसन्नता का अधिकारी बना दिया था और इस तरह दुष्यन्त को देर तक सोने तथा मेरे लिए उसे जगाकर गालियाँ और लातें खाने के लुत्फ़ में काफ़ी इज़ाफ़ा हो गया था।'

अपनी घनिष्ठता की कहानी सुनाते हुए महावीर सिंह कहते हैं—'जब हम दोनों अपने अलग-अलग मेसों के सम्मिलित सहन में पड़ी मेज़ों पर बैठे शाम का भोजन कर रहे थे, बात शायद 'कामायनी' और 'प्रसाद' से शुरू हुई थी और उसने मुझे मेरे 'हास्यास्पद' अस्तित्व के कारण 'कामायनी' को समझने के लिए 'चुग़द' का ख़िताब दे डाला था और मैंने उस लापरवाह कवि की उस अदा पर फ़िदा होकर, उस सुकुमार-से लड़के को अपने देहाती मेस की प्याज़ से बनी आलू-मटर की सब्ज़ी की कटोरी मँगा दी थी। फिर तो दुष्यन्त ने मुझे कुछ ऐसे पकड़ लिया कि मैं निरंतर उसके लिए साधन बनता रहा।'

कविता लिखना, काव्य-गोष्ठियाँ करना और जब-तब किसी-किसी शिकारी-सा साइकिल या पैदल निकल पड़ना और जी-भर थक चुकने पर उस हादसे को टालते या फिर बचते हुए कमरे पर लौटना चंदौसी वाले कवि दुष्यन्त के लिए आम बात थी। अपनी खुली और बेख़ौफ़ तबीयत, ज़बरदस्त वाक्पटुता और हाज़िरजवाबी, अगले को अपने प्रभाव की गिरफ़्त में लेने की उनकी कला और फिर उसके साथ मनचाहा कर लेना दुष्यन्त के बाएँ हाथ का खेल था। सच तो सचमुच यही है कि चंदौसी से ही जीवन को वे एक खेल समझने लग गए थे और खिलाड़ी की तरह उससे खेलने भी लगे थे। तब भी यह कहना झूठ न होगा कि वे इतनी सारी प्रचुरताओं के बावजूद अभावों की अतृप्तियों से भरे रहा करते थे। दुनिया, जो उन्हें मिल जाया करती थी, अपर्याप्त लगती थी और जो दूर थी, उसके लिए उनकी ललक और तड़प बेसब्री से भरी थी।

चंदौसी के ये दिन एक बार फिर से अलमस्त और लापरवाह ज़िंदगी के दिन थे जब दुष्यन्त अपने आपको नए सिरे से खोज, सहेज और सँभाल रहे थे। इंटर कक्षा का पहला साल पूरा कर दुष्यन्त जब दूसरे वर्ष में आए तभी 30 नवंबर, 1949 को उनका विवाह राजेश्वरी कौशिक के साथ संपन्न हुआ। राजेश्वरी देवी का परिवार आर्य समाजी संस्कारों वाला था और पढ़ाई-लिखाई की सुविधा के ख़याल से वे अपने चाचा रामरतन कौशिक के साथ रहा करती थीं, जो उन दिनों आज़मगढ़ में सब-जज के पद पर कार्यरत थे। स्वभावतः राजेश्वरी शहरी वातावरण और कदाचित् गाँव से भिन्न संस्कारों में पली-बढ़ी थीं। विवाह के समय दुष्यन्त की उम्र अठारह के आसपास थी और राजेश्वरी की सोलह के।

रूप-रंग और देखने-सुनने में राजेश्वरी कैसी थीं, इसका चित्रण कवि दुष्यन्त ने विवाह के ठीक दूसरे दिन लिखी एक कविता में किया है—'वह चपल बालिका भोली थी/कर रही लाज का भार वहन/झीने घूँघट पट से चमके/दो लाज-भरे सुरमई नयन/निर्माल्य अछूता अधरों पर/गंगा-यमुना-सा बहता था/सुंदर वन का कौमार्य/सुघर यौवन की घातें सहता था/परिचयविहीन होकर भी हम/लगते थे ज्यों चिर-परिचित हों।' कविता के नीचे तारीख़ें न देने वाले कवि ने आश्चर्यजनक रूप से यहाँ 1 दिसंबर, '49 अंकित किया है। कविता पढ़ने के बाद यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि यज्ञ की वेदी पर बैठे

वर-वधू में से वर तो स्वयं कवि दुष्यन्त और वधू राजेश्वरी कौशिक थीं, जो विवाहोपरांत त्यागी बनीं और कवि के प्रिय संबोधनों में सिर्फ़ 'राजो' या कभी-कभी 'राजो रानी।'

चौधरी भगवतसहाय ने विवाह का जो निमंत्रण छपवाया उसमें दुष्यन्त कुमार त्यागी 'परदेसी' लिखते हुए यह प्रकट कर दिया कि वे अपने बेटे की काव्य-प्रतिभा के प्रति कितने गौरव का अनुभव किया करते थे।

चंदौसी के दिनों में दुष्यन्त का कवि-सम्मेलनों में आना-जाना भी ख़ूब बढ़ गया था और उस अंचल के युवा कवियों में उनकी लोकप्रतिष्ठा भी ख़ूब बढ़ने लगी थी।

वहीं चंदौसी में दुष्यन्त ने रामकुमार राजपूत और महावीर सिंह के साथ मिलकर मासिक पत्रिका 'पुकार' निकाली जो तब तक चलती रही जब तक दुष्यन्त इलाहाबाद नहीं चले गए। उनकी प्रारंभिक कविताएँ इसी में छपती थीं। यों पत्रिका का स्वरूप-निर्धारण भी बुनियादी तौर पर वे ही किया करते थे। महावीर सिंह के अनुसार पत्रिका कुल डेढ़ साल चली। इससे यही अनुमान लगता है कि इसका पहला अंक 1949 के जनवरी-फरवरी मास में प्रकाशित हुआ होगा। पत्रिका के शुभारंभ पर लिखी एक कविता भी रचनावली में प्रमाण के लिए ले ली गई है।

चंदौसी जैसे कस्बे से तीन विद्यार्थियों का 'पुकार' जैसी पत्रिका का प्रकाशन सचमुच एक चौंकाने वाली-सी घटना थी। यह एक सामाजिक तथा फ़िल्मी सचित्र मासिक पत्रिका थी और चंदौसी के गोलागंज मोहल्ले से प्रकाशित हुआ करती थी।

कवि ने अपनी एक कहानी में पत्रिका के रूप-रंग और कलेवर का चित्रण कुछ इस प्रकार किया है—'मुखपृष्ठ पर रेहाना का चित्र था। नृत्य की मुद्रा में दोनों हाथ ऊपर को उठाए वह कमर टेढ़ी किए खड़ी थी। अंदर कवर पेज की पीठ पर संपादक जी का एक बड़ा-सा फ़ोटो था, जिसके नीचे लिखा था, 'पुकार के वर्चस्वी और तपस्वी संपादक।'

'पुकार' कार्यालय का भूगोल चित्रित करते हुए वे उसी कहानी में लिखते हैं—'गोलागंज में 'पुकार' कार्यालय का पता पूछने पर लोगों ने एक ख़स्ता मकान की ओर इशारा कर दिया।...वह पश्चिममुखी पीला-सा मकान उस गली में पहला ही था। आगे बढ़े तो देखा, दीवार पर किसी ने खड़िया से दो फूल बनाकर बीच में बड़े-बड़े पर सुंदर

अक्षरों से 'पुकार' लिख रखा है।' मकान का भीतरी वर्णन कुछ इस तरह है—'सामने उत्तर-दक्षिण में फैला एक कमरा था जिस पर 'पुकार कार्यालय' लिखा हुआ था और उसके बराबर से एक पतली-सी गली भीतर मकान में चली गई थी। कमरे की लंबाई चौदह-पंद्रह फुट होगी। उसके चार दरवाज़े, जिनमें से एक गली में और तीन बाहर सड़क की ओर खुलते थे। उनके सामने एक चार-पाँच फुट चौड़ा और सड़क से पाँच-सात फुट ऊँचा चबूतरा भी था जिस पर चढ़ने और कार्यालय पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई थीं।'

'पुकार' मासिक कहने को यों प्रगतिशील पत्रिका थी जिसमें फड़कती हुई कविताएँ, भावपूर्ण रोचक कहानियाँ, समाज का भंडाफोड़ करने वाले लेख और विचारोत्तेजक संपादकीय के अलावा महिला-जगत्, सिने-समाचार, फिल्मी दुनिया, आपके प्रश्नों के उत्तर, आपकी पसंद के गाने और बौरे जी का बहीखाता आदि अनेक स्थायी स्तंभ।

चंदौसी काल में लिखी कविताओं और जीवन-संगिनी बनीं राजेश्वरी त्यागी के अलावा अगर कोई और घटना कवि के जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण बनी तो यही थी जिसमें दुष्यन्त न केवल अपनी सृजनशील प्रतिभा बल्कि संपादकीय सूझबूझ और प्रबंधन की सामर्थ्य और निपुणता का प्रमाण देते हैं।

इनके अतिरिक्त चंदौसी का जीवन अगर किसी और बात के लिए याद किया जाएगा तो उस प्रथम पांडुलिपि के लिए जिसे उदीयमान कवि अपने काव्यगुरु छायावाद के यशस्वी कवि सुमित्रानंदन पंत को इन शब्दों में समर्पित करते हैं—

कि जिनके पदचिह्नों को देख
हुआ है चलने का अभ्यास
उन्हीं के चरणों में सस्नेह
समर्पित मेरा प्रथम प्रयास

एकलव्य के गुरु द्रोणाचार्य के समान अपने गुरु श्रद्धेय श्री सुमित्रानंदन पंत के कर-कमलों में यह अकिंचन भेंट सादर समर्पित

—परदेसी

पांडुलिपि के इसी पृष्ठ पर 'भाई महावीर सिंह जी राजपूत, बैटाँ, ज़िला मुरादाबाद' भी अंकित है।

पांडुलिपि का मुखपृष्ठ भी हाथ का लिखा हुआ है जिस पर सबसे पहले रोमन और नीचे देवनागरी में दुष्यन्त कुमार त्यागी 'परदेसी' के ठीक बाद ये पंक्तियाँ भी लिखी गई हैं—

भावनाओं का है इस्कूल
पढ़ा करता हूँ जिसमें भूल
कि कविता बन जाती किस भाँति
हमारे लघु जीवन की भूल

—परदेसी

उन दिनों के कविता-संग्रहों में न भी सही पर मैथिलीशरण गुप्त और 'आँसू' वाले जयशंकर प्रसाद के संग्रहों पर तो प्रायः इसी तरह की मुख-पंक्तियाँ उद्धृत की जाती रही हैं। दुष्यन्त ने संभवतः उसी प्रथा को दुहराया है। पर जो बात मार्क करने की है वह यह कि कवि कविता को भावनाओं से जन्मी किंतु लघु जीवन की सबसे मार्मिक भूल कह रहा है। इससे यह स्पष्ट है कि चंदौसी काल का कवि केवल काव्य-रचना में लीन नहीं है, कविता की आधारभूत प्रकृति और उसकी सृजन-प्रक्रिया को लेकर भी सजग और विचारमग्न है।

कवि-सम्मेलनों में जाने का सिलसिला भी यहीं से शुरू हुआ। दुष्यन्त अपनी कविताओं को तो गुनगुनाकर लिखते ही थे, कवि-सम्मेलनों के मंचों पर उनका सस्वर और मधुर पाठ कर कविता की पाठ-कला का जादू भी बिखेरा करते थे।

चंदौसी के जीवन में उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की पंखुड़ियाँ खुल गई थीं और उनके गीत-कवि की सुगंध आसपास के अंचलों में फैलने लग गई थी। दुष्यन्त को राजपुर नवादा के रईस ख़ानदान का उत्तराधिकार ढोना है या फिर किसी नौकरी में निकल अपने कवि को सजाना, सँवारना और विकसित करना है, यह लगभग यहीं सुनिश्चित-सा हो उठा था।

पत्र-पत्रिकाओं—यथा, चिनगारी, सन्मार्ग, दीदी, अरुण, साप्ताहिक हलचल—में उनकी रचनाएँ तो छपने लगी थीं। वे इसी चंदौसी कॉलेज में पंजा लड़ाने के चैम्पियन भी माने जाते थे। तथापि पिता भगवतसहाय की इच्छा थी कि बेटा इलाहाबाद जाकर ऐसी तैयारी और पढ़ाई करे कि किसी न किसी ऊँची सरकारी नौकरी में भी आ जाए।

3 जनवरी, 1951 की डायरी में वे लिखते हैं, 'रात को पिताजी से विभिन्न विषयों पर बात हुई। दोपहर को मैंने उनसे कहा भी कि आपने मुझे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में भेजा है पढ़ने, इस उद्देश्य से कि डिप्टी कलेक्टर बनूँ और मैं गया हूँ इस उद्देश्य से कि साहित्यकार बनूँ। फिर भी उनका दिल न तोड़ने की गरज़ से मैंने कहा कि फिर भी मेरा विचार कम्पटीशन में बैठने का है।' इसी द्वंद्व की मनःस्थिति में दुष्यन्त इलाहाबाद पहुँचे थे।

इलाहाबाद का जीवन

नहटौर और चंदौसी की तुलना इलाहाबाद से अगर करें तो संभव नहीं है। ये दोनों कस्बे कवि की साहित्य-चेतना के लिए अगर कूप-नदी-सर-बावड़ी की मानिंद थे तो इलाहाबाद एक महासागर था। साहित्य के अनेक वर्चस्वी नक्षत्रों के तेजस्वी प्रकाश में जगमगाता इलाहाबाद कला, संस्कृति, दर्शन और विचारधारा की इतनी स्वतंत्र दृष्टियों वाले महारथियों वाला भी था कि उनके बीच अपनी उपस्थिति रेखांकित करना आसान नहीं था। दुष्यन्त की उन दिनों की गतिविधियों, सक्रियताओं और कोशिशों को देखें तो 'सरोज-स्मृति' वाले निराला के ये कथन याद आते हैं—'पार्श्व में अन्य रख कुशल हस्त/गद्य में पद्य में समाभ्यस्त।' दुष्यन्त तो बस एक साहित्य योगी की तरह अपनी कोशिशों में डूबे हुए थे और इन उद्यमों का क्या परिणाम होगा इसे निराला की ही पंक्ति—'देखो क्या रंग भरती विमला/वांछित उस किस लांछित छवि पर/फेरती स्नेह की कूची-भर।' से समझा जा सकता है।

काव्य-रचना, विविध प्रकारी गद्य-लेखन, प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठियों में सक्रिय हिस्सेदारी, पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं को प्रकाशन के लिए भेजना, रेडियो के कवि सम्मेलनों में सुमधुर एवं प्रभावी रचना-पाठ से अपनी अलग पहचान बनाकर धाक बढ़ाना तथा आसपास के कवि-सम्मेलनों में जाकर हिंदी कविता के श्रोताओं को भाव-सिक्त करना, इलाहाबाद के जीवन के वे विभिन्न कोण हैं जिनके बग़ैर कवि को समझना मुश्किल होगा।

इलाहाबाद के ही दिनों के आकाशवाणी द्वारा आयोजित नए प्रयोगशील कवियों के कविता-पाठ, जिसकी अध्यक्षता कविश्री सुमित्रानंदन पंत ने की—में आमंत्रित कविगणों में शमशेर, अजित कुमार, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, त्रिलोचन शास्त्री, गंगाप्रसाद पांडेय, राजनारायण बिसारिया, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और केदारनाथ सिंह के अलावा दुष्यन्त कुमार भी आमंत्रित थे। 29 मार्च, 1954 को आकाशवाणी के इस आयोजन का चित्रात्मक वृत्तांत अंकित करते हुए दुष्यन्त लिखते हैं—' एक संगीतमयता वातावरण में व्याप्त थी। सभी लोग धीरे-धीरे शिष्टतापूर्वक एक-दूसरे से बातें कर रहे थे। ठहाकों का काम मुस्कराहटों से लिया जा रहा था और सिगरेटों का लच्छेदार धुआँ प्रायः हर सिर के तीन फिट ऊपर तक छाया हुआ था। तब शायद नौ बजने में सात मिनट थे। और जब नौ में पाँच ही मिनट शेष रह गए तो पंत जी आए, जो उस गोष्ठी के मनोनीत सभापति थे।

और ज्यों ही नौ बजे स्वयं उन्होंने कवि-गोष्ठी का कार्यक्रम घोषित किया और अपना एक निबंध नई कविता पर पढ़ने के बाद एक-एक कर कवियों के नाम पुकारने लगे।

'मैं बेसब्री से अपने नाम का इंतज़ार कर रहा था। सोच रहा था कि कब कविता सुनाऊँ और कब यहाँ से भागूँ। दरअसल कवि-सम्मेलन की बजाय मेरा सारा ध्यान अगले दिन सुबह सात बजे से होने वाली अपनी परीक्षा की ओर था, जिसकी कोई तैयारी तब तक नहीं की जा सकी थी।'

अपने साथ के कवियों की रचनाओं पर टिप्पणी करते हुए 'डायरी के पृष्ठ' के इसी क्रम में लिखते हैं–'दुर्भाग्यवश मेरा नंबर आठवाँ निकला और तब तक मुझे मन मारकर इच्छा न रखते हुए भी सबकी कविताएँ सुननी पड़ीं। सर्वेश्वर के अतिरिक्त और किसी की कविताएं बहुत ज़्यादा पसंद नहीं आई, यों सभी कविताएँ अच्छी थीं।' पारिश्रमिक का चेक लेकर घर की ओर भागे चले आए दुष्यन्त डायरी में लिखते हैं–'सोचता हूँ, महज़ दस-बीस रुपए के लिए मैं अपनी पढ़ाई बरबाद करूँगा, जिसे नष्ट करने का मन कतई नहीं है। पर नहीं जाना है–जाना है तो मतलब हुआ कि अपनी पढ़ाई, डिवीज़न, भविष्य का कैरियर और आत्मा सब कुछ बेचना पड़ेगा, सिर्फ़ चाँदी के दस रुपयों के लिए। तो रुपया बहुत बड़ी चीज़ है। शायद इससे भी बड़ी ?'

इलाहाबाद के इन दिनों में, जबकि वे विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में एम०ए० उत्तरार्द्ध के विद्यार्थी थे, कैरियर, पैसा और आत्मा की स्वाधीनता के द्वंद्वों और इनसे पैदा हुए अंतर्द्वंद्वों में उलझ-उलझ जाया करते थे। तथापि उनका लक्ष्य अटल था। विचलित होने के अवसरों की भी यद्यपि कोई कमी नहीं थी और अपने जल्दबाज़ स्वभाव और आनन-फानन में दुनिया को मुट्ठी में कर लेने की उनकी बेताबी परेशानियाँ भी कुछ कम खड़ी नहीं करती थी। पर अपने दोस्तों कमलेश्वर और मार्कण्डेय के चलते उनके पास सुरक्षा का एक ऐसा घेरा भी था जो उन्हें कोशिश-भर सँभाला करता। इलाहाबाद के दिनों लिखी एक कविता 'कमलेश्वर के नाम' में दुष्यन्त लिखते हैं–

अगर किसी कारणवश मेरे पथ पीछे मुड़ जाएँ
संकल्पों के पंछी तन के पिंजरे से उड़ जाएँ
मरकर मेरे स्वप्न अगर दुर्गंध लगें फैलाने
दूषित होने लगें झोंपड़े महल नगर वीराने
तो फिर मेरी बाँह पकड़कर नई दिशा देना तुम
या मेरे हाथों से मेरी कलम छीन लेना तुम

कमलेश्वर दुष्यन्त के लिए क्या थे, क्या हैं; दुष्यन्त कमलेश्वर को लेकर क्या सोचते और अनुभव किया करते थे, इस पर यदि ग़ौर किया जाए तो इस साहित्यिक

जोड़ी की तुलना एक हद तक अंग्रेज़ी के वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज से की जा सकती है। स्वभाव से राम-लक्ष्मण की तरह सर्वथा विपरीत रहते हुए भी दोनों की अंतरंगता और मैत्री में शायद ही कभी कोई फाँक या दरार आई हो बल्कि बाद के दिनों में इस अंतरंगता ने प्रगाढ़ता के इतने सोपान रचे कि रिश्तों की ऐसी असाधारण कथा सामान्य लोगों को चकित और विस्मित भी करती है। दुष्यन्त की पांडुलिपि कैसे बनेगी, उसे किस प्रकाशन से छपना है, किस कविता-संग्रह में कौन-सी कविता नहीं जानी है या जानी है, इनके दस्तावेज़ी साक्ष्य उन दिनों के संबंधितों के पत्राचारों में मौजूद हैं। प्रसंग चूँकि यह दुष्यन्त का है, इसलिए कमलेश्वर के बारे में उतना ही कहना काफ़ी होगा जो ख़ुद कमलेश्वर ने अपने और मोहन राकेश के संदर्भ में लिखा है—'वह इस बात का भूखा है कि कोई उसका है। यही उसकी अनवरत तलाश है···कोई उसका है और वह किसी का है—चाहे वह माँ हो, दोस्त हो, बीवी हो या दो दिन का मुलाक़ाती।' कमलेश्वर भी अपने दोस्तों के लिए ज़िंदगी-भर यही साबित हुए और दुष्यन्त इन सब में सर्वोपरि थे।

यही वो दिन थे जब मार्कण्डेय, कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव नई कहानी की 'तीसरी दुनिया' लेकर उभर रहे थे। यह वह दुनिया थी जो शहरी मध्यवर्ग वाली अज्ञेय, जैनेंद्र या फिर भगवतीचरण वर्मा की नहीं, यहाँ तक कि यशपाल, उपेंद्रनाथ 'अश्क' की भी नहीं। यह वह दुनिया थी जो आज़ादी की जगमगाहटों में कहीं दूर छूट, पिछड़ और गुम हो रही थी जबकि राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में उसकी भूमिका अहम थी। वह 'तीसरी दुनिया' जिसकी अपने अनुभवों की सुगंध अपनी मिट्टी-पानी में से फूट रही थी। जो पश्चिम से आते नए विचारों और उनसे प्रेरित नवलेखन के बदले अपने आसपास के संघर्षशील जीवनानुभवों से प्रेरित और प्रवर्तित थी।

दुष्यन्त इलाहाबाद के अपने इन मित्रों के अलावा कथाकार भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, श्रीपत राय और उपेंद्रनाथ 'अश्क' जैसे ख्यात कथाकारों और कहानी-पत्रिका के संपादकों के निरंतर संपर्क में रहे और किताब महल (प्रयाग) जैसे प्रकाशनों के लिए अनुवाद-कार्य भी करते रहे। इसी बीच उनकी एक अकादमिक ढंग की आलोचना-पुस्तक 'हिंदी गीतिकाव्य' भी किताब महल से प्रकाशित हुई। मित्र कमलेश्वर के साथ उपेंद्रनाथ 'अश्क' के एक उपन्यास 'गिरती दीवारें' के नायक चेतन पर विद्यार्थियों के लिए 'चेतन : एक अध्ययन' जैसा लेखन कर इलाहाबाद में एम०ए० कर चुकने के बाद से पैदा हुई रोज़गार की चिंताओं का छिटपुट समाधान ये दोनों ही दोस्त तलाशते रहे।

इन्हीं दिनों उनके द्वारा किया गया जो सबसे महत्त्वपूर्ण काम है वह नए कथाकारों पर लिखते हुए 'नई कहानी' संज्ञा ईजाद करना था। इस संबंध में उनका एक गंभीर और प्रखर आलोचनात्मक लेख 'नई कहानी : परंपरा और प्रयोग' हैदराबाद से प्रकाशित होने वाली 'पत्रिका' कल्पना के जनवरी, 1955 अंक में छपा, जिसने कहानी-क्षेत्र में एक प्रकार

से नई आलोचना का प्रवर्तन किया। नई कहानी के अन्य आलोचक और उनकी समीक्षाएँ तो चार-पाँच साल बाद आईं।

इलाहाबाद में होने वाली साहित्यिक गोष्ठियों में वे न केवल बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे, वरन् अपनी दुस्साहसिक मानी जाने वाली टिप्पणियों के कारण विवादास्पद भी हो उठा करते थे। ऐसी ही एक कहानी गोष्ठी में कमलेश्वर और अमरकांत जैसे तत्कालीन कथाकारों पर टिप्पणी करते हुए दुष्यन्त ने जो कहा वह जैसे छोटे मुँह बड़ी बात कर कोई अपराध-सा कर दिया हो। घटना का ज़िक्र करते हुए एक और जगह वे लिखते हैं—'दस मित्रों के बीच उस दिन बातचीत के सिलसिले में ज़बान से निकल ही गया कि ये कहानियाँ प्रेमचंद की कहानियों से टक्कर लेती हैं—बस, फिर क्या था ? आसपास बैठे भाई लोग टूट पड़े, जैसे मैंने भरी सभा में कोई गोला छोड़ दिया हो। अधिकांश तो मेरे मुँह की तरफ़ देखते रह गए मानो मैंने कोई ऐसी बात कह दी जिसका संभव होना ही इस संसार में नामुमकिन हो। दस-बीस निगाहों की अप्रत्याशित चुभन मुझसे क्षण-भर भी बर्दाश्त न हुई और पूछ ही बैठा कि आख़िर क्या हो गया जो आप लोग इस तरह सकते में आ गए ? मेरा पूछना था कि कुछ साहब बुरी तरह फट पड़े। बोले, 'ज़रा ज़बान सँभालकर बोला कीजिए मिस्टर ! प्रेमचंद से टक्कर अब तो क्या, सौ वर्ष बाद भी नहीं ले सकते।' उनका तर्कहीन तर्क मैंने सुन लिया और मुस्करा दिया। मुझे सचमुच ऐसे लोगों की बुद्धि पर भारी संदेह होता है। क्या जो प्रेमचंद लिख गए, या जैनेंद्र लिख रहे हैं, वैसा साहित्य उनके बाद लिखा ही न जाएगा ? मेरा तो विचार है कि आज के अनेक नए लेखकों की कहानियाँ उन नाम्धारियों की अनेक कहानियों का मुक़ाबला कर सकती हैं जो साहित्य की निधि हैं। अंतर केवल इतना है कि उन्हें साहित्यिक मान्यता मिल चुकी है, इन्हें मिल रही है।'

'नई कहानी : परंपरा और प्रयोग' में प्रेमचंद, जैनेंद्र, अज्ञेय तथा बाद में आने वालों रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, चंद्रकिरण सौनरिक्सा, अमृतराय, निर्गुण, विष्णु प्रभाकर के बाद की कथा-पीढ़ी की विशेषताएँ निर्दिष्ट करते हुए आलोचक दुष्यन्त कहते हैं—'जैनेंद्र, यशपाल, अज्ञेय आदि के बाद हिंदी कहानी की विभिन्न दिशाओं में प्रयोग बिलकुल नई उगती प्रतिभाओं द्वारा हो रहे हैं। बीच की पीढ़ी को छोड़कर एकदम नए लेखकों का उल्लेख कुछ पुरातनपंथियों को अखरेगा ही, मगर सच्चाई यह है कि इन्होंने अपनी कहानियों में अधिक नयापन और अधिक सशक्त एवं मौलिक वस्तु-तत्त्व दिया है और दे रहे हैं।"

मार्कण्डेय, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश, अमरकांत, विद्यासागर नौटियाल, कृष्णा सोबती, भीष्म साहनी, धर्मवीर भारती आदि लेखकों को रेखांकित करते हुए यही लेखक कहता है—'इनकी कहानियों में अधिकांशतः एक ऐसी वस्तुपरकता है जिसका सामूहिक रूप से हर उत्थान में अभाव पाया गया है। अन्य अनेक कहानीकारों में रुचि-

वैचित्र्य होते हुए भी सामाजिक ज़िम्मेदारी की जितनी सजग चेतना है, वह हिंदी कहानी में एक युगांतर की संभावनाओं की ओर संकेत करती है। इन्होंने अपनी कहानियों में नई प्रवृत्तियाँ अनुस्यूत की हैं और कर रहे हैं।'

आगे के पैरा में वे लिखते हैं–'वैसे सामूहिक रूप से ये सभी कहानीकार सामाजिक यथार्थ-चेतना के प्रति बहुत सचेष्ट और जागरूक हैं, किंतु अमरकांत और कमलेश्वर की कहानियों में यह गुण बहुत उभरकर सामने आता है।'

युवा कवि दुष्यन्त की कहानी संबंधी समझ उन दिनों ही इतनी प्रखर और प्रौढ़ हो चुकी थी कि उनकी ढेर सारी मान्यताएँ आज कहानी-आलोचना के इतिहास का सच बन चुकी हैं। नए कहानीकारों के बारे में आलोचक दुष्यन्त ने जनवरी, 1955 में जो संकेत दिए थे और धारणा प्रकट की थी उसे आज भी याद किए जाने की ज़रूरत है–'इस पीढ़ी के लेखक कहानी कला को फिर से उसके वास्तविक और ज़रूरतमंद क्षेत्रों (गाँव) में ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं और वहाँ से वेदना-बिंदुओं को एकत्रित कर जन-समाज के सम्मुख एक भीषण सुषुप्ति के रहस्य का उद्घाटन कर रहे हैं।'[1]

1954 में ही तो दुष्यन्त एम०ए० की अंतिम कक्षा का इम्तहान देकर विश्वविद्यालयीन पढ़ाई से बाहर आए थे और उनका यह लेख उन दिनों की सबसे प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका 'कल्पना' (हैदराबाद) में छपा। नई कहानी की आलोचना का यह प्रवर्तक लेख आज भी ऐतिहासिक महत्त्व का है।

बीसवीं सदी के छठवें-सातवें दशक में इलाहाबाद निस्संदेह साहित्य की राजधानी था। अपने इसी चरित्र के कारण वहाँ साहित्य के पंडों, पुरोहितों, महंतों और गद्दीधारियों की भी कोई कमी नहीं थी। युवा लेखक दुष्यन्त इनके बीच जब-तब उलझ-उलझ भी जाते थे। एक और जगह वे लिखते हैं–'आए थे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में साहित्यिक बनने का स्वप्न लेकर और अब लेने के देने पड़ रहे हैं। बेवजह रोब ग़ालिब किया जा रहा है। कहा जाता है कि आप अपना स्टैंड क्लियर कीजिए कि आप हममें हैं या प्रगतिवादियों में ?' दुष्यन्त सवाल करते हैं–'जैसे बिना इनके या प्रगतिवादियों के साहित्यसेवी का और कोई रूप हो ही नहीं सकता। अगर कोई कभी भूले-भटके अपने आपको इन दोनों से अलग मान ले तो उस पर खुदा का कुफ्र नाज़िल होता है। कुछ ऐसे निर्भीक और इनकी भाषा में धृष्ट नए लेखक भी मिले जिन्होंने अपने को दोनों दलों में मानकर अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा कर दी।'

स्पष्ट ही दुष्यन्त स्वयं को ऐसे ही 'धृष्ट' और 'स्वतंत्र' लेखकों में मान रहे थे। फिर भी उनकी वैचारिक निकटता प्रगतिशील लेखकों के साथ थी और वे प्रगतिशील लेखक

(1. 'वागर्थ' के संपादक और ख्यात कथाकार रवींद्र कालिया ने इसे जुलाई, 2004 के अंक में एक दस्तावेज़ के रूप में पुनर्प्रकाशित कर इस बात की पुष्टि कर दी है कि दुष्यन्त की आलोचकीय प्रतिभा कैसी क्रांतदर्शी थी)

संघ द्वारा आयोजित गोष्ठियों में दरियाँ बिछाने से लेकर उनके निर्विघ्न संपन्न हो जाने की अवधि तक एक सुरक्षा-सैनिक जैसा कर्तव्य भी प्रदर्शित किया करते थे। ज़रूरत पड़े तो किसी लठैत पहरेदार की तरह। तब भी वे यह मानने पर राज़ी नहीं थे कि लेखन किन्हीं डाग्माओं का शिकार होना चाहिए। यह भी कि लेखकों के लिए खड़े किए गए संगठन विचार की जगह विचारधारावाद और यथार्थ की जगह किताबी यथार्थवाद की राजनीति करें। यह भी कि लेखक को अपने अनुभवों के प्रति तो ईमानदार रहना ही है, उसे समकालीन राजनीति, सत्ता राजनीति की तरह-तरह की चालों और पैंतरों के प्रति भी सावधान रहना और ईमानदारी बरतना है। हिंदी-उर्दू भाषा के मसले पर प्रगतिशील लेखक संघ के पदाधिकारियों द्वारा चुपचाप बदल दिए गए स्टैंड को लेकर वे एक जगह लिखते हैं–

"I have been associated with P.W.A. as a visitor and perhaps also as a member as I recieved information through the newspapers that I have been elected as member of one of its committees the confrence. . Naturally therefore, I have been keenly intrested in the recent controversy about the P.W.A. and its policy toward urdu and Hindi.

...The anouncement that the linguistic problem will be discussed in the comming confrence came to me as a surprise and equally surprising is now the recent anouncement of the programme of the confrence where this problem has been conviniently dropped...

...This confirms my suspicion that the P.W.A. is being utilized by intrested persons to propogate as anti Hindi antinational."

इस वक्तव्य में सिर्फ़ हिंदी-उर्दू भाषा को लेकर की जा रही प्रगतिशील लेखक संघ की राजनीति की ओर ही संकेत नहीं बल्कि स्वयं को प्रगतिशीलता का झंडाबरदार मानने वाले लेखकों की मानसिकता की ओर भी इशारा है।

दूसरी ओर, दुष्यन्त, मार्कण्डेय, कमलेश्वर आदि किसी भी स्थिति में परिमलवादियों की आयातित आधुनिकता और लेखक की वैयक्तिक स्वाधीनता के पक्ष में नहीं थे, पर ज़िंदगी का जो स्वाभाविक यथार्थ था, उसे अपने अनुभवों की आँखों से समूची संवेदना के साथ पकड़ रहे थे। उन दिनों की उथल-पुथल, मारामारी और विभाजन की त्रासदी की याद करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं–'तभी आज़ादी मिलती है और शरणार्थियों की ट्रेनें इलाहाबाद पहुँचती हैं। विभाजन का अभिशाप लिए टूटे-थके और उजड़े हुए लोग बदहवास आँखों से चारों ओर देखते हैं–पीछे मारे गए घरवालों का बोझ दिल पर है··· सब कुछ खोकर भी वे परास्त नहीं हैं···बाँहें टूट गई हैं···पैर कट गए हैं···आँखों में देखे हुए भयंकर रक्तपात की डरावनी परछाइयाँ हैं, पर आदमी है कि मौत से आजिज़ नहीं आया है। वह ज़िंदगी तलाश रहा है।' दुष्यन्त की कविता भी इसी तलाश के रास्ते पर

पाँव-पाँव चलने को ख़ुद को तैयार कर रही थी। सही है कि यूरोप में दो-दो महायुद्धों की विभीषिका के चलते मानवीय आस्थाएँ लड़खड़ा गई थीं पर भारत के अपने अनुभव स्वतंत्रता-संग्राम के अपने सपनों से जुड़े थे। राष्ट्रीय जीवन के इन अनुभवों के प्रति जिस लेखन-धर्म के निर्वाह की ज़रूरत थी, उसे ये तीनों दोस्त निभाने को प्रस्तुत हो रहे थे। 'तीन दोस्त' वाली कविता में दुष्यन्त लिखते हैं—

हम हर उस जगह जहाँ पर मानव रोता है
अत्याचारों का नंगा नर्तन होता है
...
हम जो दरार पड़ चुकी साँस से सीते हैं
हम मानवता के लिए ज़िंदगी जीते हैं

(1953)

यही वो दिन थे जब इन तीनों ने मिलकर 'विहान' नामक पत्रिका का पहला अंक निकाला। एक तरफ़ 'निकष', 'संकेत', 'साहित्यकार' आदि पत्रिकाएँ तो दूसरी ओर गँवई बोल-चाल की सुगंध वाला शीर्षक 'विहान'। एक बातचीत में संपादकों में से एक कमलेश्वर ने बताया कि उन दिनों विद्यानिवास मिश्र जैसे संस्कृतज्ञ और ललित निबंधकार भी हम लोगों के बीच आया-जाया करते थे और उनका 'टिकोरा' शीर्षक निबंध भी पहली बार 'विहान' में छापा गया था। पत्रिका का मुखपृष्ठ और सारे रेखांकन कमलेश्वर के थे। पत्रिका आर्थिक अभावों के चलते चली नहीं और इसका पहला अंक ही आख़िरी अंक साबित हुआ।

दुष्यन्त, कमलेश्वर और मार्कण्डेय कहाँ मिले, कैसे निकट आए और इलाहाबाद के 'त्रिशूल' बने, इसका किस्सा तब तक अधूरा रहेगा जब तक दास बाबू की चर्चा न की जाए। दास बाबू यानी श्रीकृष्ण दास, जिन पर लिखते हुए दुष्यन्त याद करते हैं—'जब पहली बार मेरे क़दम इलाहाबाद में पड़े तो दोस्त लोगों ने यही पूछा—'दास साहब से मिले ?' आख़िर जब ऊब गया तो मालूम किया कि जनाब, क्या विशेषता है इन दास साहब की जो आप लोग इस तरह हाथ धोकर पीछे पड़े हुए हैं। जवाब में दोस्तों ने मुस्करा भर दिया। और मेरी उत्कंठा वहीं दबकर रह गई। सोचा कि संपादक हैं, कविता छपानी होगी तो डाक से भेज दूँगा। कौन ज़रूरी है मिलना ? लेकिन बात यहीं दबकर न रह गई। एक बार मित्र के साथ मुझे भी अपनी कविता लेकर वहाँ जाने का संयोग मिला।' आगे दुष्यन्त लिखते हैं—'दास बाबू को देखा तो सकते में आ गया। लगा कि शक्ल और स्वभाव दोनों जाने-पहचाने हैं। इतनी आत्मीयता लेखकों के साथ बरतते हुए मैंने तो बहुत कम संपादक देखे हैं। लेकिन बाद में ज्ञात हुआ कि यह आत्मीयता केवल लेखकों के ही नहीं, सभी के साथ बरती जाती है। यह तकल्लुफ़ नहीं, स्वभाव है।'

दास बाबू जितने गंभीर थे उतने ही सहज, आत्मीय और हँसमुख भी। बात में से बात निकालकर मंडली को विभोर कर डालने वाले। विचारों में प्रगतिशील और इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले अख़बार 'अमृत' पत्रिका के साहित्य संपादक। क्या श्रीपत राय और क्या अमृत राय, सब दास बाबू के इस स्वभाव के मुरीद थे और वहीं मिंटो रोड पर अगल-बगल रहा करते थे। दास बाबू का घर युवा लेखकों के मिलने के लिए लगभग एक अड्डे का काम किया करता था। बक़ौल कमलेश्वर दुष्यन्त से उनकी मुलाक़ात भी यहीं हुई।

दास बाबू की शख़्सियत का बखान भी दुष्यन्त के इन शब्दों में ख़ूब है—'साँवला रंग, साधारण क़द, खद्दर के वस्त्र, भरा हुआ मुख और बड़ी-बड़ी आँखें। लेकिन कितना प्यारा स्वभाव, कितनी मीठी वाणी कि सुनने बैठो तो सुनते ही रहो।' आगे दुष्यन्त एक वाकया सुनाते हैं—'एक बार मैं, मार्कण्डेय और वामिक जौनपुरी तथा डॉ० साहब यानी डॉ० एजाज हुसैन साहब, चारों बैठे चाय पी रहे थे। डॉक्टर साहब बोले—'कहिए, कुछ लिख रहे हैं आप लोग या ख़ामोश ही हैं ?' और जब हमने उत्तर दिया कि साहब, इधर तो बहुत लिखा है तो कहने लगे, 'यह सब दास की सोहबत का असर है। उनसे भी कहो कि दास भाई ! हाथी चाहिए, उत्तर मिलेगा—अभी आता है।' '

मार्कण्डेय, कमलेश्वर और दुष्यन्त अगर इलाहाबाद के साहित्याकाश में 'त्रिशूल' की तरह चमके और उभरे तो इसमें भी कहीं दास बाबू का कोई योगदान तो है, क्योंकि यह दास बाबू ही थे जो इलाहाबाद के साहित्यिक दिग्गजों और कुछेक साहित्यिक महंतों की एक प्राइवेट गोष्ठी में एक बार हिम्मत के साथ यह कह सके 'साहित्य में गद्दियाँ स्थापित कर महंताई करने से राष्ट्रभाषा की उन्नति नहीं होगी। हमें चाहिए कि अपनी गद्दियों से खिसकते हुए नए लेखकों को प्रोत्साहन दें, कहें, 'हमें तुम्हारे सहयोग की अपेक्षा है, अब तुम हमारी जगह आओ।' कवि दुष्यन्त इन दास बाबू से कितना जुड़े हुए थे कि वे जिस किसी कवि-सम्मेलन में अध्यक्ष या मुख्य अतिथि के रूप में बुलाए जाते, दुष्यन्त अकसर कवि के रूप में उनके साथ होते। इन्हीं दास बाबू के विषय में दुष्यन्त ने यह भी लिखा, 'वे अनेक बार जेल गए। डंडे सहे। लांछना और प्रतारणा सही, आग में जले और आज कुंदन हैं। किसी कसौटी पर कस लीजिए, खरे उतरेंगे ! मिनिस्टर और एम०एल०ए० बनने का अवसर आया तो कम्युनिस्ट बन बैठे।' दास बाबू ने ही दुष्यन्त के मन में यह बात बिठा दी कि साहित्यकार होने से पहले आदमी होना ज़रूरी है। दुष्यन्त लिखते हैं—'जो आदमी नहीं होगा वह साहित्यकार क्या ख़ाक बनेगा।' दास बाबू पर संस्मरण लिखते हुए दुष्यन्त ने कई-कई कवि-सम्मेलनों का ज़िक्र किया है जिनमें उनके अलावा लोकगीत लिखने और लिखकर मंचों से गाने वाले कथाकार मार्कण्डेय भी जाया करते थे।

मार्कण्डेय तो दास बाबू के अन्तेवासी ही थे किंतु अपनी हरदिलअज़ीज़ी और

बेसाख़्ता तबीयत के बल पर दुष्यन्त भी दास बाबू की आत्मीयता की सघन छाँह में थे। जैसा कि दुष्यन्त का हर बात और हर शख़्स को अपनी वाक्पटुता और भरोसेमंदी के चलते अपनी मुट्ठी में कर लेने का स्वभाव था, दास बाबू भी उससे बाहर कहाँ थे। कमलेश्वर पर एक संस्मरण 'ग़लती का शिकार : एक कहानीकार' में दुष्यन्त लिखते हैं– 'बाँदा ज़िले के अतर्रा कस्बे की एक शिक्षण संस्था ने दास बाबू को कवि-सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिए आमंत्रित किया तो कवियों को चुनने और ले आने का ज़िम्मा भी उन्हीं पर डाल दिया। दास बाबू ने मुझे उसमें चलने का निमंत्रण दिया। निमंत्रण क्या, हुक्मनामा कहूँ तो ज़्यादा सही होगा क्योंकि उनकी आज्ञा को टालने का साहस न तब था और न आज ही है। फिर भी झिझकते-झिझकते मैंने संग-साथ की दृष्टि से उनके सामने कमलेश्वर और मार्कण्डेय के नाम और रख दिए। मार्कण्डेय के कंठ से तो वे परिचित थे, पर कमलेश्वर का नाम सुनकर वे थोड़े ज़रूर चौंके। किंतु जब मैंने उन्हें इस ओर से पूरी तरह आश्वस्त कर दिया तो वे उसके लिए भी सहमत हो गए।'

कमलेश्वर के वे कौन-से दिन थे इसका परिचय देते हुए दुष्यन्त लिखते हैं–'उन दिनों कवि तो क्या कहानीकार के रूप में भी कमलेश्वर को कोई नहीं जानता था। हाँ, उसकी भावपूर्ण बड़ी-बड़ी आँखों और कुरते-पाजामे के ऊपरी पहनावे से उसे कवि ज़रूर समझा जा सकता था।' और कमलेश्वर ने उस रात कवि-सम्मेलन में साथी कवियों के बावजूद श्रोताओं पर अपना गहरा असर डाला था। जबकि कमलेश्वर द्वारा पढ़ा गया गीत कमलेश्वर का न होकर दुष्यन्त का था और अंतरा पंक्तियाँ थीं–'सिंधु-सा है विश्व/सौ ठहराव हैं जल में/व्यर्थ बाँधो मत नयन का नीर आँचल में।' 26 जून, 2005 की शाम कमलेश्वर जब दुष्यन्त के साउथ टी०टी० नगर वाले क्वार्टर में सोफ़े पर अधलेटे इन पंक्तियों को दुहरा रहे थे तो उनकी आँखों में दूर कहीं मार्कण्डेय का मनोहर कंठ, दास बाबू की ढेर सारी बातें और दुष्यन्त की गहरी यादें साकार-सी हो उठी थीं। सच पूछें तो दुष्यन्त की चेतना दास बाबू के इसी अनौपचारिक स्कूल की देन थी जिसमें विचारधारा के प्रति आचारपरक निष्ठा तो बेइंतहा थी लेकिन विचारधारा को सीढ़ी बना उसके सहारे अपना कैरियर चमकाना या फिर उसे किसी संप्रदाय और मठ में बदलकर दुनिया का एकमात्र सच मान लेना किसी भी रूप में गवारा नहीं था। अपनी खुली-फैली तबीयत की तरह साहित्य के आकाश को भी वे खुला-फैला देखना चाहते थे। साथ ही यह भी कि राष्ट्रीय आंदोलन की जुझारू विरासतों और उनसे जुड़े सपनों को झुठलाने की हिमाकत का वक़्त यह नहीं था। वे यह मानने को कतई राज़ी नहीं थे कि आज़ादी के बाद का भारतीय समाज मूल्य शून्य हो चुका है। कहीं कोई मर्यादा नहीं बची है। चारों ओर अंधकार और कुंठा का साम्राज्य है और कवियों/लेखकों के लिए आत्मरुदन और आत्मदया के अलावा कुछ बचा नहीं है।

वे यह भी मंज़ूर करने को तैयार नहीं थे कि साहित्य की सत्ता और उसकी असलियत केवल मध्यवर्ग के चंद पढ़े-लिखों, विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसरों, ऑफ़िसों के अफ़सरों या बाबुओं के जीवन-अनुभवों में सिमटकर रह गई है। या फिर साहित्य का आदि स्रोत कवि की भाव-प्रवणता नहीं अपितु कोरी बौद्धिकता है। इससे भी ख़ास बात यह कि काव्य-भाषा का उद्भव उस जनभाषा और मुहावरे के बीच से होना चाहिए जिसे एक विशाल समाज निरंतर रच और प्रयुक्त कर रहा है। काव्य और कलाएँ अपने वास्तविक सामाजिक संदर्भों में ही अपनी सार्थकता साबित कर पाती हैं और इसके लिए लोकानुभवों की पूँजी की ज़रूरत पड़ती है।

दुष्यन्त इलाहाबाद के उस वातावरण में अपनी इस सोच के चलते कुछ-कुछ असहज भी महसूस करते थे। उनका मन भी पूरी तौर पर लगता नहीं था। कारण वही थे कि साहित्य की अपनी कोई स्वाधीन सत्ता और लेखक की अपनी कोई ईमानदारी है कि नहीं या फिर वह किसी सत्ता-राजनीति और उसके लिए प्रयुक्त की जाने वाली विचारधारा का एक मंच मात्र है ? सत्ता या विचारधारा के पालतू किस्म के लेखकों से उन्हें सख़्त चिढ़ थी।

एक और बातचीत में कमलेश्वर ने बताया कि दुष्यन्त से उनकी मुलाक़ात दास बाबू के मार्फ़त ही हुई। यों इलाहाबाद के अपने शुरुआती दिनों यानी 1950-51 में, जब दुष्यन्त बी०ए० में पढ़ रहे थे, विश्वविद्यालय के पी०सी० बनर्जी छात्रावास के 87 नंबर कमरे में रहा करते थे और उनका शुरुआती उठना-बैठना और मेल-जोल ज़्यादातर कवि-सम्मेलनी कवि-धुरंधरों—रमानाथ अवस्थी, बलबीर सिंह रंग—जैसे लोगों से था। इक्यावन की डायरी के कुछेक पन्नों को पलटने पर यह पता चलता है कि ये लोग छात्रावास आते-जाते थे और दुष्यन्त भी इनके साथ कवि-सम्मेलनों में बुलाए जाते रहते थे। इन्हीं पन्नों से यह पता लगता है कि इलाहाबाद आने का दुष्यन्त का अपना जो भी गुप्त मंतव्य रहा हो, पर पिता चौ० भगवतसहाय ने तो अपने बेटे को प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठकर कुछ नहीं तो डिप्टी कलेक्टरी की नौकरी तक पहुँच जाने के लिए भेजा था।

जैसा कि दुष्यन्त का आज़ाद, मनमौजी और स्वच्छंद स्वभाव था, वे बहुत दिनों तक छात्रावास-सेवन कर सकने वाले जीव नहीं थे। उधर उन्हें अपनी जीवन-संगिनी राजेश्वरी की याद और संग-साथ भी पुकारा करता था। राजेश्वरी भी पति के साथ रहने के लिए आकुल-व्याकुल रहने लगी थीं। तब यही उचित था कि दुष्यन्त छात्रावासी जीवन का परित्याग कर एक स्वाधीन गृहस्थ की तरह कोई किराए का मकान लेकर रहें। इस सिलसिले में सबसे पहले तो वे सिविल लाइंस के 11, कानपुर रोड पर सप्रू हाउस की कोठी के पास रहने लगे, पर बाद में चौक घंटाघर के पास भी रहे। इन दिनों लिखी कुछेक कविताओं से यह भी पता लगता है कि इलाहाबाद के शुरुआती दिनों की दिनचर्या काफ़ी ऊब-भरी थी। रोज़मर्रा के वही दृश्य, वही सड़क, वही रिक्शे, मोटरगाड़ियाँ, विश्वविद्यालय

की कक्षाएँ, नीरस लेक्चर। दुष्यन्त इस ऊब-भरी दिनचर्या के बीच सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमताओं को लेकर चिंतित और उदास भी हैं। इन्हीं दिनों एकाध ऐसी कविताएँ भी हैं, जिनमें वे पत्नी के आकर चले जाने और उससे पैदा होने वाली विरहजन्य विकलता का चित्रांकन करते हैं। ये सब कविताएँ गीत-शैली में न होकर मुक्त छंद वाली शैली में हैं।

सिविल लाइंस के सरतेज बहादुर सप्रू के बँगले से अगले के एक भाग में किराए से रहते दुष्यन्त के पास दो कमरे थे। एक का इस्तेमाल बैठक, शयन तथा अध्ययन-कक्ष के रूप में तो दूसरा रसोईघर, भंडारण और स्नान-शौच आदि के उपयोग में लाया जाता था। उनको यह मकान हद से ज़्यादा पसंद था—'इसलिए कि हर वक़्त का शोर-शराबा, चहल-पहल और भीड़-कोलाहल मुझे एक क्षण भी यह अनुभव नहीं होने देते कि ज़िंदगी में कहीं ठहराव भी है। मैं हर आदमी को अपने काम में लगा देखता हूँ, चाहे यह काम कैसा भी क्यों न हो और महसूस करता हूँ कि हिंदुस्तान ने आज़ादी के बाद से अब तक इन चंद सालों में काफ़ी तरक्की हासिल की है।' मध्य प्रदेश साहित्य परिषद, भोपाल द्वारा आयोजित दुष्यन्त स्मृति समारोह में बोलते हुए कथाकार राजेन्द्र यादव ने याद किया—'मेरी मुलाक़ात जब '51-52 में हुई तो वो कानपुर रोड वाली कोठी के एक हिस्से में रहते थे। पत्र-व्यवहार तो पहले से था, पर आमने-सामने की यह मुलाक़ात पहली थी। मैं पहुँचा तो वो हुक़्क़ा लिए बैठे थे, बिलकुल पुराने नवाबों की तरह। वे उस समय यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी थे। मेरे लिए ये चौंकाने वाली बात थी कि कोई व्यक्ति इस तरह बैठा हुआ हो।'

अपने दोस्तों मार्कण्डेय और कमलेश्वर के साथ जिस इलाहाबाद को दुष्यन्त ने नए सिरे से खोजना और जीना शुरू किया था, भले ही वह कोई महाकाव्य न हो, पर खंडकाव्य तो अवश्य था। दोस्तियाँ, प्रेम कहानियाँ, कॉफी हाउस, विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग और उसके स्नेहिल आचार्यजन। इसी इलाहाबाद में 'गुनाहों का देवता' और 'अंधायुग' लिखा जा रहा था। दुष्यन्त, कमलेश्वर और मार्कण्डेय नई कहानी और नई कविता की उन दिशाओं की ओर भागे चले जा रहे थे, जिनकी खिड़कियाँ जीवन के स्वाभाविक और मामूली कहे जाने वाले संघर्षों और रोज़मर्रा के जाने-पहचाने मटियाले अनुभवों के बीच खुलती थीं। मार्कण्डेय बताते हैं—'वो हमारे संपर्क में आया तो मैं उसे हमेशा समझाता था। कहा करता था—पढ़ो-लिखो, ये कोई कविता है—'पथ की बाधाओं के आगे घुटने मोड़ दिए/अभी तो आधा पंथ चले।' इस कविता को वो बहुत गाया करता था, गाता भी वो बहुत अच्छा था तो अच्छा भी लगता था। पर ऐसी स्थितियों में होता यह है कि गंभीर अनुभूति की खोज करना छोड़ देता है आदमी। लेकिन यह संयोग ही था कि वो हम लोगों के संपर्क में आया। हम लोगों का यहाँ बहुत बड़ा गुट था—कमलेश्वर था। अन्य लेखकों

में ओंकारनाथ श्रीवास्तव, अजित कुमार, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, श्याम मोहन श्रीवास्तव, सतीशचंद्र दुबे, सुरतदास आदि। एक लंबी-चौड़ी कतार थी लेखकों की।'

मार्कण्डेय अपने साथियों और 'परिमल' के संबंधों को लेकर बताते रहे—' जैसे, मैं कभी 'परिमल' में नहीं गया। दुष्यन्त कुमार भी कभी नहीं गया। हममें से कुछेक साथियों ने एक सह-परिमल संस्था बनाई थी, विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए। उसमें वो एकाध बार गया था। वो तो हमेशा ही विरोध करता था 'परिमल' का। बाद में जब उसकी रचनाएँ 'धर्मयुग' में छपने लगीं तो थोड़ा नरम पड़ा। पर प्रगतिशील लेखक संघ और 'परिमल' की लड़ाई में शुरू के दिनों में तो वो बहुत आगे था। फणीश्वरनाथ रेणु, केदारनाथ अग्रवाल, भगवतशरण उपाध्याय, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि यहाँ आया करते थे। अमृत राय, श्रीपत राय के यहाँ गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। कई गोष्ठियाँ ऐसी होती थीं कि हम लोग साथ-साथ जाया करते थे। दुष्यन्त कुमार भी कविता पढ़ते थे, हम भी पढ़ते थे। उधर, उस साहित्य (इशारा परिमलवादियों की ओर) में भी बहुत अच्छा काम हो रहा था। भारती (धर्मवीर) थे, विजयदेवनारायण साही, गिरधर गोपाल नाम के व्यक्ति थे, जो आजकल लखनऊ में हैं। जगदीश गुप्त थे।

' 'परिमल' के ज़्यादातर लोग समाजवादी विचारधारा के ही हैं, लोहियावादी, मार्क्ससिस्ट। इसमें रघुवंश, साही आदि सभी थे। बी०ए० में हम लोग साथ नहीं थे। एम०ए० में मैं उससे एक साल आगे था। विभाग का वातावरण बहुत साहित्यिक था और उस समय उसकी कविता मज़ाक़ का विषय होती थी।'

मार्कण्डेय, जिसे एक कविता 'अवध का शहजादा' में दुष्यन्त ने बहुत गहरी भावुकता से याद किया है, के इन कथनों की सत्यता में जाएँ, उन दिनों दुष्यन्त की लिखी एक ऐसी कविता भी मिलती है, जिसमें चंदौसी वाले गीत कवि और इलाहाबाद के छात्र दुष्यन्त कुमार का अंतःसंघर्ष शब्दबद्ध है। कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ हैं—'मैं तो दिन-भर लिखता कविता/गाता हुआ रूम में अपने/जो कुछ मुझको आता।' और परवर्ती कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—'कोई कहता नहीं समय के/है तेरा अनुकूल विषय ये/पर मैं केवल देखा करता/अपना सपनों-भरा हृदय ये/...कोई कहता शब्दों का भी/मुझको उचित चुनाव न आता/पर मैं केवल देखा करता/आता है या भाव न आता।' कवि घोषणा जैसी करता है—'भावों के आगे शब्दों का/भाव कौन ठहराता/कोई कहता लिखने में भी कर जाता हूँ प्रायः त्रुटियाँ/पर मैं केवल देखा करता मानस की उत्ताल लहरियाँ/तुमुल लहरियों के गायन पर/ताल कौन दे पाता।'

इलाहाबाद के बनर्जी छात्रावास के शुरुआती दिनों में लिखी यह कविता मार्कण्डेय के इस कथन को प्रमाणित करती है कि दुष्यन्त धीरे-धीरे अपनी गीत-शैली की भावुकता-भरी कविताओं को लेकर पुनर्विचार करने लगे थे, यद्यपि वे इस बात से तो कभी

भी सहमत नहीं हो सके कि काव्य-सृजन का आदि स्रोत भाव नहीं, बुद्धि है और कविता एक बुद्धि-प्रसूत कोरा शब्द व्यापार है।

लगभग एक-डेढ़ साल तो उन्हें इस अंतर्द्वंद्व से निकलने में लगे ही कि साहित्य की कौन-सी राह पकड़नी है ? वे केवल मंचीय कविता लिखें और कवि-सम्मेलनों वाले अपने पुराने साथी कवियों के बीच चले जाएँ 'परदेसी' बनकर या फिर 'परिमल' वालों के साथ अस्तित्ववादी और समाजवादी विचारों के मेलजोल से बौद्धिकता-मंडित कविता लिखें या फिर मार्कण्डेय, कमलेश्वर से दिन-दिन, रात-रात-भर संवाद करते हुए अपनी कोई ऐसी राह बनाएँ, जिसमें काव्य-भाषा की सार्थकता, ताज़गी और काव्य-दृष्टि की स्वाधीनता और मौलिकता हो। एक ऐसी कविता जिसका चेहरा-मोहरा अपनी स्वाभाविक ताज़गी के बावजूद ठेठ देशी हो और शैली कविता के पाठकों के लिए दुरूह और अतिगूढ़ न होकर सहजताधर्मी हो। ध्येयपूर्ण तो वह हो ही।

मार्कण्डेय बताते हैं—'धीरे-धीरे वो हमसे अटैच होने लगा। हम कहते थे—'तुम पढ़ो-लिखो' और फिर उसका झुकाव इस तरफ़ हुआ, नई कविताओं का उसने अध्ययन शुरू किया और सब पढ़-लिखकर फिर वो इस राह पर आकर खड़ा हुआ। यह '52-53 की बात होगी, जब उसने नई कविता लिखनी शुरू की।'

1951 की कुछ कविताएँ जिस तरह मुक्त छंद शैली की ओर बढ़ रही थीं, उसे देखते हुए यह तो कहा ही जा सकता है कि दुष्यन्त के भीतर आत्मचिंतन की यह प्रक्रिया शुरू हो गई थी और वे एक ऐसे संधि बिंदु पर आ खड़े थे, जिसमें से निकलना उन्हें भी खुद ज़रूरी लग रहा था। भीतर ही भीतर वे यह अनुभव करने लग गए थे कि कविता केवल भावनाओं का स्कूल या आह का उद्गार-गीत नहीं है, लोक जीवन की सच्चाइयों का दस्तावेज़ी सबूत भी है, जिसे कोई कवि अपनी सृजनशील प्रतिभा से पुनर्सृष्ट करता है।

मार्कण्डेय के कथनानुसार दुष्यन्त ने जो नया लिखना शुरू किया, उसमें जो चिंतन व्यक्त हुआ, वह बाद में उनके इसी पठन-पाठन और ख़ास तौर से मार्क्सवादी साहित्य के पठन-पाठन के दौरान विकसित हुआ और सच पूछें तो यह दुष्यन्त के सर्जक का रूपांतरण काल है, जब न केवल उनका काव्य-व्यवहार बल्कि साहित्य-दृष्टि भी परिवर्तित हो रही थी और वे प्रगतिशीलों के साथ एक साथी लेखक और कार्यकर्ता की तरह पूरे मन से आ खड़े थे।

फिर भी उन्होंने आँख मूँद ज्यों का त्यों सब स्वीकार कर लिया या प्रतिद्वंद्वी विचारधाराओं के अंध-विरोध पर उतर आए हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस प्रक्रिया में उनका आत्मविश्वास ज़रूर बढ़ता जा रहा था और इसे उन्होंने अपने पाठकों के लिए भी अलक्षित नहीं रहने दिया। 25 मार्च, '52 की लिखी उनकी एक ऐसी कविता मिलती है, जिसमें वे स्वयं को अन्य तमाम समकालीन कवियों और धाराओं से अलगाते

हैं। ये कविगण हैं, कविता जिनका नामोल्लेख भी करती है—नरेश मेहता, शंभुनाथ सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, रमानाथ अवस्थी, धर्मवीर भारती, गिरधर गोपाल, नेमिचंद जैन, भवानी मिश्र, नीरज, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शीतला, रंग आदि के नाम गिनाने के बाद दुष्यन्त आत्मगौरव से भरकर कहते हैं—'लेकिन मेरे पद तक कोई पहुँच नहीं पाया है/मेरी कविताओं का अपना अलग चार्म है/नई टेकनीक।' आगे की पंक्तियाँ भी कुछ कम रोचक नहीं हैं—'पंत, प्रसाद, निराला जी की बात न छेड़ो/पर अपनी पीढ़ी के कवियों में/मैं यह देखा करता हूँ/कोई ऐसा नहीं कि जो हिंदी कविता को/नया मोड़ दे/नया योग दे/बिखरी हुई अनेक रत्न की/मालाओं को सजा-सँवारे/और भेंट में रत्न/स्वयं का नया जोड़ दे।'

काव्य-भाषा और शिल्प की दृष्टि से तो इसका अपना महत्त्व है ही, कवि के असाधारण आत्मविश्वास और कविता संबंधी उसकी अभिनव किंतु गहरी समझ और विचारणा के ख़याल से भी महत्त्व है। परंपरा और कवि की मौलिकता के संयोग से ही वह सृजन संभव हो पाता है, जो नए साहित्यिक मोड़ का जन्मदाता बन सकता है। केवल नकल और आयातित आधुनिकता से लोकोन्मुख और प्रतिबद्ध साहित्य कभी नहीं लिखा जा सकता। इसके लिए लोक और परंपरा की 'बिखरी हुई अनेक रत्नमालाओं को' फिर से सजाना-सँवारना पड़ता है। कवि को उनसे रोज़-रोज़ आत्मसंवाद करना पड़ता है और जैसा कि काव्य-चिंतन परंपरा में कहा जाता है, कवि को इन सृजन-पद्धतियों से गुज़रकर ही अपना व्यक्तित्व खोजना और अर्जित करना पड़ता है।

कविता केवल शब्द विद्या नहीं है। न ही वह विचारों के तर्कों का एक भाषिक विधान ही है। क्षेमेन्द्र जैसे आचार्यों ने अपने कवि शिष्यों से कहा था, 'यदि तुम्हें सत्कवि बनना है तो किसी शब्द पंडित या तर्क पंडित को गुरु मत करो, पढ़ाने पर भी वे काव्य समझ नहीं सकते—न शाब्दिकं केवलतार्किकं वा कुर्यात् गुरुं सूक्तिविकासविघ्नम्।' दुष्यन्त भी यह मानने पर राज़ी नहीं थे कि केवल शब्द-संसार से या व्युत्पत्ति ज्ञान से कविता की जा सकती है। इसलिए जब वे यह कह रहे थे कि 'मेरी कविताओं का अपना अलग चार्म है। नई टेकनीक।' तब यह केवल उनका बड़बोलापन नहीं था, बल्कि उस विश्वास की कमाई थी जो आगे चलकर 'सूर्य का स्वागत' की कविताओं में दिखाई पड़ी।

इन्हीं दिनों लिखी एक और कविता में वे लिखते हैं—'क्योंकि मैं महसूस जो करता, नहीं लिखता।' कविता वस्तुतः कवि के इन्हीं ज़मीनी अनुभवों की पुनर्सृष्टि है। भले ही ऐसी कविता कबीर आदि कवियों की तरह किंचित् अनगढ़-सी हो तथापि उसमें 'हृदय के सत्त्व और मनुष्यत्व' का सौंदर्य तो छलकता ही रहता है। आगे वे लिखते हैं—'कविता मन के सत्य का ईमान है।' शब्द भले ही यहाँ ज़रूरत से ज़्यादा सजे-सँवरे न हों, पर अर्थ अपनी आँच में भरपूर हैं।

इन पंक्तियों पर सोचना शुरू करते हैं तो 1930-31 में लिखी गई भवानी भाई

(मिश्र) की 'कवि' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ सामने आ खड़ी होती हैं—'कलम अपनी साध और मन की बात बिलकुल ठीक कह एकाध/यह कि तेरी भर न हो तो कह/और बहते बने सादे ढंग से तो बह।'

जानने वाले जानते हैं कि इलाहाबाद के उन दिनों में लिखी जाती कविता कैसी थी, और किन नए सवालों का प्रतिनिधित्व कर रही थी। 'दूसरा सप्तक' के 'बात बोलेगी हम नहीं' वाले शमशेर से 'साफ़-साफ़ बातें' शीर्षक में दुष्यन्त पूछते हैं—'शमशेर जी ! आप ये रचनाएँ अपने लिए लिख रहे हैं या औरों के लिए ? यदि औरों के लिए तो भाई, ज़रा ऐसा लिखिए कि कुछ तो पल्ले पड़े। आपका यह 'शिशिर स्वप्न' कुछ समझ में ही नहीं आता।···हम तो पाठक हैं, आपके मन में कैसे घुस जाएँ ? हो सकता है इन पद्यों का कुछ मतलब भी हो, पर बड़े भाई, मतलब को सर्वसुलभ तो कर दो। अकेले-अकेले उसका उपभोग ठीक नहीं। देखो 'उनका' (इशारा भवानी मिश्र की ओर है) 'सन्नाटा' ख़ुद बोल रहा है और आपकी बात बोलने पर भी नहीं बोलती।'

काव्य-प्रयोगों की विलक्षणता पर आलोचनात्मक कटाक्ष करते हुए और काव्यगत नवीनताओं को प्रयोग नहीं, प्रयोगवाद तक ले जाने वाले प्रयोगवादियों में से एक धर्मवीर भारती के गीत 'इन फीरोज़ी होंठों पर बरबाद मेरी ज़िंदगी' पर दुष्यन्त की टिप्पणी कुछ इस प्रकार है—'रीतिकालीन साहित्य में हमें नायिकाओं के विविध रंग-रूप का अच्छा वर्णन मिलता है। नख से शिख तक का जो कवि वर्णन कर गए, वे भला होंठों को क्यों भूले होंगे, पर सबने उनका वही पिष्टपेषित लाल-पीला या सफ़ेद रंग बतलाया, किसी-किसी ने गुलाबी भी। पर हमारा आजकल का कवि नवीनता के आग्रह में होंठों के एक नए फीरोज़ी रंग की कल्पना करता है। यहीं पर हमें कहना है कि प्रयोगवाद सार्थक है, धन्य है, महान् है। भला यह कल्पनाएँ सर्वसुलभ कहाँ ? यह प्रतिभा रीतिकालीन कवियों में कहाँ से आती ?'

यही दुष्यन्त कुमार 'गीतफ़रोश', 'सतपुड़ा के जंगल' और 'सन्नाटा' जैसी कविताओं के कवि भवानी मिश्र को कहते हैं—'भवानी भाई···आपकी भाषा में शक्ति है, गीत है, प्रवाह है, आप जो कुछ कहते हैं वह अपने आप बोलता है, यहाँ तक कि 'सन्नाटा' भी।···आप इस प्रयोगवाद के तूफ़ान से विचलित न हों, वरना सब गड़बड़ा देंगे। देखिए, जैसा आप लिख रहे हैं, लिखते रहिए।···भगवान् आपकी लेखनी को सलामत रक्खे, आपकी ज़िंदगी को सलामत और आपकी बुद्धि को भी।'

(1952-53 की नोटबुक से—इलाहाबाद)

दुष्यन्त द्वारा उन दिनों लिखे जाते इस जीवंत आलोचनात्मक गद्य का अपना अलग अंदाज़ और रस है। रस्मी आलोचना से अलग अपने समकालीनों से गुफ़्तगू जैसी करती हुई यह

शैली दुष्यन्त की अनूठी आलोचना-भाषा और दृष्टि का संकेत देती है, जिसका विकास उन दिनों उनमें हो रहा था।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय.के हिंदी विभाग की याद करते हुए कमलेश्वर बताते हैं कि हमारे प्रोफ़ेसर्स बहुत स्नेही और वत्सल थे। कभी-कभी जब हम कक्षा से बाहर आसपास बैठे दिख जाते तो हमारे विभागाध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्र वर्मा मुस्कराते हुए टिप्पणी कर दिया करते–'विद्वान् लोग बैठे हैं।'

इसी शहर इलाहाबाद की याद करते हुए कमलेश्वर ने लिखा–'गर्मियों में इलाहाबाद के गुलमोहर और अमलतास कवियों, लेखकों के लिए खिलते थे···हरसिंगार पंत जी के लिए, चंपा महादेवी जी के लिए, नेस्टर्शियम डॉ० भारती के लिए, कमल श्रीपत जी के लिए, मौलश्री रमानाथ अवस्थी और गिरधर गोपाल के लिए, पलाश और नीम हम जैसे नए लेखकों के लिए और बसंत पर गेंदा खिलता था सिर्फ़ निराला जी के लिए।'

इस महानगरी में विचारों और रचनाओं, शब्दों और अर्थो का महामंथन चलता ही रहता था···सड़कें रास्ता देती थीं। पेड़ छाया देते थे। लू पसीना देती थी।···लगता था इलाहाबाद इलाहाबाद नहीं, पौराणिक काल की बिंबनगरी थी···पुराकाल की उज्जयिनी थी ···आधुनिक व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की नगरी···। नागार्जुन कृत 'मेघदूत' का हिंदी अनुवाद भी तब मौलिक लेखन की तरह पढ़ा जाता था। कृश्नचंदर, मंटो, अमृता प्रीतम, राजेन्द्र सिंह बेदी, इस्मत, बलवंत सिंह तब उर्दू या पंजाबी के लेखक नहीं, हिंदी के लेखक थे···।' भाव और स्मृति से विह्वल कमलेश्वर लिखते हैं–'यह शहर एक महावृक्ष है···जिसकी शाखों की नसों में न जाने कितने रंग और वैचारिक धाराएँ बहती हैं···और पत्ते-फल स्वतः खिलते रहते है···।'

उसी इलाहाबाद में 'परिमल' की कुलीन गोष्ठियाँ फूलों के सरंजाम और अगरबत्तियों के अनुष्ठान से शुरू होती थी। उसी के बाएँ बाज़ू के तौर पर प्रगतिशीलों की बैठकें हुआ करती थीं जिनमें फटी हुई दरियाँ बिछती थीं और वातावरण बीड़ी-सिगरेट के धुएँ और गंध से भर जाता था। बौद्धिक गहमागहमी और गंध-सुगंध के इसी माहौल में दुष्यन्त ने अपना 'परदेशी' तख़ल्लुस कुछ इस तरह छोड़ा जैसे कोई एक धर्मानुरागी किसी पवित्र तीर्थक्षेत्र में अपने कपड़े-लत्ते और जेवरात छोड़ देता है। अब वे इस नए वातावरण के बीच ऐसी पताका की तरह फहराना चाहते थे जिसकी ख़बर समूचे आसमान को हो। वे यह जानते थे कि इलाहाबाद सिर्फ़ नदियों और वैचारिक वाद-विवाद का शहर नहीं है, यह वह क्षेत्र भी है जहाँ से साहित्य की नई-नई धाराएँ और विचारधाराएँ फूटा करती हैं। जहाँ बैठकर राजनीतिक दल भारत के भाग्य का नया विधान रचने की कोशिश करते हैं। जो मिथक भी है, यथार्थ भी। अनुभव है तो कल्पना भी। विचार है तो सपना भी। यह वही इलाहाबाद था, इलाचंद्र जोशी के 'संगम' और महादेवी वर्मा के 'साहित्यकार' वाला। यहीं

अज्ञेय का इलाहाबाद भी था, 'निकष' के धर्मवीर भारती और 'संकेत' के उपेंद्रनाथ अश्क का भी। नर्मदेश्वर उपाध्याय, गोपीकृष्ण गोपेश, शांति मेहरोत्रा, उमाकांत मालवीय और खुद दुष्यन्त कुमार 'परदेशी' का भी और दुष्यन्त कुमार का भी।

दुष्यन्त अब परदेशी होकर रहने की नियति से साहित्य में नहीं रहना चाहते थे। वे चाहते थे कि अब उनकी क़लम अपने समय की इंसानी धड़कनों की आवाज़ बने। तभी उनकी कविताएँ 'निकष', 'साहित्यकार' आदि पत्रिकाओं में छपने लगीं और 1957 में उनका पहला कविता-संग्रह 'सूर्य का स्वागत' अपनी ही जेब के पैसों से छपकर आ गया।

'सूर्य का स्वागत' की कविताएँ 'परिमल' के कवियों की कुंठा, अवसाद और आत्मदया वाली बर्फ़ीली कविताओं की तुलना में धूप की ऊष्मा और उजाला लिए हुए थीं। अपने पहले ही संग्रह में दुष्यन्त जुझारू और अपराजेय आस्था और प्रबल जिजीविषा के कवि जान पड़े। संग्रह की कविताओं को पढ़कर उर्वशी के कवि दिनकर ने युवा गीत कवि रामावतार त्यागी से कहा—'प्रयोगवादियों की सड़ाँध से बचने के लिए इस गुलाब को सूँघना ज़रूरी है।'

आख़िर कोई तो वजह होगी जो इलाहाबाद 'अंधायुग' (1954) जैसा काव्य-नाटक लेकर आया था, उसी इलाहाबाद ने उक्त काव्यानुभव को झुठलाते हुए 'सूर्य का स्वागत' की घोषणा की—

आओ यहाँ बैठो
और मुझे मेरे अभद्र सत्कार के लिए क्षमा करो !
देखो मेरा बच्चा
तुम्हारा स्वागत कर रहा है
लेकिन वह जगह कौन-सी है जहाँ बिठाने का अनुरोध है—
और कहाँ ?
हाँ—मेरे बच्चे ने खेल-खेल में ही
यहाँ काई खुरच दी थी—

यह काई समय की उन दीवारों की है जिनसे कविता का वह घर बनता था जिसे साहित्य में प्रयोगवादी आदि कहा जाता था। विपरीत इसके दुष्यन्त की कविता की बिंबमाला घरेलू है। भाषा आमफहम और आत्मीय। खेल-खेल में काई खुरच डालने का जो उद्यम है, वह तो टटकी विरल कल्पना है। यह कौन-सा लोकमानस है जो इस तरह का विनयपूर्ण अकुंठ अनुरोध कर सकता है और साधन-सुविधाहीन अभद्र सत्कार को लेकर किसी हीनता-ग्रंथि या लोकाचार की शून्यता के भय या लज्जा से पीड़ित नहीं है।

गोकि यहाँ काई के अलावा सीलन और फिसलन भी है, पर दुष्यन्त हैं कि चुनौतीहीन भाषा में जो चुनौती रख रहे हैं उसे शायद किसी शायर का शे'र ही बयान करे—

इन्हीं पत्थरों से होकर गर हो सके तो आओ
मेरे घर के रास्ते में कोई कहकशाँ नहीं है

'सूर्य का स्वागत' के इस कवि की याद करते हुए 'धर्मयुग' के संपादक और 'अंधायुग' के रचनाकार भारती ने लिखा—'हम सबों में अकेला दुष्यन्त एक ऐसा दोस्त था जिस पर कुछ मामलों में आप आँख मूँदकर भरोसा कर सकते थे, पर कुछ मामलों में क्या करेगा, क्या कहेगा, इसका कोई भरोसा नहीं रहता था। इस दोस्ती में बेबाकी तो थी लेकिन संस्कारहीनता नहीं। 'सूर्य का स्वागत' वाले दुष्यन्त तब तक पति ही नहीं, पिता भी बन चुके थे। उनके पास एक साइकिल थी जिस पर घूम-घूमकर वे प्रायः उन लोगों को झकझोरा, जगाया और चौंकाया-छकाया करते थे जिन्होंने साहित्य में ख़ूबसूरत और बड़े-बड़े मुग़ालते पाल रखे थे। जो साहित्य और कला को सुविधा, अवसर और प्रतिष्ठा के साथ-साथ गुरुडम भी माना करते थे। साहित्य को एक स्वायत्त, ललित और संघर्षमुक्त क्षेत्र मानते थे।

'सूर्य का स्वागत' की कविताओं को लिखते हुए दुष्यन्त ने जीवन और काव्य दोनों के स्वाभाविक संबंधों की वकालत की और उन दृष्टियों से टकराते हुए आए जो स्वातंत्र्योत्तर लोकतंत्र में मध्यमवर्गीय अहं और व्यक्तिवाद का पोषण कर रही थी। जिन्हें इस बात की शायद ही कोई ख़बर थी कि छोटे-छोटे कस्बों और समुद्र की तरह अछोर फैले गाँवों में आशा और उम्मीद की जो किरनें फूटी थीं, उनका क्या हुआ ? वे विलुप्त हो गई या जहाँ-तहाँ भटक-बिखर गई हैं ?

'सूर्य का स्वागत' की एक और अतिमहत्त्वपूर्ण कविता 'तीन दोस्त' है जो मुझे न केवल दुष्यन्त बल्कि उस समय और आज भी लिखी जाने वाली जनवादी कविताओं की पूर्व घोषणा-सी जान पड़ती है। इस कविता के बहाने दुष्यन्त कवि-लेखक और कविता आदि की ज़िम्मेदारियों को समझने की कोशिश में लगे हुए थे। उस आदमी को साहित्य के केंद्र में लाने का उद्यम कर रहे थे जो महान् राष्ट्रीय आंदोलन का कर्ताधर्ता था किंतु जिसे आज़ादी के बाद सत्ता पर काबिज़ होने वालों ने वोट डालने वाली एक भीड़ में बदल डाला था। उस काव्य में दुरूहता और जटिलता, कूट बौद्धिकता और अमूर्तता के बदले भाव और भाषा की जानी-पहचानी घरेलू छवियाँ, आसपास की सीधी-सच्ची सच्चाइयाँ और उनके दो टूक किंतु मार्मिक बयान थे तो कारण यही कि कविता और जीवन की उस खाई को वे पाट डालना चाहते थे जिसके बल पर कविता स्वायत्तता का दावा करने की सुविधा में आ जाती है और कवि ऐसे अद्वितीय अकेलेपन में चला जाता है जिसमें भाषा और

लोकजीवन का संपर्क लगभग टूट जाया करता है।

दुष्यन्त और उनके साथी लेखक उस परिपाटीबद्ध सौंदर्यबोध के चौखटों को तोड़ डालने पर आमादा थे जो कलावादी अथवा मध्यमवर्गीय और व्यक्तिवादी थे। उनके शब्दों में सूरज से कहीं ज़्यादा गर्मी, सितारों से कहीं ज़्यादा रोशनी और इंसानीपन का आत्मीय ताप था।

इधर 'सूर्य का स्वागत' छपकर आया, उधर दुष्यन्त को आकाशवाणी दिल्ली के हिंदी वार्ता विभाग में स्क्रिप्ट राइटर की नौकरी मिल गई। यह वह समय था जब राजनीति में नेहरू और साहित्य में सप्तकों के संपादक प्रयोगवादी अज्ञेय की चमकीली चमक फैली हुई थी। आश्चर्य है कि दुष्यन्त का कवि इन दोनों ही आभा-पुरुषों से आतंकित या भयभीत नहीं हुआ। कमलेश्वर का प्रमाण लें तो तीनों जनवादी रुझानों के सख़्त समर्थक थे। चारों तरफ़ का भयावह यथार्थ इन्हें झकझोरता था और साहित्य की सोच इतनी व्यापक और एकात्म हो गई थी कि फैज, साहिर आदि की सोच उर्दू के साथ-साथ हिंदी में भी उसी तरह कौंधती रहती थी। यही वह परिवेश था जिसमें रोमांस के क्षणों का पसीना भी अच्छा लगता था और श्रम की मुस्कान भी। दुष्यन्त की कविता में ये दोनों ही भाव उसी इलाहाबाद में गंगा-जमुना की तरह मिल गए थे। 'परदेशी' के गीतों को 'सूर्य का स्वागत' करते हुए कुछ इस तरह सहेजा गया था जैसे कोई सीधा-सच्चा और कद्दावर इंसान अपनी दुर्बलताएँ और ग़लतियाँ सहेजकर रखता है। 'सूर्य का स्वागत' इससे कुछ अधिक ही भरोसेमंद हो सका।

बक़ौल मार्कण्डेय 'सूर्य का स्वागत' प्रकाशित भले ही 1957 में हुआ हो पर उसकी कविताएँ '53-54 में एम०ए० करते-करते लिख ली गई थीं। बाद में दुष्यन्त ने एक शोध-छात्र के रूप में डॉ० हरदेव बाहरी के निर्देशन में हिंदी विभाग ज्वाइन किया, पर जिस तरह वे अपने गाँव आया-जाया करते थे और खेती-बारी में गहरी रुचि रखते थे उससे रिसर्च की कोई ख़ास पटरी नहीं बैठ पाई। इसी बीच उन्हें नजीबाबाद के पास किरतपुर के एक प्राइवेट कॉलेज में नौकरी मिल गई जिसे उन्होंने आकाशवाणी दिल्ली ज्वाइन करने से पहले ही छोड़ दिया था।

भोपाल-प्रवास के दिनों में लिखा गया उपन्यास 'छोटे-छोटे सवाल' इसी अनुभव पर आधारित है। सच तो यह है कि अनुभवों को सँभालकर रखने और अपनी स्मृतियों की ताक़त से उन्हें पुनर्जीवित और पुनर्सृष्ट करने की सामर्थ्य इस लेखक में अद्‌भुत थी। विश्वविद्यालय के छात्र के रूप में पारंपरिक अध्ययन भी उन्होंने किया था किंतु इससे कहीं ज़्यादा गहरा अध्ययन उनका उस जीवन का था जिसमें एक साथ ढेरों किताबों के कच्चे-पक्के अनुभव बिखरे और बसे रहते थे। गोर्की और प्रेमचंद की तरह दुष्यन्त भी जीवन को ही सबसे बड़ी किताब मानते थे।

कहा जाता है कि किरतपुर जैसे अति दकियानूस जड़ कस्बे में विचारों की नई हवाएँ लेकर कवि दुष्यन्त अपने रहन-सहन, खाने-पहनने के सलीकेदार तौर-तरीक़ों से छात्रों के लिए आकर्षण का केंद्र बन चुके थे। नए ढंग के कपड़े पहनना और अपने छात्रों से स्नेहपूर्ण उन्मुक्त व्यवहार करना अन्य अध्यापकों और प्रबंध-समिति के सदस्यों की निगाह में जैसे कोई अपराध-सा था। एक तरफ़ गए-गुज़रे ख़यालों को जीवन का आदर्श मानने वाला समाज और दूसरी ओर बुढ़ा चुके लगभग रूढ़ और निष्प्राण जीवन को विचारों की नई साँसों और ताज़ी निगाह से पुनर्नवित करने की मुहिम के बीच समन्वय की कैसी भी गुंजाइश न देख किरतपुर की यह नौकरी दो-एक महीने में छोड़ दी गई और दुष्यन्त फिर से इलाहाबाद को अपना उपनिवास-सा बनाकर आने-जाने और रहने लगे।

इलाहाबाद में डॉ० हरदेव बाहरी के साथ 'खड़ी बोली की बोलियों और साहित्यिक खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन' पर शोध-कार्य का पंजीयन 8 फरवरी, 1955 को हुआ किंतु इसमें कोई प्रगति हुई भी या नहीं, कुछ शुरू किया भी या नहीं, इसके कोई दस्तावेज़ी साक्ष्य नहीं मिलते। पत्र-पत्रिकाओं में लिखना, कवि-सम्मेलनों में आना-जाना, गीत, कविता, आलोचना और इक्की-दुक्की ग़ज़लें लिखने की जानकारियाँ उन दिनों की नोटबुकों से मिलती हैं। पर इनकी संख्या नगण्य ही कही जाएगी।

इन दिनों लिखी जा रही कविताओं में कवि का आत्मचिंतन और अधिक गहराता चला गया है। वह अपने लेखन के स्वभाव और स्वरूप पर भीतर ही भीतर मंथनरत है। 'मुझको कह रहे हैं लोग/मेरे शब्द कोरे गद्य/औ' मैं काव्य के क्षेत्र में/लेकर ये नवीन प्रयोग/ करता जा रहा हूँ नित्य नई अनीति।' पर वे इसका जो उत्तर ढूँढ़ते हैं वह भी ग़ौर करने लायक है, 'ये कविता नहीं है महज/ये मेरी तुम्हारी सूक्ष्म सांकेतिक पुरानी बात।'

यह भी सोचने वाली बात है कि दुष्यन्त जिन कवियों की काव्य-पद्धति को सराहना की दृष्टि से देखते हैं, वे भवानीप्रसाद मिश्र हों या सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, इन सबके शब्दों के होंठों पर समय का जलता हुआ सच और दहकते हुए न्यायबोध की दुहाई है। ये वे कवि हैं जो कला की घुमावदार पगडंडियों में अपने पाठकों को भरमाकर उनको चमत्कृत करने के बजाय उन वस्तुगत स्थितियों से परिचित कराना चाहते हैं जो जीवन को चारों ओर से घेर तो चुकी हैं पर आदमी है कि कहीं से भी घुटने टेकने की मुद्रा में नहीं है। 'जीवन-भर तेरी आग जलेगी और दहूँगा मैं' जैसी प्रेम विषयक पंक्ति में आग में जीवन-भर जलने की जो प्रतिज्ञा है, वहीं तो कवि दुष्यन्त की कविता की पहचान है।

यही वे दिन हैं जब दुष्यन्त कभी श्रीपत राय की मासिक पत्रिका 'कहानी' में सहयोगी की तरह काम करते हैं तो कभी 'भारत' दैनिक के सह-संपादक के रूप में। टॉल्सटॉय की 'अन्ना केरेनिना' और 'अल्बर्टो मोराविया' के कथा-साहित्य का अनुवाद भी इन्हीं दिनों किया गया। फिर भी जीवन में कोई स्थायित्व आया हो या कवि को उसकी

कोई संभावना दिख पाई हो, ऐसा लगता नहीं है। बार-बार गाँव राजपुर नवादा जाना और इलाहाबाद लौटकर किराए का निवास लेकर रहने लगना चलता ही रहा। उधर पत्नी और बड़ी बेटी अर्चना इंतज़ार में दिन काटा करते कि कहीं ठीक ठिकाने की नौकरी लग जाए तो साथ रहने का सुख नसीब हो और पढ़ाई-लिखाई का कोई सिलसिला जारी किया जाए। इन्हीं दबावों के बीच कवि ने सोचा हो कि क्यों न बी०टी० कर लिया जाए जिससे अध्यापकी की कोई स्थायी वृत्ति पाई जा सके और वह बी०टी० करने की ग़रज़ से इलाहाबाद छोड़ '57 की जुलाई में मुरादाबाद चला आया।

इलाहाबाद और मुरादाबाद के बीच के इन दिनों में दुष्यन्त चुपचाप बैठे रहे हों, यह तो उन जैसे अतिउत्साही, गतिशील और कर्मतत्पर युवा के लिए असंभव-सा ही था। इलाहाबाद के उन दिनों वाले दुष्यन्त की याद करते हुए धर्मवीर भारती ने लिखा, '···दोस्तियों, छायादार लंबी सड़कों, कविताओं, धूप-धुले फूलों, बहस-मुबाहसों, साइकिलों पर चक्कर लगाते छात्र-कवियों और बेलौस गपबाज़ियों और महकती फ़िज़ाओं का एक शहर हुआ करता था। इसलिए लिख रहा हूँ कि शहर अब भी है पर वह नहीं जो हुआ करता था।···तब ये नहीं हुआ था कि सैद्धांतिक मतभेदों के कारण किसी का कृतित्व नकारा जाए या व्यक्तिगत कीचड़-उछाल में मुब्तिला हुआ जाए। लोग अपनी श्रेष्ठता उत्कृष्ट रचनाओं के द्वारा स्थापित करने के आकांक्षी थे और सबसे प्यारी बात यह थी कि सारे ज़ोरदार बहस-मुबाहसों के बीच एक आत्मीयता-भरे परिहास की निर्दोष, प्यारी-प्यारी शरारतों की बारीक़ अंतर्धारा ज़िंदगी और साहित्य में एक ताज़गी बनाए रखती थी।' ···इसी ताज़गी का एक संदर्भ याद करते हुए भारती लिखते हैं—' 'निकष' के पुराने अंक कहीं मिलें तो दूसरा अंक निकालिए। बिलकुल प्रारंभ में पृष्ठ तीन पर एक कविता मिलेगी 'सूर्य का स्वागत'—सुबह के सूरज की धूप खिड़की से घर में आई है और दीवारों पर काई है, सीलन है, फिसलन है, सूरज से दीवारों पर चढ़ा नहीं जाता। कवि सूरज के आने का विश्वास खो चुका था। पर अब सूरज आ ही गया है तो उसका स्वागत है। पर कहाँ ? वहीं जहाँ मेरे बच्चे ने खेल-खेल में काई खुरच दी है। काई खुरचकर नए सूर्य के बैठाने की जगहें बनाना दुष्यन्त की कवि-कल्पना का प्रस्थान-बिंदु था। वे इसी मायने में वहाँ सबसे अलग नहीं थे।' भारती लिखते हैं—' हम सबों में अकेला दुष्यन्त था जो इलाहाबाद पढ़ने गया, उसके पहले ही पति और पिता बन चुका था। पढ़ते हुए आजीविका कमाने की समस्या लगभग हम सबों के सामने रही, पर परिवार साथ होने के कारण दुष्यन्त के सामने कुछ अधिक थी। लेकिन कमाल यह था कि निश्चिंतता और मस्ती जितनी दुष्यन्त में थी उतनी हममें से किसी में नहीं।···बीच में वह भटकता रहा इलाहाबाद से लखनऊ। लखनऊ से दिल्ली। कभी यह नौकरी, कभी वह नौकरी छोड़ी।

' इस भटकाव के बीच ही उन्हें एक दिन लगा कि क्यों न मुरादाबाद रहकर बी०टी०

कर लिया जाए जिससे अध्यापकी तो सुनिश्चित हो सके। और वे मुरादाबाद चले आए। कोरोनेशन हिंदू कॉलेज से अप्रैल, 1958 में बी०टी० कर चुकने के बाद आजीविका की समस्या तो फिर भी ज्यों की त्यों थी। पहले की ही तरह दुष्यन्त भागकर फिर इलाहाबाद ही लौटे और कभी पंत जी तो कभी बच्चन जी से इस अपेक्षा के साथ भी मिला करते थे कि उनकी मदद से रेडियो वग़ैरह में नौकरी मिल जाए। तत्कालीन परिस्थितियों में कवि दिनकर जैसे राजनीतिक तौर पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली लोगों से भी वे मिलते रहे थे किंतु जहाँ-तहाँ लिखे गए उनके इन प्रसंगों से पता चलता है कि कवि दिनकर दुष्यन्त से कुछेक कारणों से बीच-बीच में अप्रसन्न भी हो उठा करते थे।'

दिनकर जी पर सस्मरण लिखते हुए वे लिखते हैं—'मैं नौकरी के चक्कर में था और मुझे पं० इलाचन्द्र जोशी ने एक सिफारिशी चिट्ठी देकर दिनकर जी से मिलने की सलाह दी थी। जहाँ तक मुझे याद है, नौकरी के मामले में दिनकर जी ने मेरी कोई मदद नहीं की। बल्कि पं० सुमित्रानंदन पंत और श्री जगदीशचन्द्र माथुर की कृपा से मुझे आकाशवाणी में नौकरी मिली थी। कविवर बच्चन का भी उसमें काफ़ी हाथ था।' इलाहाबाद-प्रवास के दिनों में युवा कवि दुष्यन्त का अपने इन वरिष्ठ कवियों के यहाँ आना-जाना था और वे सब युवा कवि दुष्यन्त को प्रोत्साहित भी किया करते थे। बच्चन की याद करते हुए दुष्यन्त ने लिखा है कि 'उनसे मुझे अकृत्रिम स्नेह मिला।'

मुरादाबाद का अपना एक साल का प्रवास उन्होंने अपने ननिहाल वाले मकान में ही रहकर पत्नी और बच्चो सहित गुज़ारा था। बच्चों में सबसे बड़ी बेटी अर्चना की पढ़ाई-लिखाई की शुरुआत भी यहीं मुरादाबाद से हुई। मुरादाबाद मे चौ० भगवतसहाय की पहली ससुराल थी और पत्नी विष्णुदेई के निधन से पहले ही सारी जायदाद उनकी कोख से जन्मे बेटे प्रकाशनारायण के नाम पर ख़ुद उनके ससुर वकील साहब द्वारा कर दी गई थी। मुरादाबाद का यह जीवन यद्यपि सुख-सुविधासंपन्न था और एक कवि के रूप में दुष्यन्त की प्रतिष्ठा और धाक भी ख़ूब थी किंतु बाल-बच्चों सहित हमेशा रहना वहाँ सुगम नहीं था। जायदाद और मकान यद्यपि चौ० भगवतसहाय के हाथ में थे पर उनके एक साढ़ू, जिनका विवाह विष्णुदेई की छोटी बहन से हुआ था, उनसे मुकदमा जारी था। यह काफ़ी दिनों तक चलता रहा। दूसरी तरफ भेना जी यानी विष्णुदेई की बड़ी बहन का अहंकार-मंडित साम्राज्य था जिसमें दुष्यन्त जैसों का ही नहीं, राजेश्वरी देवी का भी चैन से रह पाना असंभव था। इसलिए मुरादाबाद के दिनों में ही बी०टी० करते हुए दुष्यन्त के प्रयासों के तार इलाहाबाद से निरंतर जुड़े हुए थे।

मुरादाबाद के दिनों में दस्तावेज़ों को देखने पर यह जानकारी भी मिलती है कि वे वहाँ स्काउट-गाइड भी थे और पंजा लड़ाने में चैम्पियन तो माने ही जाते थे। छोटे भाई मुन्नू जी बताते हैं कि किस तरह वे अपने हाथों में तेल की मालिश कर, आग जलवाकर

अपनी हथेलियाँ सेंका करते थे, जिससे कलाइयों की लोच और हथेलियों की सख़्ती सही मौक़े पर काम आए।

मुरादाबाद के इन दिनों में भी उनका लेखन अविराम गति से चलता रहा। 'सर्वे साहब' जैसा व्यक्ति-चित्र उनके मुरादाबाद के ही वास्तविक अनुभव की देन है। बेटी अर्चना को जिस स्कूल में भरती कराया गया था, सर्वे साहब उसी के प्रिंसिपल थे और मिजाज़ उनका शायरों का था। दुष्यन्त ने उनका जो कैरीकेयर खींचा है, वह बड़ा दिलचस्प है। ऐसा वस्तुदर्शी और जीवंत गद्य लिखने की कला का अभ्यास संभवतः इंसानी फ़ितरतों और विलक्षण बारीक़ियों को पकड़कर एक जीवंत और सरस चरित्र-बिंब खड़ा कर सकना इन्हीं दिनों से सधने लग गया था।

अप्रैल, 1958 में बी०टी०. का इम्तहान देकर दुष्यन्त कुछ दिनों के लिए ही बाल-बच्चों सहित मुरादाबाद लौटे होंगे कि रेडियो में नौकरी लग जाने का सुखद समाचार मिला और सन् '58 के ही जुलाई मास में उन्होंने अढ़ाई सौ प्रतिमाह पर स्टाफ़ आर्टिस्ट के पद पर आकाशवाणी दिल्ली ज्वाइन कर लिया।

ये ही दिन थे जब दुष्यन्त के प्रिय और 'दूसरा सप्तक' के कवि भवानीप्रसाद मिश्र भी मुंबई से ट्रांसफ़र हो उसी हिंदी वार्ता विभाग में प्रोड्यूसर के पद पर नए-नए आए थे। अपनी यादों की रील खोलते हुए भवानी भाई कहते हैं, 'दुष्यन्त का मेरा बहुत घनिष्ठ परिचय था। मैं उसको दुष्यन्त कुमार नहीं कहना चाहता, इतना घनिष्ठ परिचय था। ...58 में मेरा उससे परिचय हुआ। बंबई रेडियो स्टेशन पर से बदला जाकर में दिल्ली रेडियो स्टेशन पर जब पहुँचा तो एक संयोग है कि वो मेरे विभाग में कोई आठ या दस दिन बाद, जिसको स्क्रिप्ट राइटर कहते हैं, स्क्रिप्ट राइटर होकर आया। अब ये कोई चीज़ नहीं होती। स्क्रिप्ट राइटर रेडियो में और कम से कम दुष्यन्त तो इस लायक था ही नहीं कि वो ऐसी जगह भेज दिया जाता। तो हमने दुष्यन्त से कहा कि दोस्त ! तुम स्क्रिप्ट *राइटर नहीं हो। मैं प्रोड्यूसर हूँ, गोपाल कृष्ण कौल असिस्टेंट प्रोड्यूसर हैं, लेकिन तुम हम दोनों के पहरेदार हो।'*

भवानी भाई आगे कहते हैं, ' ऐसा साफ़ देखने वाला आदमी था और ऐसा बेलौस चोट करने वाला आदमी था, उसको यह याद दिलाने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी कि हमसे ग़लती हो जाए तो तुम हमको बता देना। तो हमने समझ लिया कि उस आदमी को अपनी तरफ़ से कह दें, ये आदमी कभी चूकेगा नहीं।

' और दुष्यन्त को देखते ही समझ गए, जो उसने अपने बालों को ऐसा झटका देकर हमसे बात की, हम समझ गए कि ये आदमी बहुत ख़तरनाक दोस्त है और इसको दोस्त की तरह हमेशा गले से लगाकर रखना चाहिए, क्योंकि वो आदमी चोट खाने पर माफ़ नहीं करता था चाहे वो चोट व्यक्तिगत हो या सामाजिक। आत्माभिमानी आदमी था।

आत्माभिमानी आदमी दुनिया में विरल होते हैं। है नहीं आदमी के पास, लेकिन हिलती है—एक पूँछ है उसके पास पूँछ नहीं थी, बिना पूँछ का आदमी था वो। मैंने उसको एक से एक वक़्त ऐसे आदमियों से बात करते देखा है और बाद में मैंने कहा कि क्या करते हो दुष्यन्त! झगड़े मोल लेते हो और''तो मुझसे कहता था कि भवानी भाई मैं झगड़े का मज़ा लूँगा''उसको ज़िंदगी में सुरक्षा का मज़ा नहीं था''सुरक्षा की उस आदमी ने कभी परवाह नहीं की।''मैंने उसे इतने पास से जाना और जब मैंने उसे एक मिनट में जाना तो मुझे लगा कि उसे बार-बार हर मिनट जानना चाहिए। क्या उपाय है ? केवल दफ़्तर में जानते हुए रहने से क्या होगा ?

' मैंने उससे पूछा उसी दिन, 'क्यों यार, कहीं घर मिल गया ?' तो उसने कहा, 'भवानी भाई ! घर तो अभी नहीं मिला।' मैंने कहा, 'घर तो मुझको भी नहीं मिला है। आज अपन दोनों निकलें और घर तलाशें।' हम दोनों निकल गए घर तलाशने। घर तो मिलता नहीं, ख़ासकर दिल्ली में। तो कई दिन हमने दिल्ली की सड़कों पर साथ-साथ छाने और साथ-साथ छने। कई तरह की बातें हुई। ऐसी बातें हुईं जिनको दोहराया नहीं जा सकता। तब वो ख़ूब जवान था और मैं भी क़रीब पैंतालीस साल का आदमी था। तो कई बार वो अपने पाप गिनाता था, दो-चार मेरे पास पड़े थे। मैंने भी उसे सुना दिए थे। और ये सब सड़कों पर होता था। किसी कॉफ़ी हाउस में बैठकर नहीं होता था। मज़े में नहीं होता था, परेशानी में होता था। घूम रहे हैं, बातचीत चल रही है, मज़ा आ रहा है, मज़ा नहीं भी आ रहा है। किसी से घर पूछने को गए, उससे सौदा नहीं पटा। दिल उदास हो गया। कुछ एक ठहाका उसने लगाया, कोई एक नई बात सुनाई—एक जगह गए थे, ऐसा हुआ था और वो जगह ऐसी जगह होती थी, जिसका वर्णन नहीं हो सकता। तो बात हमने टाल दी''फिर मुझे लगा कि ये आदमी''हम दोनों को एक घर में रहना चाहिए।

' घूमते रहे काफ़ी दिनों तक। फिर मुझे एक जगह मिल गई। पहले एक लंबी कोठरी, उसमें हम दोनों साथ। तब तक मैंने अपने परिवार को बंबई से नहीं बुलाया था। वो तो अजीब आदमी था। अपने परिवार को बुलाएगा कि नहीं बुलाएगा, इसमें मुझे बहुत शक था। और हम दोनों उसमें रहने लगे। हाथ से खाना बनाने लगे। वो उसे नापसंद था। ''ये आटा गूँथना, दाल चढ़ाना, नमक डालना, मिर्च तौलना और सब्ज़ी ख़रीदना ये सब मैं करता था लेकिन उसकी तरफ़ से। कंधे पर झोला डालकर जाता था। शाम को करोलबाग से सब्ज़ियाँ लाता और दुष्यन्त कभी हाथ नहीं लगाता था। मैं खाना बनाता था और दुष्यन्त खाता था बैठके, बिना हिचक के और कहता था, 'भवानी भाई ! अच्छा खाना बना।' और मैं दुष्यन्त से कहता था, 'यार, अगर मैं कवि नहीं होता तो रसोइया होता।' ऐसे मज़े में हमारे दिन कटते चलते गए।

' फिर मैं तो जैसे पारिवारिक आदमी हूँ। मैंने उससे कहा कि 'यार, बड़ा मकान

ढूँढ़ें' तो कहने लगा, 'अच्छी तो कट रही है।' मैंने कहा, 'बच्चे बंबई में पड़े हैं' तो कहने लगा कि भाभी को आपने खत लिखा है''जल्दी आने के बारे में ?' तो मैंने कहा, 'मैं रोज़ लिखता हूँ उसको।' तो कहने लगा, 'अच्छा, मैं तो लिखता ही नहीं हूँ रोज़ उसे।' मैंने कहा, 'दोस्त ! तेरे मन में इतना प्यार है कि बिना ख़त के काम चल जाता है। मुझे तो दिखाना पड़ता है।'

'बड़ा मज़े का आदमी था वो। कहने लगा, 'चलो ! बड़ा मकान ढूँढ़ें। कुछ उसकी इच्छा, कुछ मेरी इच्छा, पड़ोस में एक ख़ासा मकान मिल गया। तीन कमरे और जो कुछ होना चाहिए था, बाथरूम वग़ैरह, दालान वग़ैरह आगे-पीछे। और एक ऐसा कमरा जो घर से ज़रा तीन-चार सीढ़ियाँ नीचे। लंबा कमरा जिसमें दुष्यन्त रह सकते हैं मज़े में। और अगर चाहें तो बच्चों को ला सकते हैं। ऐसा मकान हमको करोलबाग में लिबर्टी सिनेमा के सामने दिल्ली में मिल गया। अब मैं उसको बीच में टोकूँ कि तू बुलाता क्यों नहीं राज (राजो भाभी) को, क्यों नहीं बुलाता, ऐसा क्यों नहीं करता ?' तो वो कहता, 'बुलाऊँगा, अब आप रोज़-रोज़ क्यों कहते हैं। बुलाऊँगा, चाहे जिस दिन बुलाऊँगा।'

'एक दिन फ़िलहाल मैंने उसे भेज दिया और वो जिस दिन बाल-बच्चों समेत आया तो कैसा पूरा आदमी आया। मैं आपसे कहता हूँ, दुष्यन्त अकेला जितना था, परिवार के साथ उससे कई गुना था। वो चाहे जितनी जगह बँटा हो, लेकिन जब वो पूरे परिवार के साथ आ गया और परिवार की जब हम लोगों से घनिष्ठता हुई तो मैं दुष्यन्त का वर्णन नहीं कर सकता।''हम लोग बड़े घनिष्ठ हो गए।'

ऑफ़िस की दिनचर्या याद करते हुए वे कहते हैं, 'रडियो स्टेशन पर काम क्या था ''जिसको वो नहीं कर सकता था और मैं कर सकता था''वो शिड्यूल बनाता था पट्ठा ''शिड्यूल बनाने में किसको बुलाना है, किसको नहीं बुलाना है, किसको काट देना है, किसको उठा देना है''और दुष्यन्त से हमने कहा कि ये तुम टेप लेकर घूमते हो इधर-उधर, ये कोई भी घूम सकता है। अपन दोनों बैठके''इस छोटी टेबल पर उस तरफ़ मैं बैठूँगा, इस तरफ़ तुम बैठो, बातचीत करेंगे। और अगर गोपालकृष्ण कौल (सहायक प्रोड्यूसर) कोई काम बता देंगे तो अपन दोनों मिलके कर लेंगे। गोपाल कृष्ण कौल कदाचित् ही हमको कोई काम बताते थे और हम दोनों मज़े में रहते थे। इस तरह हमारे रेडियो स्टेशन पर दिन कटे।'

कवि दुष्यन्त ने उन दिनों लिखी एक कविता में इस नौकरी का अनुभव बयान करते हुए एक ऐसे दानव-महल का बिंब उकेरा है जिसके गर्भगृह में किसी सुकुमारी दुलारी राजकन्या के लिए कोई एक शहज़ादा आ फँसा हो। दुष्यन्त लिखते हैं—'उस तरह मैं फँस गया हूँ''चीखती है राजकन्या कभी। कभी मेरी आस्था ही लड़खड़ाती है।' कविता सन् '58 की है जो निदेशक कार्यालय के किसी रद्द कर दिए गए काग़ज़ के पीछे की ख़ाली

जगह पर लिखी गई है।

एक और कविता में किसी लाक्षणिकता अथवा सांकेतिक बिंबात्मकता का सहारा न लेते हुए दो टूक और सपाट कथन से काम लेते हुए लिखते हैं, 'रेडियो में काम कुछ मत करो/सिर्फ़ घुटो/बहुत घुटकर चाय को/फिर फोन करने उठो/और हर एक घूँट के संग/नई ख़बर गढ़ो/अफ़सरों को गालियाँ दो/लिखो कुछ न पढ़ो।'

रेडियो में इस तरह की ऊब और निरर्थकता से भरे सृजनशून्य और रचना-विरोधी वातावरण मुंबई वाले कवि भवानीप्रसाद मिश्र ने भी कुछ कम नहीं लिखा है। इन दोनों सर्जकों को प्रतिक्रियाओं को देख ऐसा लगता है कि जन-जागरण और कला-संवेदना के लिए जिस सतत रचनात्मक वातावरण की ज़रूरत थी, उसका अभाव नेहरू शासनकाल के परवर्ती दिनों में महसूस किया जाने लगा था। इन प्रतिक्रियाओं पर सोचते हुए यह भी सोचना ही पड़ता है कि सृजनशील प्रतिभाएँ प्रत्येक वातावरण से गतिशीलता की माँग करती हैं। युवा कवि दुष्यन्त हों या प्रौढ़ कवि भवानी मिश्र, दोनों ही मिसफिट होने के अनुभवों और कोफ़्त से भरे हुए हैं।

ज़िंदगी तब इनके लिए यारों की वे महफ़िलें थीं जिनमें ये सुबह-शाम या फिर छुट्टियों के दिन या फिर देर रातों में मिल बैठा करते थे। कथाकार राजेन्द्र यादव ने इनमें से कुछेक महफ़िलों को याद करते हुए लिखा—'दिल्ली में रोहतक रोड पर मैं और दुष्यन्त काफ़ी नज़दीकी फ़ासले पर रहते थे और हम लोग रोज़ सुबह-शाम मिलते रहते थे। दुष्यन्त का काम था कभी कोई ऐसा किस्सा छेड़ देना जिससे मुझमें और राकेश में तनाव पैदा हो जाए और हम दोनों मिलकर सफ़ाई देने दुष्यन्त के यहाँ जाएँ और वहीं बैठकर उसके बाद वो कहे कि ये सब तो मेरी बदमाशी थी। इसके बाद वो बाक़ायदा विद्वानों की तरह हम दोनों को समझाता था। लेकिन एक दिन मैंने दुष्यन्त को समझाने की कोशिश की, 'अब तू काफ़ी बड़ा हो गया है। ज़िम्मेदार पद पर है। अपने अंदर कुछ सीरियसनेस और सोबराइटी ला और ये बचकाना हरक़तें बंद कर। एक तो तेरी शक्ल ही ऐसी है कि गिरहकट और उठाईगीरे का गुमान हो और फिर तेरी ये करतूतें...।' दुष्यन्त ने मुस्कराकर काइयाँ निगाहों से मेरी ओर ग़ौर से देखा कि मैं कितनी गंभीरता से अपनी बात कह रहा हूँ और फिर हो-हो करके अपनी मुरादाबादी हँसी हँसने लगा।' राजेन्द्र यादव लिखते हैं, 'बस, तभी से उसके दिमाग में बैठ गया कि वह शक्ल से भला आदमी नहीं लगता और कोई दूसरा यह बात न कह बैठे, इसलिए ख़ुद दूसरों के बारे में यही कहता फिरता है। सुबह से कमलेश्वर उसका दूसरा शिकार था...यानी कि कमलेश्वर एकदम से झूठा है, कमलेश्वर सच बोल ही नहीं सकता।...दुष्यंत मुँह में बीड़ी लगाकर बोलता है।'

यही राजेन्द्र यादव उन दिनों के दुष्यन्त को एक और ढंग से याद करते हुए कहते हैं, ' उस आदमी के बारे में अजीब-अजीब बातें मेरे ध्यान में आती हैं। वो बहुत ही ज़्यादा

गाँव से जुड़ा हुआ आदमी था जिसे कुछ हद तक क्रूड भी कहना चाहिए और कुछ क्षण ऐसे भी हैं जिनमें नफ़ासत की पराकाष्ठा दिखे। ख़ास तौर से जैसे खाने-पहनने में। बल्कि एक बार की पता नहीं वो तस्वीर मेरे दिमाग़ से कभी नहीं निकलती।

'एक बार करोलबाग में हम उसके घर आम खा रहे थे और वो जिस ढंग से आम को तराशता था, जिस नफ़ासत के साथ और जिस ख़ूबसूरती से···वो तस्वीर अभी भी मेरे दिमाग़ में एक तरह से नक़्श है···वो जो इतना लड़ने वाला था, इतना बेचैन, इतना फ़ितरती, फिर भी कोई चीज़ है, जो उसे इस तरह साधे हुए है···इसके बाद तो एकाध साल ऐसे रहे हैं, बहुत निकट के। कहना चाहिए कि बारह-बारह घंटे कभी दुष्यन्त के कमरे में तो कभी मेरे या राकेश के कमरे में—मिलना-जुलना और लड़ना—ये सारी चीज़ें होती थीं। जब दुष्यन्त आता था तो हमें लगने लगता था कि अब हमारी और मोहन राकेश की लड़ाई होने वाली है।

दिल्ली के दिन कुछ इस तरह के भी थे। दिन को होली, रात दीवाली रोज़ मनाती मधुशाला वाली यारों की महफ़िलें थीं तो दूसरी ओर के उधर नजीबाबाद के गाँव राजपुर नवादा के वे ढेर सारे पारिवारिक दबाव, बच्चों, छोटे भाई मुन्नू जी की पढ़ाई-लिखाई, फिर महानगर दिल्ली की भागमभाग और महँगे बाज़ारों के बीच छोटी-सी मासिक आमदनी। इतने में न तो ज़रूरत मुताबिक़ मकान लिया जा सकता था न घर-परिवार के सारे ख़र्चे सँभाले जा सकते थे। यही सोच-समझकर तय किया गया कि रहना मेरठ किया जाए और नौकरी दिल्ली में। पत्नी राजेश्वरी, छोटे भाई मुन्नू जी, बेटी अर्चना और बेटे आलोक की पढ़ाई-लिखाई, फिर तो एक साथ चल पड़ी। दुष्यन्त दिन-भर दिल्ली की भीड़भाड़ और भागमभाग से दो-चार होते हुए गहराती साँझों में मेरठ के उस मुहल्ले में पहुँचते जहाँ उनका भरा-पूरा परिवार उनके इंतज़ार में रहा करता।' मेरठ-वास दुष्यन्त के प्रिय कवि बच्चन की इस कोमल और मार्मिक कल्पना जैसा था :

हो जाय न पथ में रात कहीं
मंज़िल भी तो है दूर नहीं
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है
बच्चे प्रत्याशा में होंगे
नीड़ों से झाँक रहे होंगे
यह ध्यान परों में चिड़ियों के पर में भरता कितनी चंचलता है।

मेरठ के दिन कैसे गुज़रते थे, इसकी याद करते हुए नहटौर और इलाहाबाद काल के सहपाठी, मित्र और प्रसिद्ध व्यंग्य-लेखक रवीन्द्रनाथ त्यागी लिखते हैं—'नौकरी मिलने के बाद मेरी नियुक्ति सबसे पहले मेरठ में हुई। दुष्यन्त अचानक वहाँ आ गया। वह

शायद दिल्ली में रेडियो में आ गया था। दिल्ली से मेरठ, रोज़-रोज़ का सफ़र। एक और साथी रामनिवास शर्मा मेरठ में डिप्टी कलेक्टर थे। हम तीनों की फिर छनने लगी। दुष्यन्त ने एक बार मुझे काफ़ी कसते हुए कहा कि अब तुम अफ़सर हो गए; अब तुम्हारा साहित्य से क्या वास्ता ? कुत्ता पालो और 'वुड हाउस' पढ़ो। मैंने वादा किया कि मैं लिखूँगा और आख़िरी दम तक लिखूँगा। मेरी किताबें छपने पर उसे बड़ी ख़ुशी हुई।'

दिल्ली और मेरठ के इतने सारे यारों की महफ़िलों के बाद भी दुष्यन्त का मन न तो दिल्ली में लगा और न ही मेरठ में ठीक से बस पा रहा था। इलाहाबाद के अपने मित्र कथाकार मार्कण्डेय को संबोधित कर लिखी गई कविता की कुछेक पंक्तियाँ दुष्यन्त के मनोनुभूति को बहुत दूर तक प्रकट करती हैं :

सब सुराख़ें
सब किवाड़ों की दराज़ें बंद
ज़िंदगी में कभी ताज़ी हवा की गति मंद
परिचित मासूम शहज़ादा तुम्हारा
औ' रक्तरंजित रूढ़ियों के शवों से चिपटी
सदा की स्वार्थी दिल्ली
मेरे इस निडर व्यक्तित्व का रस
सोख लेने के लिए
बेचैन आतुर हो रही है
मैं कि जैसे
किसी दानव के महल के गर्भगृह में कैद
सुकुमारी दुलारी राजकन्या के लिए
निष्कृति जुटाते आ फँसा हूँ नागपाशों में।

(1958-59)

आकाशवाणी की नौकरी न भी सही, पर दिन-भर दिल्ली में ख़र्च की जाती साँसें जैसे घुटती-सी रहती थीं। दुष्यन्त चाहते थे कि वे किसी ऐसे शहर को अपना बनाएँ जहाँ खुली और ताज़ी हवाओं की पटरी उनकी मनमौजी साँसों से बैठ सके। उनका यह सोचना कितना हक़ीक़तपूर्ण और कितना मुग़ालतों से भरा था, आज कहना कठिन है। पर सही तो यह है कि एक-डेढ़ साल में ही उनका तबादला भोपाल आकाशवाणी के लिए हो गया और वे भोपाल आए तो यह शहर उन्हें दसों दिशाओं से किसी मनोहर चित्रकारी-सा लुभाने लग गया। अपनी बेशुमार छोटी-बड़ी झीलों, ऊँची-नीची, हरी-भरी पहाड़ियों के बीच किसी छोटे-मोटे हिल स्टेशन-सा यह भूगोल कवि दुष्यन्त को अपने घर-परिवार की रोज़मर्रा की

ज़रूरतों और सुविधाओं के भी काफ़ी माफिक जान पड़ा।

दिल्ली से तबादला पाकर भोपाल आए दुष्यन्त को आकाशवाणी द्वारा जो ज़िम्मेदारियाँ सौंपी.गईं उनकी सूची काफ़ी लंबी-चौड़ी है। जुलाई '60 के आख़िरी दिनों में आकाशवाणी निदेशक के कार्यालय से उन्हें दायित्वों की जो सूची दी गई, उनमें हिंदी वार्ता, नाटक, महिलाओं और बच्चों की गतिविधियों के अलावा उनके पास स्क्रिप्ट लेखन का ज़िम्मा भी था। यों दिल्ली वाली सूची से तो यह फिर भी छोटी ही थी। अढ़ाई सौ रुपए के मासिक वेतन पर स्टाफ़ आर्टिस्ट और स्क्रिप्ट राइटर दुष्यन्त को रोज़मर्रा के कामों की जो सूची वहाँ थमाई गई थी उसमें ड्रामा विभाग के लिए स्क्रिप्ट लिखना अलग और दूसरों द्वारा लिखी गई स्क्रिप्ट की चेकिंग, सहायक प्रोड्यूसर गोपाल कृष्ण कौल की विभागीय प्लानिंग और प्रस्तुतियों में सहयोग करने के साथ-साथ प्रचार-प्रसार के लिए टिप्पणियाँ लिखना और अन्य विभागीय ज़रूरतों के आ पड़ने पर समय-समय पर तात्कालिक काम करना भी शामिल था। भोपाल में यह सूची अपेक्षाकृत छोटी ही थी।

भोपाल का जीवन : मधुवन भी तो महाभारत भी

मुज़फ़्फ़रनगर, नहटौर, चंदौसी और इलाहाबाद के बाद यदि दिल्ली-मेरठ के अतिसंक्षिप्त प्रवास-काल को भुला दिया जाए तो कहना पड़ेगा कि भोपाल कवि दुष्यन्त के जीवन का मधुवन भी था और महाभारत भी। इलाहाबाद ने गीत कवि दुष्यन्त का कायाकल्प कर उन्हें 'सूर्य का स्वागत' जैसी असाधारण कविताओं का उपहार दिया तो भोपाल के जीवन ने उन्हें 'आवाज़ों के घेरे' (1962-63), 'एक कंठ विषपायी' (1963-64), 'छोटे-छोटे सवाल' (1964), 'आँगन में एक वृक्ष' (1967-69) (उपन्यास), 'जलते हुए वन का वसंत' की कविताएँ (1973) और 'साये में धूप' (1975) की ग़ज़लों की दिशा में न केवल प्रेरित किया बल्कि उनकी उर्वर प्रसव-भूमि भी साबित हुआ।

आकाशवाणी भोपाल ज्वाइन करने के कुछ ही दिनों बाद उनकी अंतरंगता रेडियो-रूपकों में काम करने वाले कलाकार भगवंत देशपांडे से हुई जो अविवाहित थे और न्यू मार्केट के जवाहर चौक वाले इलाक़े में मॉडल स्कूल के निकट एक सरकारी क्वार्टर में रहा करते थे। कवि दुष्यन्त के सम्मोहक व्यक्तित्व और उनकी चमत्कृत कर डालने वाली प्रतिभा से प्रभावित हो देशपांडे महोदय ने उन्हें अपने साथ रहने के लिए आमंत्रित कर लिया। देशपांडे खुद भी रसिकप्राण थे और जीवन को स्वाधीनताओं के साथ जीने के कायल। फिर तो दोनों की अंतरंगता बढ़ती ही चली गई।

दुष्यन्त का अपना परिवार और छोटे भाई मुन्नू जी, जो उन दिनों वहीं मेरठ कॉलेज में पढ़ रहे थे, पढ़ते रहे। आकाशवाणी भोपाल के इन्हीं दिनों की यादों में डूबते हुए कथाकार दामोदर सदन ने लिखा—' मेरी और दुष्यन्त की मुलाक़ात शायद 1960 में हुई थी। हवा में शीत-पुष्पों की महक थी और भोपाल में गुलदाउदी के फूलों का मेला लगने ही वाला था। नहीं जानता था कि यह छोटी-सी मुलाक़ात रफ़्ता-रफ़्ता दोस्ती में बदल जाएगी।

' हम लोग रोज़ाना ही मिलते थे। वह पहाड़ियों के इस ख़ुशनुमा शहर में दिल्ली से आया था। भगवंत देशपांडे के क्वार्टर पर उसने डेरा जमा लिया था जिससे उसकी मुलाक़ात रेडियो के माध्यम से हुई थी। वह रेडियो के ही ट्रांसमिशन एग्ज़ीक्यूटिव गर्ग के साथ घूमता हुआ नज़र आता था। उसकी ज़िंदगी में तब हम दो दोस्त, कुछ लड़कियाँ और एक स्कूटर था।

' दिन बड़ी तेज़ी से भागते चले जा रहे थे और उसका मोहक धारदार व्यक्तित्व मुझ पर तारी होने लगा था। वह रेडियो के लिए 'भोपाल : रात की बाँहों में' तैयार करना चाह रहा था। झींगुरों और सन्नाटे की आवाज़ को क़ैद करना चाहता था'''आज रात चलेंगे, तैयार रहना सदन[1]'''और हम लोग भोपाल रात की बातों में देखते रहे''दूसरे दिन शाम हम फिर मिले थे''वह बोला था—'क्यों यार, तुम रात में ठिठुरते रहे, कोट वग़ैरह नहीं है क्या ?' मैंने उसे बताया था कि कोट से मुझे बड़ी नफ़रत है, तो भी उसने मुझे अपना एक बढ़िया कोट दे दिया था।

' उसमें बहुत जान थी और उसका यह दमख़म मरते वक़्त तक क़ायम रहा। लिहाज़ा उसने अपने इर्द-गिर्द दुश्मनों की एक भीड़ भी जमा कर ली, क्योंकि शायद वह बिना उनके जी नहीं सकता था।

' थोड़े ही दिनों बाद जब परिवार मेरठ से भोपाल आ गया तब भगवंत देशपांडे ने अपने एक अन्य परिचित साथी, जो संयोग से देशपांडे जी की ही तरह अविवाहित थे, से यह प्रस्ताव किया कि क्यों न दोनों चिर-कुमार भगवंत देशपांडे के क्वार्टर में एक साथ रहने लगें और झुरमुरे जी का क्वार्टर कवि मित्र दुष्यन्त के परिवार के लिए पूरा का पूरा ख़ाली कर दिया जाए। हुआ भी ऐसा।

' दुष्यन्त की पत्नी राजेश्वरी त्यागी, तीनों बच्चे, छोटे भाई मुन्नू जी के अतिरिक्त हरिराय सिंह त्यागी, जो दुष्यन्त की माँ, जिन्हें वे बीबी जी कहा करते, के भतीजे भी पढ़ाई-लिखाई के निस्बत साथ ही रहा करते थे। एक भरा-पूरा परिवार कवि की ज़िम्मेदारियों में शामिल, फिर भी न वह ऊबा, न थका, न ही कभी गरुआया और परेशान दिखा। एक बड़े, भरे-पूरे परिवार का जो संस्कार उन्हें बचपन से मिला था, उसमें जिस सहजता से वे रहा करते थे, वह सहजता उसकी किसानी मानस की देन थी जिसे वे शायद ही कभी छोड़ पाए हों। हाँ, पत्नी राजेश्वरी भी कुछ दिनों बाद एक सरकारी स्कूल में शिक्षिका का काम करने लगी थीं पर वेतन की राशि प्यास लगने पर जीभ चाटने जैसी थी। इसी बीच बुरहानपुर के एक निजी महाविद्यालय ने राजेश्वरी जी को हिंदी प्रवक्ता-पद पर नियुक्ति दे दी। यह जानते हुए भी कि इस तरह परिवार दो जगहों के बीच बँट जाएगा, पति-पत्नी ने मिलकर यही तय किया कि राजेश्वरी बच्चों को लेकर बुरहानपुर कॉलेज की नौकरी करें और दुष्यन्त सुविधानुसार भोपाल से बुरहानपुर आया-जाया करें।

' राजेश्वरी जी चली तो गईं किंतु कवि के प्रयत्नों से उन्हें जल्दी ही सरकारी नौकरी यहीं भोपाल में मिल गई और वे उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में व्याख्याता के रूप में काम करने लगीं।

' आकाशवाणी की नौकरी करते हुए कवि ने जो नोट साल-भर के भीतर लिखा है

1. कथाकार दामोदर सदन

उसे पढ़कर इस निष्कर्ष पर पहुँच पाना कठिन नहीं रह जाता कि स्क्रिप्ट राइटर दुष्यन्त से मिलने-जुलने वाले ज़्यादातर लोग मतलब के यार थे और वे अपनी मुस्कानों को भी सिक्के की तरह इस्तेमाल करने की कला में माहिर थे।' वे लिखते हैं–'गत 1 सितंबर को मेरा जन्मदिन था और जिन साहित्यिक मित्रों ने मुझे बधाई दी, उनकी बधाइयों के पीछे बोलता हुआ उनका स्वार्थमय रूप मेरे ऊपर वज्र की तरह गिरा। और उसके बाद अनेक पत्रों में मेरी रचनाएँ प्रकाशित हुई जिनमें एक-दो पर अन्य पत्रों में ख़ासी चर्चा भी हुई, पर मुझे याद है, भोपाल में लेखक के रूप में बहुत कम लोगों ने मुझसे बातें कीं। यहाँ तक कि उन अनेक लेखकों ने भी–जिन्हें मैं समझता था कि वे मुझसे संबंध लेखक के रूप में रखते हैं, रेडियो-निदेशक या कॉन्ट्रेक्ट प्रदाता के रूप में नहीं–मेरी धारणा को ग़लत सिद्ध किया। और इस बिंदु पर इतनी पीड़ा और इतना मानसिक क्लेश मुझे पहुँचा कि उसकी ही प्रतिक्रियास्वरूप मैंने साहित्य पर बात करना ही छोड़ दिया। मैंने बार-बार सोचा, क्या रेडियो के अतिरिक्त मेरा और कोई व्यक्तित्व नहीं ?'

आकाशवाणी का यह जीवन एक तरफ़ उन्हें क्षुब्ध किए रहता तो शहर भोपाल चंद यारों-दोस्तों के चलते यह भी सोचने का अवसर दिया करता कि इसे घर-परिवार और ज़िंदगी-भर के लिए चुना जा सकता है। उनकी इसी सोच ने आकाशवाणी की नौकरी छोड़ देने के निर्णय तक पहुँचाया और वे केंद्र-शासन के सूचना-प्रसारण की सेवा से प्रदेश के भाषा संचालनालय विभाग की सेवा में सहायक संचालक के पद पर आ गए। अब वे आसानी से और स्थिर मन से अपनी अंतःवृत्तियों का प्रकाशन और गृहस्थी से जुड़े ज़रूरी सपनो की पूर्ति में स्वयं को केंद्रित कर सकते थे। फिर भी यह सोचने को रह जाता है कि केंद्रीय सरकार की इतनी संभावनापूर्ण नौकरी छोड़ वे प्रदेश सरकार की सेवा में क्यों चले आए ? क्या वे तबादलों से परहेज़ रखते थे ? या फिर राजधानी भोपाल का उन दिनों का वातावरण उन्हें अपने प्रति विमुग्ध कर चुका था या फिर यह कि पत्नी-बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और छोटे भाई मुन्नू जी के भविष्य की देखभाल यहाँ आसानी से की जा सकेगी। शायद ये सब कारण एक साथ रहे होंगे जिनके चलते दुष्यन्त ने दो-एक साल में रेडियो छोड़ देने का फ़ैसला किया होगा।

सहायक संचालक भाषा विभाग के छोटे-से पद के लिए कवि दुष्यन्त किस तैयारी के साथ गए, इसका ख़ाका खींचते हुए भोपाल के उनके अंतरंग मित्र न०ल० खंडेलवाल लिखते हैं–' हम सारे प्रत्याशी लोकसेवा आयोग कार्यालय में इंटरव्यू के लिए प्रतीक्षारत। देखते हैं कि एक लंबा-पूरा, गोरा-चिट्टा व्यक्ति काफ़ी बड़ी अटैची के साथ चला आ रहा है–बाल बेतरतीब बिखरे हुए, चेहरे पर एक प्रकार की व्यस्त निश्चिंतता। पता चला, ये दुष्यन्त कुमार हैं–उपसंचालक के पद के एक प्रत्याशी। काफ़ी बड़ी अटैची देखकर हमारा अनुमान था कि शायद स्टेशन से सीधे ही चले आ रहे हैं, लेकिन बात यह नहीं थी।

' उनके द्वारा लिखी हुई चंद पुस्तकें, लेखों का ज़खीरा, कविताओं की पांडुलिपियाँ आदि। चूँकि उपसंचालक-पद के लिए संस्कृत का ज्ञान भी आवश्यक था, अतः वे काफ़ी देर तक हम सबके बीच में बैठकर संस्कृत भाषा और संस्कृत ग्रंथों के बारे में एक काग़ज़ पर उतारी गई जानकारी दोहराते रहे—न जाने इंटरव्यू में क्या कुछ पूछ लिया जाए, लेकिन यह सब एक अजीब निश्चिंतता के साथ, कुछ ऐसा भाव कि अपने को संस्कृत-वंस्कृत तो आती नहीं, लेकिन दस-बीस मिनट के इंटरव्यू में किसी को इधर-उधर घुमा देने में क्या लगता है ?

' हम सबके साथ दुष्यन्त कुमार का भी इंटरव्यू हुआ—हम सबका एक बार लेकिन दुष्यन्त का दो बार। बाद में पता चला कि आयोग उनके द्वारा आवेदित उपसंचालक के स्थान पर उन्हें सहायक संचालक के लिए उपयुक्त मानकर इस पद के लिए उनकी सहमति चाहता था, इसलिए दुबारा। इस तरह दुष्यन्त कुमार अब मध्य प्रदेश शासन के अंतर्गत भाषा संचालनालय में सहायक संचालक के पद पर आ गए। '

भाषा विभाग में उनका रंग-ढंग कैसा था, इसके विवरण में जाते हुए खंडेलवाल जी लिखते हैं—' दुष्यन्त कुमार के परिचय का दायरा काफ़ी बड़ा था, जिसमें कुली-कबाड़ी से लेकर विधायक, सांसद, अधिकारी, मंत्री आदि सभी शामिल थे। उनके पास नियुक्ति, तबादले, बहाली आदि के लिए सिफ़ारिश चाहने वालों की भीड़ लगी रहती थी, साहित्यिक मित्र अलग। इन सब लोगों की वे अपने तरीक़े से मदद करते रहते थे। कभी उनके टेलीफ़ोन का डायल घूमता तो कभी उनके स्कूटर या कार की पिछली सीट पर कोई कार्यार्थी बैठा नज़र आता।

' कभी-कभी दफ्तर ही आने वालो का ताँता ऐसा लग जाता कि शासकीय कार्य गोल हो जाता। फिर निपटाने के लिए कार्य घर ले जाते, लेकिन वहाँ से भी जस का तस वापस आ जाता। जब कभी ऐसे आने वालों से तंग आ जाते तो उनसे पिंड छुड़ाने के लिए मुझे तुरंत फ़ोन करते, 'तो क्या यह मैटर आज ही भेजना है ?'

' मैं संदर्भ तलाश रहा होता तब वे फिर कहते, 'अरे, वही मैटर जिसे सेक्रेटरी साहब ने तुरंत माँगा था।'

' तब तक मैं बात को समझ चुका होता। मेरा प्रतिप्रश्न होता, 'अभी पूरा नहीं हुआ क्या ?'

' 'अरे भाई, मिलने वाले आ गए थे। अभी भेजता हूँ।'

' फिर उनके हाथ विदाई की मुद्रा में उठ जाते और आगंतुक उनसे आश्वासन लेकर या फिर मिलने का समय लेकर जा चुका होता। '

दफ़्तर की इस ज़िंदगी के बाद भी उनकी दुनिया भीड़-भाड़ और व्यस्त साँझों और कई तरह की अनुभूतियाँ लिए खड़ी रातों और योजना-भार से लदी सुबहों की थी।

इलाहाबाद के दिनों वाली शरारतें, इलाहाबाद और दिल्ली की संयुक्त हरकतें, किसी के पीर तो किसी-किसी के लिए पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर सब कुछ।

दुष्यन्त न थकना जानते थे, न ही निराश होना। जीवन उनके लिए एक ऐसा खेल था जिसमें उनका मन तरह-तरह से लगता था और उसके अनंत परिसर में वे एक ऐसे खिलाड़ी की तरह होते थे जिसकी अरुचि शायद ही किसी एक खेल में हो। निस्संदेह वे किन्हीं भी स्थितियों में अराजक नहीं थे किंतु अपनी अजस्र ऊर्जा और अक्षय जिजीविषा के चलते उनके क्रियाकलापों के लीला-रथ का पहिया शायद ही कभी थमता हो। एक संबंध से दूसरे संबंध तक एकोहं बहुष्यामि की शैली में संचरण करते जाना, एक नौकरी से दूसरी, तीसरी, चौथी के प्रति उसी ललक से देखना और कोशिशों में जुट जाना, सरकारों की अदला-बदली के अंतराल और बदले शासनकाल में शक्ति-स्रोतों की तलाश कर अपने संबंधों को बढ़ाना और अपने सामाजिक राजनीतिक रुतबे को बढ़ाते चलना उनके जीवन-चरित का वह अध्याय है जिसे हम उनकी जीवनी का मध्यकेंद्र बिंदु कह सकते हैं।

1967 के चुनावों के बाद राममनोहर लोहिया के फ़ार्मूले की सफलता साकार हुई तो मध्य प्रदेश में भी संविद सरकार आई। मध्य प्रदेश के चाणक्य मुख्यमंत्री कहे जाने वाले द्वारिका प्रसाद मिश्र की कांग्रेस पार्टी हार गई और भारतीय जनसंघ, समाजवादी पार्टी तथा कुछ अन्य स्वतंत्र दलों ने मिलकर संविद सरकार बनाई। कुछ दिनों के लिए कांग्रेस शासन से जनता इन सरकारों के प्रति नई उम्मीद से भरी आँखों से देखने लग गई। ये ही वे दिन थे जब दुष्यन्त संविद के इस शासनकाल में क्लास टू से यकायक क्लास वन ओहदे पर पहुँच आदिम जनजाति विभाग शोध अधिकारी के पद पर पहुँच गए। आदिवासी और वनवासी जीवन क्षेत्रों में घूमने और भारत के लोकतंत्र से लगभग उपेक्षित और बहिष्कृत जन-जीवन को खुली आँखों से तब वे यह सब आसानी से देख-समझ सके। लेकिन यही दिन थे जब भाषा-विभाग के अपने कुछ ईर्ष्यालु प्रतिद्वंद्वियों और कुचक्रियों के चलते वे निलंबित भी किए गए। उन दिनों की याद करती हुई राजेश्वरी त्यागी बताती हैं कि उनका मनोबल इससे टूटा फिर भी नहीं। तीन-तीन, चार-चार महीनों के लिए वे अपने गॉव नवादा चले जाते और गेहूँ के साथ-साथ मध्य प्रदेश की महँगी मानी जाने वाली सोयाबीन की फसल भी भरपूर उगाहकर एक सफल किसान का प्रमाण देते। खेतों की जुताई-गुड़ाई और फ़सलों की सिंचाई के लिए ट्यूबवेल खुदवाकर लगाना वे इस तरह करते जैसे कि यह उनके लिए मामूली बात है और पुरखों से आया हुआ उनका संस्कार हो।

सस्पेंड लोगों के जीवन की सहज साँसें अकसर लड़खड़ाने लगती हैं। तरह-तरह के भय, तनाव, थकान और निराशाएँ नागपाश-सी घेरकर इस तरह जकड़ती चली जाती हैं कि भीतर की धमनियों और शिराओं में बहती ख़ून की धार सूख-सी जाया करती है।

दुष्यन्त थे कि इन्हीं दिनों 'आँगन में एक वृक्ष' जैसा उपन्यास लिखने में डूब गए थे। उसे पूरा कर दूसरे की शुरुआत कर चुके थे। और कविताएँ तो बदस्तूर उनके जिन्हीं उत्प्रेरक अनुभवों से फूटकर काग़ज़ के पन्नों पर उतरती ही चल रही थीं। तब तक संविद सरकारों का काल बीत चुका था और इंदिरा गांधी अपने समाजवादी अभियानों के तहत बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर, आज़ादी के बाद के राजाओं और नवाबों को मिलने वाला प्रिवीपर्स छीन चुकी थीं। कांग्रेस पार्टी में विचारधारागत फूट पड़ चुकी थी और 'गरीबी हटाओ' का नारा लगाती हुई इंदिरा गांधी एक नई उम्मीद बनकर उभरी थीं। यह अलग बात है कि सर्वेश्वर आदि कवियों ने इस नारे की हक़ीक़त को बाद में एक गहरा छल माना और कविताएँ लिखीं किंतु उस वक़्त तो जनता इस नारे के झाँसे में आ ही चुकी थी और केंद्र में कांग्रेस की विजय होते ही संविद सरकार भंग कर दी गई।

राजनीतिक परिदृश्य पर ये चढ़ाव-उतार इतने आनन-फानन और चमत्कारी ढंग से हुए कि कहना मुश्किल। कवि दुष्यन्त ने राजधानी भोपाल में रहकर यह सब न केवल बहुत क़रीब से देखा, बल्कि भीतरी सतहों पर चल रही उन घटनाओं का साक्षात्कार भी किया जो सत्ताओं की आवाजाही, अदला-बदली और सत्ता-संस्थानों और उनके चरित्रों के बदलाव में कार्यकारी भूमिकाएँ निभाती हैं। प्रदेश में कांग्रेस शासन के लौटते ही दुष्यन्त के कई पुराने परिचित चेहरे फिर से निर्णायक स्थिति में आ गए। चीन और पाकिस्तान से हुए युद्धों के बीच जनजागरण करने वाली देशभक्तिपूर्ण कविताओं को लिखकर मंचों पर अपने ओजस्वी कंठ का प्रभाव छोड़ने वाले बालकवि बैरागी कांग्रेस पार्टी ज्वाइन कर मंत्री बन चुके थे। दुष्यन्त की ताक़त बढ़ गई थी और वे दुबारा साधिकार सेवा में आ गए थे।

एक अतिसंवेदनशील, निडर और ख़तरों से खेलने वाला जैसा जीवन-स्वभाव लेकर वे पैदा हुए थे। उसमें शायद ही कभी कोई बाधा-बिंदु रहा हो। रहा भी हो तो उन्होंने उसे कोई तरजीह कभी दी हो, इसके उदाहरण नहीं मिलते। ख़तरों से खेलने की अपनी इन्हीं पुरानी और जानी-पहचानी आदतों के चलते उन्होंने 'ईश्वर को सूली' जैसी कविता बस्तर में सरकार द्वारा नियोजित ढंग से कराए गए नृशंस गोलीकांड के विरुद्ध लिखी। बस्तर के आदिवासियों के ईश्वरतुल्य उनके राजा प्रवीणचंद भंजदेव सरकार की गोलियों से निहत्थे मार डाले गए थे। शासकीय अधिकारी दुष्यन्त ने न केवल कविता लिखी, बल्कि इतने सारे अप्रसन्न काज़ियों और ईर्ष्यालुओं के प्रति लापरवाही दिखाते हुए उसे 'कल्पना' त्रैमासिक (हैदराबाद) में प्रकाशित भी करवा लिया।

25 मार्च-अप्रैल, 1966 के बीच लिखी इस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

क्षत-विक्षत लाश के पास
बैठे हैं असंख्य मुर्दे उदास
और गोलियों के ज़ख़्म देह पर नहीं हैं
रक्तस्राव अस्थि मज्जा से नहीं हो रहा है।

एक काग़ज़ का नक्शा है
ख़ून छोड़ता हुआ।
एक पागल निरंकुश श्वान
बौखलाया-सा फिरता है उसके पास
शव चिचोड़ता हुआ

ईश्वर उस 'आदिवासी ईश्वर' पर रहम करे।
सत्ता के लंबे नाख़ूनों ने जिसका जिस्म नोच लिया।

इतिहास न्याय करे—
मुझ जैसे चंद बदज़बान और बेशऊर लोगों के साथ

मैंने सोचा था—जब किसी को दिखाई नही देता
मैं भी बंद कर लूँ अपनी आँखें

एक ज्वालामुखी फूट रहा है।
घुल जाने दूँ लावे में
तड़प-तड़पकर एक शिशु—
प्रजातंत्र का भविष्य
जो मेरे भीतर मीठी नींद सो रहा है

मैंने चाहा था"
कि मैं चुप रहूँ, न बोलूँ।
एक मोटा-सा परदा पड़ा है
उसे रहने दूँ, खिड़की न खोलूँ।"

कवि पर-क्या ऐसा कर पाया ? कर पाता तो क्या वह स्वयं को कवि कहलाने का अधिकारी ऐसी स्थितियों में पाता ? वह जो सत्ता के गलियारों की आवाजाही जानता था, आता-जाता था, किन्हीं भी स्थितियों में तब तक राजपथों के विरुद्ध था जब तक सबके लिए पगडंडियाँ नसीब न हो सकें।

उन्हीं दिनों एक और कविता 'आत्मालाप' में उसने अपने एक दोस्त के समक्ष अपना पक्ष घोषित करते हुए लिखा, 'सिर्फ़ तुम्हें राजपथ पसंद है/गलियों की धूल में भटकना नहीं आता/पर मेरा नाता/इन्हीं गलियों में बसे किसी घर से है।' और यहाँ—'पूरे का पूरा वातावरण है उदास/अजीब दर्द व्याप्त है : बेपनाह दर्द//बेपनाह आँसू/गर्मी और प्यास।'…(भारतीय रेल में हर क्षण दुर्घटना का भय) जैसे।

'ईश्वर को सूली' जैसी सरकार-विरोधी कविता एक सरकारी अधिकारी लिखे और वह भी सीधे-सीधे अपने असली नाम से तो निश्चय ही उसने परिणामों के बारे में भी सोच लिया होगा। पर जीने वाले प्रायः परिणामों के बारे में नहीं सोचते। उनकी आत्मा उन्हें हर बार इस बिंदु पर आ खड़े होने को विवश कर डालती है। दुष्यन्त ने भी इसी असाधारण नैतिक लाचारी के तहत इसे लिखा होगा और जब तत्कालीन मुख्यमंत्री डी०पी० मिश्रा ने जवाब तलब किया तो कवि दुष्यन्त की उसी आत्मा ने उसी अंदाज़ में यह भी कहा, 'पंडित जी ! आप तो जानते हैं कि कविता लिखी नहीं जाती, हो जाती है, हो गई।' कवि मित्र मनमोहन मदारिया ने आगे का किस्सा बयान करते हुए लिखा—'मिश्र जी स्वयं कवि थे, उसे वार्निंग दी, 'देखो, ऐसी हरकत आगे न दोहराना।' मगर उसने कहाँ उस वार्निंग को गंभीरता से लिया। इंदिरा गांधी ने देश में आपातकाल लगाया नहीं कि कवि दुष्यन्त ने जनता की अदालत में बेख़ौफ़ खड़े हो लोगों से कहना शुरू कर दिया :

एक गुड़िया की कई कठपुतलियों में जान है
आज शायर, ये तमाशा देखकर हैरान है।
एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यों कहो
इस अँधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।

जिस राजधानी भोपाल में आज़ादी के पच्चीस साल पूरे होने पर जश्न मनाए गए, कुछ कवियों-लेखकों ने मिलकर उत्सव-73, उत्सव-74 मनाया था, उसी राजधानी भोपाल में कवि दुष्यन्त इस तरह की अभिव्यक्तियाँ करते हुए अपनी कई कविताओं में एक पंक्ति बार-बार दुहरा रहे थे—'इतिहास मेरे साथ न्याय करे' गोकि :

मुझे अनुभव के नाम पर परिस्थिति ने
कोड़ों से पीटा
…
मेरे आगे और पीछे किसी ने
दिशा-दंशी सर्प छोड़ दिए थे

एक नीम का स्वाद मेरी भाषा बना
जो सिर्फ़ तल्ख़ी का नाम है
एक ऐसा अपवाद मेरा अस्तित्व
जो मेरे नियंत्रण से परे
एक जंगल की शाम है।

जिन परिस्थितियों की ओर दुष्यन्त ने इशारे किए हैं, उनकी कहानी जैसे किसी सघन कँटीले जंगल-सी हो। यों प्रत्येक संवेदनशील अस्तित्व के लिए ये देश और उनकी पीड़ा शायद ही कभी कम रही हो पर दुष्यन्त की अन्याय-प्रतिरोधी अंतःवृत्ति और उठकर भिड़ जाने का स्वभाव कुछ ऐसा था कि उसमें अगले परिणामों की चिंता और ख़ौफ़ के लिए कोई जगह नहीं थी। वे निरंतर जलते हुए एक ऐसे वन के वसंत थे जिसमें लताओं का पलुहना, फूलों का खिलना और सूखती टहनियों की रगड़ से चिनगारियों का निकलकर लपटों में तब्दील हो जाना अकसर साथ-साथ घटित हुआ करते थे। इन अनुभवों की ढेरों प्रत्यक्ष छायाएँ उन दिनों लिखी कविताओं में सटीक बेजोड़ बिंबों से झाँक रही हैं। सच है, इन दिनों रची कई कविताओं की कल्पनाएँ यथार्थ के तीख़ेपन से विदीर्ण हो उठी हैं और भाषा का स्वाद नीम जैसा कसैला हो उठा है। कारण यही है कि यह कविता किसी को चौंकाने या आतंकित करने की ग़रज़ से नहीं लिखी जा रही है। यहाँ अंतर्राष्ट्रीय मुद्राएँ और मुखौटे नहीं हैं बल्कि सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों के कटखने यथार्थ की पीड़ा, उत्तेजना और दबाव है। अभावों और उनके द्वारा उत्पन्न उलझावों और अनथक जिजीविषा की द्वंद्वयात्रा, डपट और चीख़ भी है। कविता कवि के लिए एक हथियार है। एक जीवन-विश्वास जिसे वह दूसरों से पहले अपने लिए बरतता और परखता है। इस रूप में वह उसका प्रथम 'भोक्ता' भी है। एक यातनाग्रस्त भोक्ता, जो अपनी निजी पीड़ाओं के अँधेरों और व्यक्तिगत कुरुक्षेत्रों से निकलकर उन समरभूमियों की दिशा में चल पड़ता है, जहाँ उसकी पीड़ा केवल उसकी पीड़ा नहीं रह जाती, उसके पाठक-समाज की पीड़ा भी बन जाती है।

इलाहाबाद के दिनों से ही दुष्यन्त की असहमति परिमलवादियों से इस कारण भी थी कि वे अपनी रचनाशीलता को विशिष्टता और अद्वितीयता के नाम पर संवादशून्य अभिव्यंजनाओं के हिमायती थे। कला और कलाकार की स्वायत्तता, स्वतंत्रता और स्वाधीनता की इतनी पुरज़ोर वकालत परिमलवादी किया करते थे कि कला और कविता का प्रतिसंसार सामान्य किंतु काव्योन्मुख पाठक के लिए प्रायः असम्प्रेष्य हो उठता था। दुष्यन्त ने हिंदी कविता के पाठकों की चिंता सबसे पहले की और बिंबधर्मी काव्य-वक्तव्यों की एसी पद्धति तलाशने की कोशिश की जिसमें संवाद और संप्रेषण-कला का वर्चस्व हो। जो कविता को पाठकों के करीब ले जाए और काव्य-पाठक अपनी भाषा के मुहावरों में

रची कविता से अपनत्व महसूस कर सकें। इसमें सबसे बड़ी भूमिका उन अनगढ़ कच्चे अनुभवों की थी, जो पाठकों के जीवन के आसपास के और लगभग जाने-पहचाने थे। कवि तो सिर्फ़ उन्हें एक पकी हुई अभिव्यंजना में बदलने का काम कर रहा था। जैसे कोई एक लुहार किसानों के हँसियों-हथौड़ों को अपनी भट्ठी की आँच में तपाकर नया तेज और नई धार दे देता है। कवि भला और करता भी क्या है ? दूर की कौड़ी लाकर या फिर अनुभवों की जानी-पहचानी ज़मीनों से कविता को कल्पनाप्रसूत अनुभवों के अनजाने क्षितिजों की ओर ले जाने की कला से कवि दुष्यन्त कभी भी सहमत नहीं हो पाए। इसका प्रमाण उनके पौराणिक काव्य-नाटक 'एक कंठ विषपायी' (1963) से मिलता है। यों धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' (1954-55) हिंदी काव्य-नाटक का प्रवर्तन जैसा करता आता है। किंतु इस विधा और अपनाए गए शिल्प की विविधता और शैली भिन्नता नरेश मेहता के 'संशय की एक रात' और कुँवर नारायण के 'आत्मजयी' में देखी जा सकती है। यह भी सोचा जा सकता है कि 'महाभारत', 'रामायण', 'रामचरितमानस' की कथाओं के बाद दुष्यन्त कुमार क्यों शिव महापुराण की ओर जाते हैं और क्यों कुँवर नारायण उपनिषद के नचिकेता की ओर। यह भी कि कुँवर नारायण जीवन और मृत्यु के प्रश्न से उलझ रहे हैं तो शेष तीनों युद्ध की भयावह प्रक्रियाओं और विकराल परिणामों को लेकर तनावग्रस्त हैं।

दुष्यन्त के एक जीवनीकार के रूप में मेरे सामने सबसे बड़ा सवाल यही है कि वे राम-कृष्ण का अपना काव्य-नायक न चुनकर क्यों आदिदेव शिव को चुनते हैं ? उनके अनुभवों की वह कौन-सी माँग है—जो उन्हें शिव की कल्पना तक ले जाती है ? कहीं इसलिए तो नहीं कि खुद दुष्यन्त का वह जीवन जो असाधारण ऊर्जा और असामान्य मानापमानों-लांछनों, आहत स्वाभिमान और जगह-जगह से शरविद्ध था। ऐसी स्थितियों में क्षोभ की पराकाष्ठा और अपने दुर्दम पौरुष की परीक्षा क्या अनिवार्य नहीं हो उठा करती ? किंतु देखना यह भी तो पड़ता है कि इन सबका क्या कोई लोकपक्ष भी है ? इसी तरह काव्य-कलाओं का भी कोई लोकधर्म है ?

तरल-मधुर गीतों की भावपरक भावभूमि छोड़कर यथार्थ की जिस काव्यभूमि पर दुष्यन्त उतर आए थे उसका चरित्र अत्यन्त दुविधापूर्ण और उलझनमय था। वे दुविधाओं के पार जाने की इच्छाएँ लिए हुए उलझनों को आनन-फानन में अपनी कविताओं की मदद से सुलझा लेना चाहते थे ? वे यह समझना चाहते थे कि परंपरा और नवीनता के संबंध बिंदु क्या हुआ करते हैं। 'एक कंठ विषपायी' के एक पाठक को पत्र लिखते हुए वे लिखते हैं—'नए मूल्यों को परंपरा का खाद लगता है। साथ ही यह भी कि पुराने लोग नए लोगों का, पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी का और नए मूल्यों का विरोध करती है, यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। *परंपरा से जुड़ा हुआ हर व्यक्ति परंपरा के टूटने पर क्षुब्ध ही नहीं होता, ख़ुद भी टूट जाता है।'' किंतु जो महान् व्यक्तित्व होते हैं, वे परंपरा से कटकर नए मूल्यों को अंगीकार*

कर लेते हैं। शंकर ने जिस प्रकार थोड़े ही समय में नई स्थितियों को स्वीकार किया''' इसलिए उन्हें 'एक कंठ विषपायी' कहा गया है। पहले भी सिंधु-मंथन के समय शंकर ने विष पिया था, फिर परंपरा के टूटने का विष भी उन्हें ही पीना पड़ा।' यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि इस पुराण-कथा को काव्य-नाटक में ढालने की प्रेरणा कवि को अनंतमराल शास्त्री से मिली थी जो उस वक़्त भाषा विभाग में ही संचालक थे।

यद्यपि कवि की परंपरा संबंधी इस व्याख्या से हर एक का सहमत होना कठिन है, फिर भी उसका यह संकेत तो साफ़ पकड़ में आता है कि परंपरा आधार-रेखा का काम करती है। वह एक ऐसी टहनी है जिसमें से नई फुनगियाँ फूटती रहती हैं। खुद दुष्यन्त की सृजनशीलता को अगर समझना पड़े तो क्या इसी उदाहरण के ज़रिए नहीं समझा जा सकता ? निस्संदेह कवि दुष्यन्त निजी जीवन-संदर्भों में भी इन प्रश्नों से टकराते रहते थे। खेती-बारी, गँवई जीवन के सामंती अनुभव, फिर इलाहाबाद का प्रखर बौद्धिक और पश्चिम आक्रांत परिवेश और इनके बीच तमाम वैचारिक संकीर्णताओं के आरपार होने और आने-जाने वाला जीवन और जीवनानुभव, एक तरफ़ कविता का अतिबौद्धिक, जटिल, गूढ़, अमूर्त वातावरण, दूसरी तरफ़ प्रत्यक्ष ठोस यथार्थ की प्रकट आवाजाही और जीवन-संदर्भ आख़िर दुष्यन्त के लिए क्या सुकर था ? वे अतिबौद्धिकता के हामीकार नहीं थे। भावप्रवणता को काव्य-सृजन के लिए एक अनिवार्य उपादान मानते थे और अनुभवों से उपजी कल्पनाओं में उस काव्यगत नवीनता को देखा करते थे जो उन्हें परंपराओं की कोख से झाँकती नज़र आया करती थी।

'एक कंठ विषपायी' के दिनों में वे इस सवाल में उलझे हुए थे किंतु उनकी एक और निगाह इस पर भी थी कि मिथक का पुनर्प्रयोग किसलिए और किस विधि से किया जाए ? मिथक क्या है, इस पर लंबी-चौड़ी बहसें हैं। रोमिला थापर लिखती हैं—'एक स्तर पर मिथक एक सीधी-सादी कहानी, एक आख्यान है। एक अन्य स्तर पर वह उन समाहारकारी मूल्यों को प्रतिबिंबित करता है जिनके गिर्द समाज संगठित होता है। वह विश्वासों को संहिताबद्ध रूप देता है, नैतिकता की रक्षा करता है, कर्मकांड की प्रभावकारिता का विश्वास दिलाता है और सामाजिक रीति-नीति प्रस्तुत करता है। यह मनुष्य के अतीत के कार्य-व्यापार का तर्क प्रस्तुत करता है, भले ही इसकी अभिव्यक्ति तर्कविहीन रूप में हो। जब तक यह विश्वास का घोषणा-पत्र बना रहता है तब तक सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहता है'''विश्वास के घोषणा-पत्र के रूप में यह सांस्कृतिक सातत्य की रक्षा करने में सहायक होता है और अपने विषय के माध्यम से सांस्कृतिक संतुलन का एक बिंदु सामने रखता है।'

ये मिथक क्यों प्रत्येक युग में दुहराए जाते रहते हैं। इसका उत्तर खोजती हुई वे लिखती हैं—'*एक ही मिथक को,* शायद कुछ संशोधनों के साथ, काल दर काल दोहराते

रहने का उद्देश्य कुछ तो यह होता है कि 'संदेश' सभी तक पहुँचता रहे और कुछ यह कि उसमें युगानुरूप कुछ नई बातें जोड़ दी जाएँ।' आगे एक और वाक्य में वे कहती हैं—'प्रत्येक बड़ा मिथक विस्तृत विश्लेषण का विषय हो सकता है।'

रोमिला जी के इस कथन के परिप्रेक्ष्य में जब हम 'अंधायुग' और 'एक कंठ विषपायी' जैसी कृतियों का पुनरावलोकन करते हैं तब अपनी चमत्कारी प्रभाव-क्षमता और अनूठे नाट्य शिल्प के बावजूद अपने आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का यह कथन याद हो आता है जो उन्होंने मुझे अपना लघु प्रबंध लिखने से पूर्व इस कृति के विषय में निर्देश देते हुए कहा था। उनके ठीक-ठाक शब्द तो अब ज्यों के त्यों याद नहीं, पर थे कुछ इसी तरह के कि आज़ादी मिले अभी छह-सात साल भी नहीं हुए हैं तो यह कैसे मान लें कि 'अंधायुग' हमारा सामाजिक और ऐतिहासिक यथार्थ है ? संभवतः उनके ध्यान में वह महान् राष्ट्रीय आंदोलन भी था जिसके बल पर हम आज़ाद हुए थे। याद पड़ता है, उन्होंने यह भी कहा था कि 'महाभारत' हमारी परंपरा की एक महान् कृति है। उसे इस निगाह से देखना और पुनर्व्याख्यायित करना इतर-भारतीय दृष्टि है जिसमें नैराश्य, क्षोभ और लाचार आस्तिकता है। उनका इशारा यह भी था कि मिथक का इस्तेमाल लोकचेतना के विकास और समृद्धि के लिए किया जाना चाहिए, न कि उन दृष्टियों के प्रवर्तन के लिए जो आधुनिक होकर भी भारतीय नहीं हैं।

बाद में उन्होंने जब इस काव्य पर कलम उठाई तो लिखा—'महाभारत युग को या उसके किसी अंश विशेष को 'अंधायुग' कहना उक्त भारतीय महाकाव्य के प्रति अन्याय है। यद्यपि कवि को अधिकार है कि वह अपनी कलम के अनुरूप विभिन्न स्थलों की सामग्री का उपयोग करे। परंतु इतिहास के लिए यह एक बड़ा अतिचार भी है। विशेषकर महाभारत ग्रंथ के महत उद्देश्य के प्रति (जो लेखक ने की है) और भारतीय संस्कृति के प्रति भी अन्याय है।...कृष्ण को स्वीकार कर शेष सबको अस्वीकार करना, अर्द्धसत्य से अधिक कुछ नहीं है...। 'अंधायुग' में कवि का दृष्टिकोण प्रायः सर्वत्र निषेधात्मक है।'

यही आचार्य वाजपेयी दुष्यन्त की युग दृष्टि में कहीं अधिक संतुलन का बोध पाते हैं। संभवतः इस कारण भी कि इसमें 'शंकर और देवताओं के अतिरिक्त सर्वहत तथा सामान्यजनों के चरित्र और विचार-प्रतिक्रियाएँ भी समाहित हैं।

'अंधायुग' के प्रति आचार्य वाजपेयी इतनी प्रतिकूलता से क्यों भरे हुए हैं, इसका खुलासा तब होता है जब हमें उनका यह वाक्य पढ़ने को मिलता है—'भारती 'अंधायुग' को दुखांत की भूमिका पर ले गए हैं, जबकि नरेश मेहता ने रामकथा के प्राकृत स्वरूप को सुरक्षित रखा है।' संदर्भ यहाँ 'संशय की एक रात' (नरेश मेहता) और 'अंधायुग' की तुलना का है।

मिथक अगर सचमुच एक पवित्र इतिहास है जैसा कि रोमिला थापर लिखती हैं और

वह जातीय विश्वासों का घोषणा-पत्र भी है तब उसकी पुनर्सृष्टि करते समय परंपरा की संचित शक्ति और भविष्य के सपनों की ऊर्जा का संयोग बेहद ज़रूरी हो उठता है। इसके बगैर तो मिथक की रचना दुहराव या विकृति-भर है। परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व और संधि-बिंदुओं के प्रति कवि दुष्यन्त जैसा दृष्टिकोण रखते थे, उसकी परिपुष्टि 'एक कंठ विषपायी' में होती दिखाई देती है। उनकी यह कृति भोपाल आने के कुछ ही दिनों के बीच लिख ली गई थी और संदेह नहीं कि यह कथा उनके भीतर इलाहाबाद के दिनों से ही पनप रही हो। यह भी याद करने योग्य है कि दुष्यन्त एक ऐसे देवता को चुनते हैं जो अपनी रहन-सहन में अनभिजात, कदाचित् आदिम किंतु अपने रागों में बेहद गहरा है। स्वभावतः मानवोचित भी।

भोपाल के दिनों में ही जिस तरह के राजनीतिक बदलाव और सत्ता-परिवर्तन हो रहे थे, उनका असर उनसे जुड़ी साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं पर भी पड़ रहा था। इन्हीं दिनों से पहले या आसपास कवि की मित्रता रमेश बक्षी, शानी और शरद जोशी से भी हुई। रमेश बक्षी, शानी और शरद जोशी सब तो उसी तात्या टोपे नगर में रह रहे थे जिसे आजकल टी०टी० नगर कहते हैं। रमेश बक्षी तो कुछेक दिनो के बाद 'ज्ञानोदय' के संपादक होकर चले गए और शानी मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद के सचिव। यह सातवें दशक का ठीक मध्यकाल था जब राजनीतिक उथल-पुथल भी कुछ कम नहीं मची थी। द्वारिका प्रसाद मिश्र की तानाशाही प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए श्यामाचरण शुक्ल मुख्यमंत्री बन गए थे और इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री के रूप में स्वयं को अधिकाधिक प्रभुता-संप्रन्न करने में लगी हुई थीं। बाद के सालों में उन्होंने मुख्यमंत्रियों की एक प्रकार से नियुक्तियाँ करनी शुरू कर दी थीं और इसी क्रम में अपने सबसे क़रीबी और विश्वस्त प्रकाशचंद्र सेठी को मध्य प्रदेश का मुख्यमंत्री बनाकर भेजा। श्यामाचरण शुक्ल को जाना पड़ा। इसी दौरान राज्यपाल के रूप में बाबू सत्यनारायण सिंह मध्य प्रदेश के राज्यपाल होकर आ गए।

दूसरी ओर युवा कवि और 'फिलहाल' जैसी कृतियों के आलोचक अशोक वाजपेयी सीधी के कलेक्टर पद से स्थानांतरित होकर एक साहित्यिक नौकरशाह के रूप में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर अति सक्रिय हो उठे और इसकी पूर्ति के लिए शासन और सत्ता संस्थान का उपयोग करने में लग गए। कारण जो भी रहे हों, पर यह तो आँखों देखा सच था कि वे धीरे-धीरे स्वयं साहित्य के एक सत्ता-संस्थान बनते चले गए। प्रारंभिक दिनों में तो शरद जोशी भी उनकी योजनाओं में सहयोग करते रहे, पर धीरे-धीरे उन्हें भी इस अनुभव से दो-चार तो होना ही पड़ा कि तुलनात्मक तौर पर अशोक वाजपेयी की प्रतिभा और सृजनशीलता भले ही शानी, दुष्यन्त कुमार और शरद जोशी से कम हो, किंतु सत्ता में होने के कारण वे साहित्य के अधिनायकत्व की ओर बढ़ने लगे हैं और एक खास प्रकार

की साहित्यिक शैली और काव्यरीति को बढ़ाने और पनपाने के पक्षधर हैं जो उन्हें साहित्य के केंद्र में ला सके।

जहाँ तक मेरी अपनी जानकारियाँ हैं, दुष्यन्त कुमार उत्सव-73 में उस हैसियत से बुलाए नहीं गए थे जिसके कि वे सचमुच अधिकारी थे। तब तक उनके दो कविता-संग्रह, एक काव्य-नाटक, दो उपन्यास तो प्रकाशित हो ही चुके थे, अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उन दिनों प्रकाशित होने वाले वे मध्य प्रदेश के एक प्रतिष्ठित रचनाकार भी थे। पर इन्हीं दिनों अपने पुराने मित्रों—शानी और शरद जोशी—द्वारा अकेले छोड़ दिए गए थे, अपने आत्माभिमान की आग में धधकने और जलने के लिए। उस दौरान उनकी मानसिक स्थिति कैसी थी और वे क्यों डी०के०टी आदि छद्म नामों से राजनीतिक लेख आदि लिखकर अपनी आक्रामकता और क्षोभ की अभिव्यक्ति कर रहे थे, इसे सिर्फ़ पढ़कर जाना जा सकता है। इस काल में उन्होंने तरह-तरह की विपुल गद्य रचना की और साहित्यिक शोर और शहर के एक ख़ास तरह के सन्नाटे में हस्तक्षेप किया।

1972 में उन्होंने जो सबसे बड़ा बुनियादी सवाल उठाया वह आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। वह सवाल था—'साहित्य सत्ता की ओर क्यों देखता है ?' उनका इसी शीर्षक का एक बड़ा लेख 19 नवंबर, 1972 के 'नई दुनिया' इंदौर के पृष्ठों पर 'अक्षर विश्व' के अंतर्गत छपा। इस लेख में सत्ता-राजनीति, लेखक-राजनेता और हिंदी लेखकों के दोहरे चरित्र और यथार्थ-विरोधी आत्मकेंद्रित समझ की दो टूक व्याख्या की गई है। उस हीनताग्रंथि, छद्म मुद्रा और नाटकीय मनोदशा पर भी प्रहार किया गया है जो दुष्यन्त के अनुभवों में आई थी। यह लेख कवि की सामाजिक समझ और लेखक जीवन के बारे में उसकी गहरी पैठ का उत्तम उदाहरण है। दुष्यन्त की जीवनी के पाठकों के लिए मैं लेख की इन अंतिम पंक्तियों को उद्धृत करना ज़रूरी पा रहा हूँ—'हिंदी के लेखक की दिक्कत यह है कि वह सिद्धांत और नीतियों से ज़्यादा व्यक्ति का विरोध करता है। मेरा सुझाव यह है कि हम विरोध के सहारे पहचाने जाने की नीति त्यागकर एकात्मकता के सहारे आगे बढ़ें। राजनीति और राजनीतिज्ञों से, सत्ता और शासकों से डरने या चौंकने की ज़रूरत नहीं और न उन्हें चौंकाने की ही ज़रूरत है। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि हम लघुता के 'कॉम्पलेक्स' से निकलें और राजनीतिज्ञों को साहित्य में आने दें और खुद राजनीति में जाएँ। हम अपनी सामाजिक चेतना पर खुश हो सकते हैं, पर इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकते कि राजनीतिज्ञ की जड़ें समाज में दूर-दूर तक होती हैं। जिस दिन साहित्यकार की जड़ें जनता में उतनी गहरी होंगी, सत्ता खुद नमन करने उसके पास आएगी।'

दुष्यन्त खुद चूँकि सरकारी नौकरी में थे इसलिए उन्होंने यह स्पष्टीकरण करना उसी लेख में ज़रूरी समझा कि 'कुछ लेखकों ने साहित्यिक जनता में यह भ्रम फैला रखा है

कि शासकीय तंत्र में फँसा हुआ लेखक बहुत निरीह होता है और हम उसकी आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं।' पर मुझे ऐसी परतंत्रता का कभी अहसास नहीं हुआ। मैंने लेखक और सरकारी नौकर दोनों को अलग करके देखा है और जैसा कि हरिशंकर परसाई ने 'शंकर वीकली' में लिखा भी था—'जब कवि जागृत होता है तो अफ़सर ड्यूटी पर चला जाता है। दफ़्तर के बाहर शासकीय तंत्र में फँसे अन्य अनेक लोगों की तरह मैं भी बराबर बड़ी एहतियात से अपने कवि की भावनाओं की रक्षा करता आया हूँ। फिर वे चाहे शासन को रुचें या नहीं रुचें।' याद दिलाने की शायद ज़रूरत पड़े कि ये वही कवि दुष्यन्त थे जिन्होंने बस्तर गोलीकांड के ख़िलाफ़ कविता लिखी और 'कल्पना' के पृष्ठों पर छपवाई थी, जबकि कथित शुभचिंतकों ने कवि को बहुत डरवाया था।

अपने सर्जक को लेकर उनकी सचेतनता और चिंता कितनी थी, वे उसे किस-किस तरह बचाते और अक्षुण्ण रखने की सावधानी बरता करते थे इसकी एक मिसाल यह कि आकाशवाणी भोपाल आए उन्हें एक साल पूरा हुआ ही था कि उन्होंने लिखा, 'तीन ऐसे आत्मज मित्र मिले जिन्हें अपने से अलग करके सोचने की मैं कल्पना भी नहीं कर पाता। लेकिन दूसरी ओर भावनात्मक स्तर पर शायद इन्हीं कारणों से विसंगतियाँ भी उत्पन्न हुईं। ऐसी तिक्त और विषम संवेदनाओं ने जन्म लिया कि व्यक्तित्व की मेरी सृजनात्मक प्रतिभा की बुनियादें काँप उठीं। अनुभवों की प्रखरता और अनुभूतियों का ऐसा प्रबल ताप जीवन में कभी नहीं सहा था। शायद इसी कारण यह वर्ष सृजन की दृष्टि से बहुत हलका गया। पर मन को यों समझा लेता हूँ कि अभी सृजन की भूमि में प्रेरणाओं की खाद पड़ रही है।' ये वही दुष्यन्त हैं जो अपने प्रारंभिक दिनों में एक कविता लिखने के बाद ठीक नीचे यह नोट लगाते थे कि 'इस कविता को लिखते समय मूड ऐसा बना लेना है जो इसी में खो जाए...कंपलीट करते वक़्त कोई ग़लती न रह जाए।'

जितनी आत्मसजगता वे यहाँ बरतते थे, उतनी ही चौमुखी सतर्कता वे चारों ओर की परिस्थितियों के प्रति भी दिखाया करते थे जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अपमूल्यों को बढ़ावा दे रही थीं। उनका अधिकांश गद्य लेखन इन दिनों की छोटी-बड़ी घटनाओं और बड़े-छोटे सक्रिय लेखकों की कहानियाँ समेटे हुए हैं। भवानी भाई का कहा हुआ वाक्य कि दुष्यन्त चोट करने में शायद ही कभी चूकता हो, उनके इस लेखन में जगह-जगह मौजूद है। पर भोपाल शहर राजधानी भी है, बक़ौल शरद जोशी—'जहाँ कंधे झटकते रहना, उचकाते रहना आम आदत है और वाह-वाह करने के पूर्व हर दर्शक या श्रोता यह पता लगा लेता है कि शे'र पढ़ने वाला क्लास वन है या क्लास टू, गजेटेड या नॉन गजेटेड, और उसी के अनुपात में प्रशंसा करता है।' दुष्यन्त रेडियो वाली नौकरी के दिनों से ही इस अनुभव से गुज़रने लगे थे, कि यहाँ एक साहित्यिक मंडी भी है और ज़्यादातर रिश्ते बाज़ारू हैं। तथापि वे निरंतर ऐसे भरोसेमंद कंधों की तलाश में रहा करते

क्योंकि इस मामले में वे एक ज़िद्दी क़िस्म की तबीयत के मालिक थे। शरद जोशी ठीक ही लिखते हैं—'निराशा के डायलॉग बोलना उसकी मंचनीति के विरुद्ध था। इसलिए वह अंदर से टूटने-बिखरने के क्षणों में भी रोया नहीं। हाँ, कोफ़्त और तनाव में वे ज़रूर रहते रहे।' कवि रामावतार त्यागी ने एक प्रसंग का ज़िक्र छेड़ते हुए लिखा है—'एक दिन 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' से निकलते हुए अचानक भेंट हो गई। तय हुआ कि पहले कहीं कॉफ़ी पी जाए। रामावतार त्यागी ने कॉफ़ी पीते-पीते यह महसूस किया कि दुष्यन्त काफ़ी तनाव में हैं और जिस विभाग में हैं उसमें धीरे-धीरे ऐसी परिस्थितियाँ पैदा होती जा रही हैं कि तनाव हदें पार करने लगा है। उन्होंने यह भी महसूस किया कि उसे दर्द यह नहीं था कि उस जैसे ग़ैर-मामूली को एक मामूली आदमी की मातहती करनी पड़ रही है बल्कि दर्द यह था कि वह अपनी ज़िम्मेदारियों के कारण एक निखद्द व्यक्ति के प्रति जवाबदेही के लिए मजबूर था। जब काफ़ी देर शाब्दिक विद्रोह प्रकट करने के बाद इस बिंदु पर पहुँच गए कि वह नौकरी पर लात मार देने को तैयार है, तब तक मैं भी ताव खा चुका था। मैंने कुछ आवेश में कहा—'लेकिन तुम्हें तो निखद्द लोगों को सहने की पुरानी आदत है। इलाहाबाद से अब तक जब तुमने अमुक-अमुक निखद्द व्यक्तियों के साथ गलबहियाँ की हैं तब एक और ऐसे एक बटा दो आदमी से इतने परेशान क्यों हो ?' सुनते ही दुष्यन्त का हाथ दूसरे तरकश पर जा चुका था—'रामावतार भाई ! जिसे साँप के दंश की आदत हो, उसे चूहे के दंश में मज़ा नहीं आता।' रामावतार त्यागी लिखते हैं कि दुष्यन्त में त्यागी होने के नाते विश्वविजेताओं का रक्त था और अपने पुरुष होने का असाधारण दर्प भी।

'जलते हुए वन का वसंत' जो भोपाल काल का कवि का तीसरा काव्य-संग्रह है, में दुष्यन्त 'आत्मालाप' शीर्षक कविता में लिखते हैं :

आ, जी तो सही,
लेकिन एक कायर की ज़िंदगी न जी

और यह तब प्रमाणित हुआ जब '74 में समूचा देश एक नए आंदोलन की शक्ल में उठ खड़ा हुआ और सर्वोदयी जयप्रकाश नारायण अपने जीर्ण-शीर्ण बुढ़ापे के बावजूद देश के नौजवानों की माँग पर नालायक सत्ताओं के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतर आए। दुष्यन्त तब भी भाषा संचालनालय की नौकरी में थे और गीत, नई कविता, काव्य-नाटक, कहानी, उपन्यास लिखना छोड़ एक ऐसी राह पर चले आए जो भले ही उनकी जानी-पहचानी राह रही हो, फिर भी ऐसी तो कदापि नहीं कि उस पर चलते रहने का उनका कोई बड़ा पुराना अभ्यास रहा हो। समकालीनों की निगाह में तो यह कवि दुष्यन्त के लिए ख़तरा मोल लेने जैसा काम था। पर कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, बद्रीविशाल पित्ती और मनोहर श्याम जोशी जैसे संपादकों के लिए तो यह एक और दुष्यन्त का अवतार था। उनकी ये ग़ज़लें

आग उगल रही थीं और 'धर्मयुग', 'सारिका', 'कल्पना' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के पन्ने लपटें फेंक रहे थे। लगता था जैसे सारा देश इन लपटों में झुलस जाएगा। लेकिन कौन-सा देश? 'धर्मयुग', 10 नवंबर, '74 के अंक में कमलेश्वर लिखते हैं—'यह देश दुःख सह लेता, अगर सब दुखी होते, यह देश तकलीफ़ें भी सह लेता, अगर तकलीफ़ज़दा होते, यह देश मरने के लिए तैयार हो जाता, अगर सब साथ मरने को तैयार होते···पर इन पिछले वर्षों में जो कुछ सामने आया है, वह यही कि यहाँ कुछ लोग सुखी हैं क्योंकि ज़्यादा लोग दुखी हैं। कुछ लोग आराम से हैं, क्योंकि ज़्यादा लोग मुसीबतज़दा हैं। कुछ लोग भरपूर से ज़्यादा जी रहे हैं, क्योंकि ज़्यादा लोग मरने के लिए मजबूर कर दिए गए हैं···यहाँ का अमीर अपनी अमीरी को देखकर नहीं जीता, वह दूसरों की गरीबी को देखकर जीता है, उसे इसी में अपना गौरव दिखाई देता है।' और उनके मित्र दुष्यन्त भोपाल में रहकर लिख रहे थे :

कहाँ तो तय था चिरागाँ हरेक घर के लिए
कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए
यहाँ दरख़्तों के साये में धूप लगती है
चलो यहाँ से चलें और उम्र-भर के लिए

दुष्यन्त की ये ग़ज़लें कैसी थीं ? निराला, त्रिलोचन, ख़ुद शमशेर जैसी प्रतिभाओं की क़लम से निकली हिंदी ग़ज़लों के मुक़ाबले कहाँ खड़ी होती थीं। इस पर सोचते हुए कवि शमशेर, नेमिचंद्र जैन और मलयज से हिंदी कविता के फ़ार्म पर निगाह डालते हुए कहते हैं···और रुझान में इधर वाकई ग़ज़ल की तरफ़ एक ऐसा मैदान खुला है जिसमें कई लोग उतरे हैं। मैं यह कह दूँ कि ग़ज़ल एक बहुत ही कठिन विधा है, देखने में जो बहुत ही सरल और बड़ी अच्छी मालूम होती है···लेकिन अद्भुत बात यह है। अभी मेरी एक दोस्त से बात हो रही थी, यह आश्चर्यजनक बात लगती है कि हर ऐसे मोड़ पर जब हम यह समझते हैं कि ग़ज़ल अब ख़त्म हो गई है तो एकाएक नया कवि आता है और वह नए स्वर और नई अभिव्यक्ति के साथ अपनी चीज़ें लाता है। कन्टेम्परेरी उर्दू पोयट्री में भी ऐसी चीज़ें मिलती हैं। तो उनके संदर्भ स्पष्ट न होने की वजह से हिंदी पाठकों के सामने या श्रोताओं के सामने उनको स्पष्ट करना, मैं समझता हूँ कि मुश्किल है। लेकिन यह फैक्ट है तो हिंदी में इस तरह का रुझान एक तो बड़ा प्रारंभिक ही लगेगा, यदि उसको बड़ी गंभीरता से, ग़ज़ल की विधा को लिया जाए। लेकिन वह बड़ा अच्छा लगता है। मसलन इधर दुष्यन्त कुमार की ग़ज़लें आईं।

सवाल यह भी कि दुष्यन्त क्या ग़ज़लों के मार्फ़त सिर्फ़ 'फ़ार्म' लेकर आए थे या कवि शमशेर के कथनानुसार कवि की अनुभूतियों की उस सच्चाई के चलते ग़ज़ल तक

पहुँचे थे, जिसके बारे में उन्हीं की यह सोच बेहद प्रासंगिक है कि हर सशक्त कवि जो आता है, वह अगर सच्चा कवि है तो उसमें एक स्वर जीवन की प्रगति या जीवन की उथल-पुथल को व्यक्त करने वाला होता ही है। दूसरी तरफ़, एक दायित्व एक नागरिक की हैसियत से साहित्यकार का उठता है। और उसमें—वह वाकई मेरे लिए एक बहुत बड़ी समस्या रही है, जिसको कि मुक्तिबोध ने अपने तौर पर बहुत अच्छा हल किया, लेकिन मैं नहीं, बिलकुल नहीं कर सका कि किस तरह से हमारा नागरिक का दायित्व है, वहाँ पर कृतिकार, रचनाकार, शिल्पी कहाँ कैसे खड़ा होता है, आकर के ? एक तो यह कि ईमानदारी से वह जैसा जो कुछ महसूस करता है, उसको वह भरपूर व्यक्त करता है और उसके इस तरह से व्यक्त करने से उसके इस दायित्व की पूर्ति होती है। दूसरे, इसके अलावा वह उसमें कुछ जोड़ना चाहता है और जोड़ने की कोशिश करता है। जैसे कि हम समझते हैं कि मायकोव्स्की ने अपने ज़माने में किया कि अपने चारों तरफ़ की जो एक्टिविटी थी, जो कुछ भी निर्माण या जो कुछ भी हो रहा था, उसमें वह व्यक्तिगत रूप में जा-जा के, देख-देख के, नोट ले-ले के या उसका पूरा अध्ययन कर-कर के और इस तरह से वह फिर उसे अपनी कविता या रचना का अंग बनाता था और फिर भी यह देखता था कि यह जो हमारा अंग बनता है, हमारी कविता का यह सब यथार्थ या सत्य, वह कविता बनता है, कहीं मशीन बनके तो नहीं रह जाता है। यानी एक मैकेनिकल चीज़ तो नहीं हो जाती है। मैं समझता हूँ कि इसके लिए उसने अपने को पुश्किन से भी जोड़ा। इतने लंबे उद्धरण का एक प्रयोजन उस उथल-पुथल और सच्चाई को रेखांकित करने के लिए है, जिसमें से दुष्यन्त की ग़ज़लें निकलकर आ रही थीं। दूसरे, वे इस मार्फ़त परंपरा के उन कवियों के समीप पहुँचना चाहते थे जिनकी प्रतिष्ठा केवल उनके कवि और काव्यत्व के चलते मात्र नहीं थी बल्कि उस ज़िम्मेदार सचेत नागरिक के चलते भी थी जो अपनी सृजनशीलता और नागरिक धर्म के बल पर सामाजिक नवोन्मेष करना चाहते थे। मैं यह देखकर चकित हुआ कि दुष्यन्त जिन प्राचीन कवियों को पढ़ते थे उनमें सूरदास और तुलसीदास सर्वोपरि थे। ईमानदारी से लिखने को कवि का सबसे बड़ा फ़र्ज़ मानते थे और अपने अनुभवों को भावों की गहराई तक ले जाकर भी उसे इस कदर संप्रेष्य बनाना चाहते थे कि वह लोगों की समझदारी से काव्यात्मक संवाद कर सके। 'जलते हुए वन का वसंत' की भूमिका में उन्होंने लिखा, 'मैं ऐसे हवाई पाठक की कल्पना नहीं करता जिसके बौद्धिक आयाम मेरे साँचों से मेल खाते हों। मैं तो ख़ुद पाठक के रूप में उस कविता की खोज में हूँ जो हर व्यक्ति की कविता हो और हर कंठ से फूटे।' उनका दृढ़ विश्वास था कि 'पाठक ही कल निर्णायक की भूमिका अदा करेगा। इसलिए हमारे आलोचक यदि सो रहे हैं तो उन्हें जगाना ज़रूरी नहीं, परंतु पाठक से यह पूछना बहुत ज़रूरी है कि वह कविता के संदर्भ में आज क्या सोचता है ? और क्या कविता उस तक

पहुँच रही है ?' कवि दुष्यन्त ने अपनी इस आकांक्षा को 'साये में धूप' की ग़ज़लों में पूरा होते देखा। इधर वे लिखी जा रही थीं, उधर तमाम पत्र-पत्रिकाओं में छप रही थीं और बिजली की गति से हिंदी समाज के कंठों में बसकर सारे देश की पीड़ा और व्याकुलता के आक्रामक स्वर-सी हवा और धूप की मानिंद पूरे वातावरण की गूँज और अनुगूँज भी बनती जा रही थीं। वे कितनी क्लासिक ग़ज़ल थीं, कितनी नहीं थीं, कितनी सुघड़-सुगठित और परदेदारी से युक्त थीं (या हैं), कितनी आवेशयुक्त किंतु यथार्थ का बोध कराने वाली, इसे कह पाना आज भविष्यवाणी-सा करना होगा। पर इस सच से किसी भी रूप में मुकरा नहीं जा सकता कि इन ग़ज़लों ने बीसवीं सदी के अंतिम तीन दशकों में हिंदी मानस पर वही छाप अंकित की जो एक समय में राष्ट्रकवि की 'भारत-भारती' ने की थी। 'भारत-भारती' अब लोकप्रिय नहीं रही और ऐतिहासिक महत्त्व की रचना बनकर रह गई। दुष्यन्त की ग़ज़लें इक्कीसवीं सदी में भी निरंतर लोकप्रियता के शिखरों को छू रही हैं और एक पाठक के रूप में मेरा विश्वास है कि यह सिलसिला कभी ख़त्म नहीं हो सकेगा।

हिंदी के आलोचकों का एक वर्ग हमेशा से ऐसा रहा है जो काव्य-प्रतिमाओं का मूल्यांकन आलोचना के बने-बनाए साँचों के अंतर्गत करता रहा है। ऐसे शास्त्रभीरु समीक्षक प्रायः तब और भी संभ्रमित और संशयग्रस्त हो उठते हैं जब शास्त्रीय सृजनभूमियाँ अपना कायाकल्प करने पर उतारू हो उठती हैं और परंपरा खुद अपनी नवता पर रीझ उठती है। दुष्यन्त की ग़ज़लों पर क्लासिक हिंदुस्तानी ग़ज़ल आज इसी तरह रीझी हुई है। उसमें एक नए प्रकार का क्रांतिकारी रोमान और अनुभव-प्रेरित यथार्थ दृष्टि है। ग़ज़ल के ग़ैर-ज़रूरी हो उठे परदों को यहाँ सचमुच इस ख़ूबी से उठा दिया गया है कि अनुभवों का ज़िंदा संसार अपनी तल्ख़ी, तेज़ी और आक्रामकता का एहसास करा सके। अंदाज़े-बयाँ कुछ ऐसा कि न तो यह हिंदू ग़ज़ल कही जा सके, न मुस्लिम ग़ज़ल। विपरीत इसके एक ऐसी ताज़ी आधुनिक ग़ज़ल जिसमें हिंदी भाषा की वैचारिक पक्षधरता और जुझारूपन, तो उर्दू की रवानी और मिठास एक साथ हो। अंततः यह आज़ादी के बाद के भोपाल की ग़ज़ल थी जहाँ दोनों परंपराएँ गंगा-जमुनी शैली में बह रही थीं।

उर्दू के प्रतिष्ठित साहित्यकार सरस्वती सरन 'कैफ़' ने नज़ीर अकबराबादी के बारे में लिखा है कि 'नज़ीर' के महत्त्व को समझाने के लिए पुस्तक ज्ञान की आवश्यकता नहीं के बराबर है, किंतु इसके लिए 'जीवन' का अध्ययन ज़रूरी है। अभी हम 'उच्च' और 'असाधारण' ही के चक्कर में घूम रहे हैं। 'साधारण' के महत्त्व को नहीं समझे हैं। 'नज़ीर' साधारणता के सहज, स्वाभाविक, विशाल जीवन के कवि हैं। इसलिए वे आज के 'असाधारणता' के उन्माद में धुँधले नज़र आते हैं।...जबकि वे पूर्णतः 'हिंदुस्तानी' कवि थे।

यही बात मैं दुष्यन्त कुमार के बारे में कहना चाहता हूँ कि उन्हें व्यवस्था और

सिद्धांत-पसंद लोग आज जिस तरह देख रहे हैं, वह वैचारिक यथास्थितिवाद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। नागार्जुन जैसे संस्कृतज्ञ और कवि भी जब अपना क्लासिकल बाना उतारकर आए तो शुरू-शुरू में उन्हें भी हलका-फुलका ही समझा गया, किंतु कबीर, दादू, रैदास आदि कवियों को साहित्यिकों ने चाहे जिस निगाह से देखा हो, लोक ने तो उन्हें अपने भरोसे का अपना कवि माना। दुष्यन्त की स्थिति भी आज यही है। वे अति-लोकप्रिय, लोकप्रतिष्ठित गंभीर हिंदी कवि हैं, जिनकी वाणी का प्रसार लोकसभा, विधान-सभा, दूरदर्शन, शिक्षा संस्थान, जुलूस और नारों तक मौजूद है। वे हमारे समय के एकमात्र ऐसे हिंदी शायर हैं जिन्हें यह सदी तरह-तरह से याद करती और उद्धृत करती रहती है। उर्दू के मीर और ग़ालिब के बाद खड़ी बोली हिंदी के जिस शायर को ऐसी लोकप्रतिष्ठा मिली हुई है, वह दुष्यन्त कुमार ही है। समय और समाज की अनुगूँजों का यह कवि काश हमारे बीच कुछ और दिनों तक ज़िंदा रह पाता तो संभव है, हिंदी की देवनागरी लिपि में लिखी ग़ज़ल की रौनक ही नहीं, रुतबा भी कुछ और बढ़ पाता। किंतु वैसा किसी भी स्थिति में इसलिए संभव नहीं था क्योंकि दुष्यन्त खुद एक बहुत बेचैन शख़्स थे। निराला ने अपने जीवन की आख़िरी कविता में लिखा—'पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है।' दुष्यन्त ने तो इसे अपने यौवन के दिनों में ही लिख डाला। 'एक कंठ विषपायी' केवल शिव ही नहीं, स्वयं दुष्यन्त भी हैं। पर यह ज़हर भीतर ही भीतर उन्हें पीता रहा। दुष्यन्त थे कि इसे हर बार अपनी जिजीविषा की ताक़तों से अमृत में बदलने की कोशिशें करते रहते। भोपाल के दिनों के उनके एक आत्मीय, 'प्रजामित्र' के संपादक बलभद्र तिवारी ने जो झलकियाँ उनके जीवन की दी हैं, वे उनको समझने में पाठकों की मदद करेंगी, अतः वे यहाँ ज्यों की त्यों उद्धृत हैं :

दवा से लेकर दारू तक के संबंधों में दुष्यन्त का व्यवहार सबसे अलग रहा है। ज़रा-सा संबंध जुड़ने पर वह सीधा दनदनाता हुआ आपके चौके-चूल्हे तक घुस जाता और घर-मालिक से लेकर घर में पले हुए कुत्ते-बिल्ली तक की ख़ैरियत पूछता। आपके बारे में कैसी भी, कुछ भी समस्या हो वह फ़ौरन आपसे कहता—'अच्छा, आप बेफिकर रहिए, मैं अभी फलाँ के पास जाकर यह कहता हूँ।' और स्कूटर तब तक दौड़ता ही रहता जब तक वह काम पूरा नहीं हो जाता। ज़रूरत पड़ने पर दिल्ली-बंबई तक की दौड़ लगा देता और लौटकर अपनी लटें सँभालता हुआ चैन की साँस लेकर कहता—'आख़िर उनको मेरी बात माननी पड़ी। मैंने कहा कि आपको परेशान करने की ग़रज़ से ज़बरदस्ती का षड्यंत्र रचा गया है। मैंने जब सब राज़ खोला तो जनाब, वह लोग हैरत में रह गए।' और फिर एक ठहाके के साथ कहता—'चलो, हटो यार, दारू पी जाए।'

दूसरों की तकलीफ़ उसको इस हद तक कचोटती रही है कि ख़ुद अपनी तकलीफ़ों के बारे में सोचने-विचारने की उसे फ़ुरसत ही नहीं मिली। भोपाल में वह रेडियो की नौकरी

पर आया था। भाषा विभाग के अधिकारियों के लिए जब 'सिलेक्शन' हुआ तब उसे सहायक संचालक के पद के लिए चुना गया और उपसंचालक का पद दूसरों को दे दिया गया। सब लोग मातम मनाते रहे मगर दुष्यन्त की जुबान पर वही दुष्यन्ती फ़िक़रा—'अरे हटो यार, सब साले हरामी हैं, चलो दारू पी जाए, अबे सुन यार, एक नई कविता लिखी है, उसे सुन।'

दुष्यन्त यदि चाहता तो अपनी साहित्यिक प्रतिभा को सरकार के किसी भी ख़ज़ाने से कभी भी भुना सकता था। मगर उसने कभी ऐसा नहीं किया। एक बार उसका अपने विभाग के किसी मंत्री के साथ ज़बरदस्त झगड़ा हो गया और उसे सस्पेंड कर दिया गया। जब उससे उसके ख़िलाफ़ लगाए गए आरोपों का जवाब माँगा गया तो अपने जवाब में उसने मंत्री महोदय को खुल्लमखुल्ला ऐसी खरी-खरी लिखकर सुनाई कि वह बगलें झाँकते ही रह गए। किसी संस्पेंडेड कर्मचारी के द्वारा अपने जवाब में उलटे मंत्री पर इतने ज़बरदस्त आरोप लगाना नौकरी के इतिहास में एक घटना है।

इसी तरह एक बार वह अपने सचिव महोदय से टकरा गया। सचिव ऐसी उलझन में फँस गए कि उन्हें स्वयं दुष्यन्त से बात कर समझौते की बात चलाने के लिए मजबूर होना पड़ा। उसने साफ़ कहा, 'जी हाँ, यह सच है कि आपके ख़िलाफ़ यह कैम्पेन मैंने ही चलाया है। अभी थोड़ा और चलेगा।' जब सचिव ने बंद करने को कहा तब भी उसने जवाब दिया था, 'नहीं, सरकारी क्षेत्र में यह घटियापन जब तक ख़त्म नहीं होता, तब तक मैं भी ख़ामोश कैसे रहूँ।' और अंत में जब सचिव ने नौकरी की बात चलाकर दुष्यन्त को धमकाना चाहा तो फिर उसने उसी शान से कहा था—'हि-हि-हि···आपकी यह बात बेमानी है। जितनी तनख़्वाह आप मुझे देते हैं, उससे तो मेरा दारू का ख़र्च भी पूरा नहीं होता। आप जानते नहीं, मैं आपकी या किसी की नौकरी नहीं करता। मैं सिर्फ़ अपनी क़लम की नौकरी में हूँ, तब तक मुझे किसी की परवाह नहीं।'

उन्होंने आख़िरी साँस तक इसी क़लम की नौकरी की और कभी उससे नज़रें नहीं चुराई। साहिर की ज़बान में कहूँ तो वे हमेशा सितमगर की नज़र से नज़र मिलाकर जीने का माद्दा प्रदर्शित करते रहे।

इंदिरा गांधी ने जून, '75 में देश में आपातकाल लगा दिया था। देश के सारे बड़े राजनेता लोकनायक जयप्रकाश के साथ जेलों में ठूँसे जा चुके थे और दुष्यन्त लिख रहे थे :

एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यों कहो
इस अँधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।

जिन इंदिरा गांधी ने आधी रात को देश में आपातकाल घोषित कर दूसरे दिन अख़बारों में यह बयान दिया था कि इन बुद्धिजीवियों और लेखकों की जनता में भरोसेमंदी

क्या है, उन्हीं की सरकार भोपाल के कवि दुष्यन्त कुमार से यह पूछ रही थी कि लिखे शे'र में ये बूढ़ा आदमी कौन है ? मैं इसी बीच एक दिन उनसे मिलने पहुँचा तो वे टेबल छोड़ सचिवालय के दरवाज़े पर आ खड़े हुए। गेट पर बैठे चपरासी से पहले तो बीड़ी निकाल जलाने को कहा, बाद में दौड़कर तीन कट चाय लाने को। वे कुछ-कुछ तनाव में भी थे, किंतु कुछ-कुछ मस्ती में भी। बग़ैर कोई भूमिका बाँधे वे बताने लगे, 'जानते हो विजय बहादुर, मैंने क्या जवाब दिया है। मैंने दिया है कि यह बूढ़ा आदमी विनोबा है।' आपातकाल को अनुशासन पर्व कहने वाले सर्वोदयी संत विनोबा उस वक़्त देश की निग़ाहों से गिर चुके थे और उनसे असहमत जयप्रकाश नारायण को देश ने लोकनायक कहना शुरू कर दिया था। शे'र तो उन्हीं जयप्रकाश पर था, पर दुष्यन्त तानाशाही सत्ता को जवाब देना सीख गए थे। सोचता हूँ कि अगर 'एक गुड़िया की कई कठपुतलियों में जान है/आज शायर, यह तमाशा देखकर हैरान है।' वाले शे'र का अर्थ और गुड़िया की पहचान उनसे पूछी जाती तो वे क्या जवाब देते ? क्या वे बगलें झाँकते, रोते-गिड़गिड़ाते या फिर चुप रह जाते ? इनमें से शायद उनको कोई भी एक रणनीति पसंद नहीं आती। जवाब देने की नौबत आ ही जाती तो उन्होंने वह तैयारी भी करके रखी थी :

मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूँ
हर ग़ज़ल अब सल्तनत के नाम एक बयान है

ग़ज़ल जैसी कोमल, मधुर, संकेतप्रिय संरचना को भरोसेमंद बयान में ढालने वाले इसी कवि/शायर का नाम दुष्यन्त कुमार था, जो अपने भावी पाठकों को ग़ज़लों की यह थाती सौंप गया है, इस दर्द के साथ :

मेरे दिल पे हाथ रक्खो, मेरी बेबसी को समझो,
मैं इधर से बन रहा हूँ, मैं इधर से ढह रहा हूँ।

यहाँ कौन देखता है, यहाँ कौन सोचता है,
कि ये बात क्या हुई है जो मैं शे'र कह रहा हूँ।

पाठक ज़रूर जानना चाहेंगे कि 29-30 दिसंबर, 1975 की रात क्यों उनका प्रिय कवि/शायर यह दुनिया छोड़ गया। इसकी तफ़्तीश तो उसके लेखन में जगह-जगह मौजूद है—'आवाज़ों के घेरे' से 'साये में धूप' तक। 'छोटे-छोटे सवाल' से 'आँगन में एक वृक्ष' तक। उन कहानियों, संस्मरणों, अधूरे उपन्यासों और रेडियो-रूपकों में भी, जो उसके द्वारा उसी मुस्तैदी और ईमानदारी से लिखे गए। एक-एक शब्द में उसकी यह पीड़ा मौजूद है और वह कचोट और छटपटाहट भी जिसके लिए वह हमेशा हमें याद आता रहेगा।

—**विजय बहादुर सिंह**

1

29 दिसंबर की वह रात

29 दिसंबर की रात। लगभग साढ़े ग्यारह बजे हम भोपाल आकाशवाणी के केंद्र निदेशक श्री शुंगलू के यहाँ से खाना खाकर लौट रहे थे।

मैंने घर लौटकर स्कूटर से उतरकर दरवाज़ा खोला और वह अपना शे'र गुनगुनाते हुए स्कूटर को अंदर ले आए :

दुकानदार तो मेले में लुट गए यारो,
तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गए।

अर्चना और आलोक कुछ देर पहले ही एक शादी से लौटे थे और अपनी-अपनी रज़ाइयों में दुबके वे शादी में हुए कार्यक्रमों पर बात कर रहे थे, वह मस्ती के साथ शे'र गुनगुनाते हुए उन दोनों के पास जाकर बैठ गए। अर्चना ने कहा, "पापा, बड़ी मस्ती में हो आज !"

"अरे, हम कब मस्ती में नहीं रहे बेटे ! आज भाभी जी ने वो बढ़िया खाना खिलाया कि बस मज़ा आ गया। तुम लोग सुनाओ, शादी कैसी रही ?"

बच्चों ने बताया कि शादी बड़ी अच्छी रही। अर्चना बोली, "पापा, आज शादी में सत्येन आंटी-अंकल भी आए थे, लड़की वालों की तरफ़ से। उन्होंने आपकी कॉलेज लाइफ के चुटकुले सुनाकर हम लोगों को बेहद हँसाया।"

वह आकर पलंग पर लेटे, क्योंकि उनके हलका-सा सिरदर्द था कि बाहर ऑटोरिक्शा आकर रुका। रात को बारह बजे कौन हो सकता है, सोचती हुई मैं दरवाज़े तक आई। देखा, छुटवा था, मुझे देखकर वह बोला, "चाचा जी हैं ?" मेरे दिमाग में उनके सिरदर्द की बात घूम रही थी। मैं कुछ कहती, इससे पहले ही वह बोल उठे, "क्या बात है, भाई छुटवा? अंदर आ जा।" मैं तो झुँझलाई हुई बाहर ही खड़ी रह गई और वह यह कहता हुआ अंदर पहुँच गया—"चाचा जी, आपको अभी चलना पड़ेगा। दरोगा बड़ा तंग कर रहा है।" उन्होंने उससे कुछ बातें और भी कीं और पूछीं। वह उनके पास बैठा हुआ सब बताता रहा। अचानक ही मुझे पुकारकर उन्होंने कहा, "राजो भई, ये छुटवा मुझे चलने को कह रहा है।" मैंने चिढ़ते हुए लेकिन उसकी उपस्थिति के कारण अपने को संयत रखते हुए

कहा, "कहाँ जाओगे इस वक़्त ?"

मेरे रोकने के बावजूद वह पलंग से उठ खड़े हुए और बोले, "राजो, मेरे जाए बिना काम नहीं होगा। किसी का भला होता है तो इसके लिए थोड़ी तकलीफ़ ही सही। मेरा ओवरकोट उठा दो, उसमें मुझे ठंड भी नहीं लगेगी।"

रात्रि का एक बजा था, जब ऑटो की आवाज़ सुनाई दी। वह लौट आए थे। कपड़े बदलकर बिस्तर पर लेटे ही थे कि कहने लगे, "राजो, सीने में दर्द हो रहा है।" मैंने पूछा, "कैसा दर्द है ? सीना मल दूँ ?" बोले, "नहीं, मलने से कुछ नहीं होगा।"

मैंने कहा, "डॉक्टर को बुलवाऊँ ?" वह बोले, "हाँ।"

मैंने जल्दी-जल्दी अपने बड़े बेटे आलोक को उठाया और उससे डॉक्टर को बुला लाने को कहा। उसने जाते हुए पूछा, "पापा, दर्द कैसा है ?" उन्होंने कहा, "डॉक्टर से कहना कि सीने में अनबेयरेबल पेन है।"

आलोक स्कूटर लेकर घर से निकला ही था कि उन्हें एक भारी उलटी हुई। मैं बहुत घबरा गई। मैंने अर्चना को उठाया। उन्हें किसी भी तरह चैन नहीं मिल रहा था। इतने में डॉक्टर आ गए। बड़ी बेचैनी के साथ उन्होंने डॉक्टर को अपना हाल बताया। कहने लगे, "डॉक्टर, बड़ा दर्द है।" मैंने डॉक्टर को बताया कि अभी इन्हें एक भारी उलटी हुई है। डॉक्टर ने बैठकर प्रेसक्रिप्शन लिखा। डॉक्टर ने प्रेसक्रिप्शन लिखते हुए कहा, "देखिए मिस्टर त्यागी, मैंने आपसे ज़्यादा ड्रिंक्स के लिए मना किया था।" वह बोले, "बट, ई०सी०जी० एश्योर्ड मी।"

डॉक्टर बोले, "अभी मैं एक इंजेक्शन लिख देता हूँ। वह इन्हें लगवा दीजिए। ये सो जाएँगे तो आराम मिल जाएगा।" फिर डॉक्टर आलोक की तरफ़ मुख़ातिब होकर बोले, "देखो, यह इंजेक्शन केमिस्ट की दुकान पर नहीं मिलेगा। अस्पताल चले जाओ, वहाँ होगा तो मिल जाएगा। कंपाउंडर को भी साथ में लेते आना।" उन्होंने इंजेक्शन का नाम और कंपाउंडर का नाम एक स्लिप पर लिखकर दिया और आलोक उन्हें छोड़ने चला गया।

वह उतनी ही बेचैनी से करवटें बदल रहे थे। मैं उनकी बाईं तरफ़ चारपाई पर बैठी थी। वह बोले, "राजो, सीने में बाईं ओर बहुत दर्द है। तुम अपना हाथ रख दो।"

कमरे में अँधेरा था। लाइट उन्होंने बंद करवा दी थी। बस, बरामदे की थोड़ी-बहुत रोशनी कमरे तक पहुँच रही थी। सिरहाने रखे हुए स्टूल पर अर्चना बैठी थी। वह बोले, "मेरे हाथों से आग निकल रही है। हाथों की नसें बेहद खिंच रही हैं।" हम दोनों उनकी हथेलियाँ सहलाने लगे। थोड़ी देर बाद वह बोले, "बस बेटे, लगता है हम तो चल दिए।"

अर्चना रुआँसी हो बोली, "नहीं पापा, ऐसा नहीं कहते। आप जल्दी ठीक हो जाएँगे। इतने में बाहर स्कूटर की आवाज़ सुनाई दी। आलोक के साथ कंपाउंडर भी था। कंपाउंडर को देखकर ढाढ़स बँधा कि चलो, अब इंजेक्शन लगने से इन्हें आराम मिल जाएगा।

कंपाउंडर ने इन्हें इंजेक्शन लगाया। आलोक फिर उसे छोड़ने चला गया। इंजेक्शन लगवाने के बाद उन्होंने हाथ नहीं मलवाए। मैंने पूछा, "दर्द कुछ कम हुआ ?" बोले, "नहीं, अभी तो वैसा ही है।"

फिर उन्होंने दाई ओर करवंट बदल ली। मैंने पूछा, "एक तकिया और दूँ ?" वह बोले, "हाँ।" एक तकिया उन्होंने घुटने के नीचे रखा, एक सिरहाने दबा लिया। अब उनकी बेचैनी धीरे-धीरे कम हो चली थी। बेहोशी छाने लगी थी। अर्चना ने पूछा, "पापा, अब कैसा लग रहा है ?" वह बोले, "ठीक हूँ।"

"नींद आ रही है ?" अर्चना ने पूछा।

"हूँ।"

थोड़ी देर बाद मैंने उनकी तबीयत जाननी चाही, लेकिन तब तक वह सो चुके थे। आलोक लौट आया था। मैंने उसे बताया कि वह सो गए हैं, तो वह बाहर बरामदे में लेट गया। अर्चना भी अपने पलंग पर चली गई। मैं अकेली बैठी अपने आपको समझाती रही।

उस वक़्त कोई ढाई बजे होंगे जब उन्होंने बाई ओर करवट बदली। गले से ख़र-ख़र की आवाज़ आ रही थी। मैं बुरी तरह घबरा गई। मैंने दोनों बच्चों को उठाया और उनसे कहा, "जाओ, अपने चाचा जी को बुला लाओ और टैक्सी भी लेते आना।" अपूर्व को उठाया और उसे डॉक्टर को लाने भेजा। मैं बिलकुल असहाय उनके पास बैठी उनकी साँसों की आवाज़ सुनती रही। उनकी साँसों में बदलाव आता जा रहा था। फिर उन्हें दो-तीन हिचकी आई और उनके गले की आवाज़ भी बंद हो गई। सब कुछ समाप्त हो चुका था, लेकिन मेरा मन इतने बड़े सत्य को स्वीकारने के लिए बिलकुल तैयार नहीं था। मैंने फिर अपूर्व को ऑटो के लिए दौड़ाया। अप्पू अभी आधे रास्ते ही गया होगा कि अर्चना मुन्नू जी के साथ लौट आई। मुझे अभी भी आशा थी—मैंने अर्चना को एंबुलेंस के लिए फ़ोन करने के लिए दौड़ाया और मुन्नू जी से कहा, "देखो, तुम्हारे भैया को क्या हो गया है !" मुन्नू जी ने उन्हें हिलाया—'भैया, भैया !' कहकर आवाज़ें दीं, लेकिन वह नहीं बोले। इतने में आलोक हॉस्पिटल की जीप लेकर आ गया। मुन्नू जी और आलोक डॉक्टर को लेकर आ आए। डॉक्टर ने कुछ देखा-भाला और कहा कि 'सब कुछ ख़त्म हो चुका है।' सब ख़त्म तो बहुत पहले ही हो चुका था, सिर्फ़ मेरा मन ही नहीं मान पाया था।

—राजेश्वरी त्यागी

2

वह एक वटवृक्ष

उनतीस-तीस की रात। पत्नी झकझोरती है—"सुनो, आलोक (भतीजा) और अर्चना (भतीजी) आए हैं—भाई साहब की तबीयत ख़राब है।" मैं गहरी नींद से जागकर तुरंत कपड़े पहनने लगता हूँ। घड़ी देखता हूँ··सवा तीन ! मैं चौंक उठता हूँ। ज़रूर कोई गंभीर बात है। नहीं तो इस समय बच्चे मेरे पास नहीं आते। छोटी-मोटी बीमारी तो भैया चुटकियों में उड़ा देते हैं। ठीक एक महीने पहले की घटना मेरी आँखों के सामने कौंध जाती है। भैया गाँव से लौटे थे। अगले रोज़ मेरे पास आए थे। भाभी भी साथ थीं। चेहरे पर वही परिचित मुस्कान लिए बोले थे—'मुन्नू जी ! दिल्ली से लौटते समय तो मैं मरते-मरते बचा। मैं जब रिजर्वेशन कराकर लौट रहा था, तो अजीब-सी बेचैनी होने लगी। किसी तरह मैं अपनी बर्थ पर आकर लेट गया। जब मुझे लगा कि हालत ज़्यादा ख़राब है, मैंने अपना नाम-पता लिखकर एक चिट सीने पर रख ली। मान लो, कुछ हो गया तो लोग घर तक तो पहुँचा देंगे।' 'हार्ट अटैक न हो'—मैं शंका प्रकट करता हूँ। उनकी लापरवाही की आदत के कारण मैं अगले दिन की छुट्टी भी ले लेता हूँ कि इन्हें अस्पताल ले जाऊँगा। उस दिन न मैं उन्हें ले जा पाया और न वे गए। कुछ दिन बाद उन्होंने बताया—'ई०सी०जी० कराया था, रिपोर्ट एकदम नॉर्मल है, वो तो गैसेज़ का दर्द था।' मैंने आदत के ख़िलाफ़ उनकी बात पर पूरा यक़ीन कर लिया।

ज्यों-ज्यों भैया का घर पास आता जाता है, मैं एक अनजाने डर से सिहरने लगता हूँ। यहाँ तक कि मैंने अर्चना से यह भी नहीं पूछा कि उन्हें बीमारी क्या है ? मैं भैया के पास जा रहा था और बीमारी के नाम से डर रहा था। आशंका कहीं सच न हो, इसे झुठलाने का इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता भी नहीं था। लेकिन घर पहुँचकर आशंका को सच होते हुए नहीं, कड़वे सच के रूप में देखा। मैं भैया की नब्ज़ टटोलता हूँ··साँस टटोलता हूँ··फिर हताश भाव से आलोक की तरफ़ देखता हूँ। दरवाज़े से टिका आलोक ठंडे स्वर में इतना ही कह पाता है—"चाचा जी, मुझे भी लगता है कि···" उसे भी लगता है कि··मुझे भी लगता है कि···अब ?

जाने कैसे भैया की एक पंक्ति याद आ गई··एक बाज़ू उखड़ गया जबसे··बहुत देर तक यही पंक्ति दिमाग में घंटे की तरह बजती रही। ख़ाली निगाहें लिए हम लोग

कभी एक-दूसरे की तरफ़ देखते, कभी भैया की तरफ़ और तभी जैसे कल का मुन्ना एकाएक बुज़ुर्ग हो गया।

सोचता हूँ तो खुद पर आश्चर्य होता है। इतना बदल गया हूँ मैं ? सन् '60 या '61 की बात होगी। मैं तब बी०ए० में पढ़ता था। भैया तीन महीने बाद भोपाल से मेरठ आए थे। उन्हें अकस्मात् आया देख मेरी खुशी हिचकियों में फूट पड़ी थी। आलोक, अर्चना अब तक इस घटना को लेकर मज़ाक़ करते रहे। लेकिन भाग्य की विडंबना को क्या कहूँ ? जब सचमुच में रोने का वक़्त आया तो दो आँसू भी नहीं बहा सका।

भैया नहीं रहे···आज भी यह मानने को मन ही नहीं करता। ऐसी सोफिस्टिकेटेड बीमारी उस लुंगी-कुरता पहनने वाले अलमस्त कड़ियल आदमी को नहीं हो सकती। संघर्षों और चुनौतियों को सहर्ष स्वीकार करने में सदा तत्पर भैया इतनी जल्दी हार मानकर चले गए हैं—कैसे मान लूँ ? आख़िर मैंने भी अपने बचपन से लेकर अब तक उनको निकट से देखा है, समझा है। जानता हूँ, मौत हरेक के पास आती है, पर उसके आने के कुछ ठोस कारण ज़रूर होते हैं। ऐसी अविश्वसनीय और अबूझ मौत पर कैसे यक़ीन करूँ ? सब कुछ जानते हुए भी मन है कि नहीं मानता। मैं डॉक्टर के शब्दों को सुनने से लेकर चिता में अग्नि दिए जाने तक भैया के साथ रहा, फिर भी कहीं कुछ है जो उस घटना पर यक़ीन नहीं करने देता। उनकी तेरहवीं की रात में ठीक उसी समय, जिस समय मैं तीस दिसंबर को अपने घर से भैया के घर गया था, मैंने एक स्वप्न देखा···भैया का स्कूटर रुका है। वे बड़े मूड में सीटी बजाते हुए आए हैं। जब कभी उनको कोई सुखद उपलब्धि होती है तो वे दो मुद्राओं में मेरे घर आते। या तो वे नीचे से ही हलकी सीटी बजाते आते या अगर मैं बरामदे में खड़ा उन्हें देख रहा होता तो नीचे गर्दन किए मुस्कराते हुए ऊपर आते। मैं सीटी की आवाज़ से उठने लगता हूँ तो पत्नी रोकती है···शायद डरवश, और मुझे पूछती भी है कि कौन है···तभी भैया दरवाज़ा खटखटाते हैं···'भैया हैं' कहकर मैं दरवाज़ा खोलने चल पड़ता हूँ। वे ही हैं, आश्वस्त होकर मैं गद्गद हो उठता हूँ। हम दोनों आमने-सामने बैठने लगते हैं कि भैया पूछ डालते हैं—'मुन्नू जी, तुम तो डर गए होगे कि मेरा प्रेत कहाँ से आ गया ?' मेरा जवाब था—'अरे, मैं नहीं डरा-वरा। आपके झटकों को मैं ख़ूब जानता था, लेकिन यह तो बताइए, आपने अपनी जगह किसे लिटाया था ? शक्ल तो हू-ब-हू आपकी ही थी···'

मैं आत्मा-वात्मा में विश्वास नहीं करता, लेकिन उस आदमी को कैसे झुठला दूँ, जो स्वप्न में भी अपनी मौत का यक़ीन नहीं होने देता। जिसका हट्टा-कट्टा शरीर, हँसमुख चेहरा हरदम आँखों के सामने आकर खड़ा हो जाता है और पूछता है—'क्या तुझे भी यक़ीन है ?' मैं कोशिश करता हूँ भैया के अतीत में झाँकने की, शायद कहीं कोई प्रमाण मिल जाए, जिसके सहारे मैं अपने अविश्वास को विश्वास में बदल सकूँ, पर मैं निराश ही

लौटता हूँ, उनके छोड़े प्रमाण भी धोखा दे जाते हैं, वे भी उन्हीं की गवाही देने लगते हैं। मैं उनके शब्दों, वाक्यों से उलझता हूँ, वे भी यही कहते हैं—क्या दिक्कत है ? अरे, ये भी कोई काम है···हो जाएगा। मैं उनकी डायरी देखता हूँ। उसमें ही कुछ मिलेगा। बहुत कुछ मिलता भी है···जीवन का भरपूर उपयोग···आत्मजीवन का सुख···सर्जनात्मक बेचैनी···बंधनों से मुक्ति की छटपटाहट···पराजय और न शब्द वहाँ भी नहीं हैं। यही नहीं, उस कमबख़्त दर्द के लिए, जो उन्हें एक महीने पहले दिल्ली से लौटते हुए हुआ था, सिर्फ़ दो पंक्तियाँ हैं। और वहाँ भी उसके अस्तित्व को झुठलाते हुए उन्होंने लिखा है कि 'गैसेज़ के कारण बहुत तेज़ दर्द हुआ।'

दर्द हो या दर्द का कारण हो, उसकी उपेक्षा को भैया ने अपने जीवन का सूत्रदर्शन माना। शत्रुओं से लेकर व्यक्तिगत घटना-प्रसंगों तक में वे इस सूत्र को अपनाए रहे। ध्यानसिंह तोमर 'राजा' 'नवभारत' (भोपाल का एक दैनिक अख़बार) के रविवारीय अंक में उनके ख़िलाफ़ नियमित रूप से लिखते थे। एकाएक उन्होंने ख़िलाफ़ लिखना बंद कर दिया। मिलने पर भैया ने 'राजा' से शायद यही कहा—'क्यों बे मोटे ! आजकल तू मुझे याद नहीं करता, क्या नाराज़ हो गया है ?' जहाँ तक मुझे स्मरण है, इस घटना के बाद दोनों के बीच खुलकर बातें हुई और राजा ने उनकी ज़िंदादिली की दाद दी थी।

शत्रुओं और निंदकों के साथ भी इसी व्यवहार को दोहराते। बहुत ज़रूरी हुआ तो उनकी अंतरंग परतों को उधेड़ देने वाला एकाध वाक्य छोड़ देते। दुष्यंत परेशान क्यों नहीं है ? सोचकर वे और नाराज़ होते। पीछे गाली देते, सामने बोलना बंद कर देते। लेकिन भैया ने किया कुछ भी हो, कभी व्यवहार-दारिद्रय प्रदर्शित नहीं किया।

शांत बैठना, सीधी-सरल ज़िंदगी जीना उन्हें नापसंद था। भोपाल के साहित्यिक जीवन में कभी शांति होती तो लोग बेसाख़्ता कह उठते—'शायद दुष्यंत कुमार गाँव गए हुए हैं।' बच्चों की तरह वे कुछ न कुछ करते ही रहते। और कुछ नहीं तो छोटा-मोटा हंगामा ही सही। 'कोई हंगामा करो, ऐसे गुज़र होगी नहीं' पंक्ति मानो उन्होंने ख़ुद को लक्ष्य करके ही कही थी। उनके हंगामों से कुछ लोग नाराज़ होकर दुश्मन बन जाते, कुछ लोग खुश होकर क़रीब हो जाते। इन हंगामों की वजह से उनसे कटने-जुड़ने वालों का सिलसिला कुछ वैसा ही था जैसा ट्रेन से उतरने-चढ़ने वालों का होता है। मैंने प्रायः देखा, ऐसे क्षणों में क़रीब आए लोगों से उनके संबंध एक सीमा तक ही होते। उनके अंतरंग मित्रों का दायरा इससे अलग, बिलकुल अलग होता।

भैया मूडी और शौकीन तबीयत के आदमी थे। सिगरेट, सुरा, सुदरी से लेकर खेती करने तक का हर शौक़ उन्होंने पूरा किया। एक के बाद एक कई कारें बदलीं। और जब उनके पास करने के लिए कुछ नहीं होता, तो लोगों को अपनी प्रयोगशाला में बनी शराब पिलाते। स्कॉच की बोतल में ब्लैक नाइट, ब्लैक नाइट की बोतल में पानी मिली रम,

वोदका की बोतल में सौंफ (म०प्र० की देशी शराब) का रेडीमेड स्टॉक उनके पास तैयार रहता। उनके प्रयोग का शिकार एक बार मैं भी हुआ। उन्हें मालूम था, मैं देशी नहीं लेता हूँ। बोले—'मुन्नू जी ! वोदका पियोगे ?' भला वोदका का लालच कैसे छोड़ देता ? मैंने पी और ख़ूब तारीफ़ की। अगले दिन मालूम हुआ कि मैंने वोदका के नाम पर सौंफ पी थी।

योजनाएँ तो उनके पास अनंत थीं। कल इंडस्ट्री डाल रहे हैं तो आज रेडीमेड कपड़ों का बिजनेस करने के लिए बिलकुल तैयार बैठे हैं। गरज़ ये कि ख़ाली बैठना उन्हें गवारा नहीं था। वे घर में हों या दफ़्तर में, प्रायः व्यस्त रहते। मिलने वालों और काम कराने वालों से घिरे रहते, कभी किसी के लिए सिफ़ारिशी परचा लिख रहे होते, कभी टेलीफ़ोन कर रहे होते। वे गाँव जाते। वहाँ भी उनका दरबार लग जाता। किसी का डिप्टी साहब से काम है तो किसी का दरोगा जी से। किसी के लड़के को नौकरी चाहिए तो किसी को ट्रांसफ़र। उनके पास हर मर्ज़ की दवा थी। रोगियों को उन पर यक़ीन था। ज़रूरी नहीं था कि दवा असर करे ही। मगर बहुत-से रोगी दवा लेते ही ठीक हो जाते। तभी तो लोग फौजदारी से लेकर घरेलू झगड़ों तक के लिए उनके पास आते।

'शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक' की भाँति भैया भी हर रंग में ज़िंदादिली से जिए। पिताजी अकसर एक शे'र कहा करते थे—'ज़िंदगी ज़िंदादिली का नाम है, मुर्दादिल क्या ख़ाक जिया करते हैं।' मुझे फ़ख़्र है कि उनके लड़के ने उनकी भावना की पूरी-पूरी क़द्र की। भैया ने ज़िंदगी को भरपूर जिया, पूरे ऐश्वर्य से जिया। अपनी मरज़ी से जिया। वे बने-बनाए रास्ते पर नहीं चले। लीक (रास्ता) से हटकर चले। व्यवस्था और क्रम से उन्हें नफ़रत थी। ये उनका सिद्धांत नहीं, स्वभाव था। उनके हमउम्र नौजवान जब भविष्य बनाने में जुटे हुए थे, तब वे कविता का दरवाज़ा खटखटा रहे थे। जब लोग-बाग बाल-बच्चों की चिंता कर प्लॉट ख़रीदने और मकान बनवाने में लगे थे, वे कविता में ग़ज़लों का नया प्रयोग कर रहे थे और संप्रेषणीयता की समस्या पर ठोस सर्जनात्मक काम कर रहे थे। चार आदमियों की ज़िंदगी, वह भी सिर्फ़ बयालीस वर्ष की उम्र में, अकेले उन्होंने जी ली। पिताजी की इच्छा थी, वे वकालत करें या पुलिस में भरती हो जाएँ। भैया ने दोनों ही काम नहीं किए। उन्होंने बिलकुल अलग राह चुनी—कविता की राह।

कविता उनके लिए अस्तित्व से भी अधिक महत्त्व रखती थी। उसके साथ वे पूरी ईमानदारी से पेश आए। उसके लिए उन्होंने कभी नक़ली मुद्राओं और मुखौटों को नहीं स्वीकारा। उनकी कविता अनुभूति की सच्चाई और प्रामाणिक जानकारी की कविता है, उसकी भाषा के तेवर नकली नहीं हैं।

अपने कवि की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए ही उन्होंने ज़िंदगी को उस जोखिम के साथ जिया, जिससे कि दूसरे अकसर कतराकर निकल जाते हैं। वे चाहते तो आसानी

से इसकी जगह दूसरे शब्द-समझौते को स्वीकार कर सकते थे। जबकि दुनियादारी का तक़ाज़ा भी आज यही कहता है, फिर क्या वजह थी कि अपेक्षित दुनियादारी के बावजूद वे समझौतों से बचते रहे ? हर बार सोचने पर मेरा निष्कर्ष एक ही रहा कि उनका कवि उन पर हावी था, वह जैसा चाहता, कराता। प्रायः ऐसा होता कि वे तट पर बैठे नदी के प्रवाह और अथाह जल से भयभीत होते रहते और उनका कवि, अथाह जलराशि में उतर चुका होता। वे डरते, ये कहीं डूब न जाए। वो तब तक नदी पार कर चुका होता या शंख-सीपियाँ और घोंघे बटोरकर वापस आ चुका होता।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनकी दोस्ती इस कवि से और अधिक प्रगाढ़ होती चली गई। वे पहले थोड़ा-बहुत डरते थे, लेकिन इस कवि-मित्र ने उन्हें एकदम निर्भीक बना दिया। किसी अफ़सर या मंत्री से मनमुटाव होता या ऐसा ही कोई वाकया होता, भैया एक बार चुप हो जाते। यह सोचकर कि ज़िंदगी में तो ऐसा होता ही रहता है। उनका कवि सजग प्रहरी की तरह चुपचाप सारी प्रतिक्रियाओं को नोट करता चलता और अवसर की प्रतीक्षा करता रहता कि दुष्यन्त अकेले में मिले तो मैं उसे समझाऊँ। वह समझाता और वे कनविंस हो जाते। अगले दिन मिलते तो कहते, 'बहुत हो गया', 'दो-चार हाथ लगा ही दें', 'अब तो मार ही दें।' कोई कुछ कहे, इससे पहले वे अपने अभियान में जुट जाते। कोई उनके साथ है या नहीं, इसकी चिंता उन्हें नहीं रहती। वे अकेले ही अभिमन्यु की तरह लड़ते जाते। दबाववश पीछे हटना या पराजय स्वीकार कर लेना उन्होंने कभी नहीं सीखा। वे हारने लगते तो उनका सहजन (कवि-लेखक) सक्रिय हो जाता ('आँगन में एक वृक्ष', 'साये में धूप', 'काव्य-कथा' आदि रचनाएँ ऐसे ही क्षणों की देन हैं)। जीत जाते तो व्यक्ति दुष्यन्त कुमार त्यागी गर्वित, अहंकार की सीमा तक नहीं, हो उठता। एक ख़ास बात और कि इन सारे संघर्षों के बावजूद वे चेहरे पर एक भी विकृत रेखा नहीं आने देते थे। अगर मैं यह कहूँ कि अपने पर ऐसा नियंत्रण मैंने किसी और आदमी में नहीं देखा तो शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी। मेरी नज़र में इसका एकमात्र कारण सिर्फ़ यही था कि वे अपने हरेक कड़वे-मीठे अनुभव को अपने सहजन को सौंपते चलते थे। उनके कभी न टूटने और सदा तरोताज़ा रहने का असली राज़ यही था।

अजीब आदमी थे वे। अपने ही दर्द का मज़ा लेते। अपने आपसे ही निर्मम मज़ाक करते। मुझे वे दिन अच्छी तरह याद हैं, जब वे सस्पेंड थे और कार में घूमते थे। लोग ताज्जुब करते, उन्हें मज़ा आता। लोग पूछते—'क्या हाल है ?' वे कहते—'अभी एक उपन्यास पूरा हुआ है। कुछ दिन और सस्पेंड रहा तो दूसरा भी लिख डालूँगा।'

भैया ने जो किया, ठीक मानकर किया। उन्हें जो मिला, उसे सहज रूप में स्वीकारा, उस पर कभी अफ़सोस नहीं किया। वे न कभी अतीत पर पछताए, न कभी भविष्य के लिए चिंतित हुए। वर्तमान से बड़ा उनके लिए कुछ नहीं था। इसलिए वे अच्छा-बुरा सब

कुछ सहज ढंग से स्वीकार करते चलते गए। परिणाम की चिंता में उन्होंने रुपहले, सुनहले क्षणों को कभी हाथ से गँवाया नहीं। यों ज़िंदगी की किताब बहुत बड़ी है, पर उन्होंने यथासंभव हर पृष्ठ को पढ़ने की सफल-असफल कोशिश ज़रूर की। हर नई चीज़ के लिए वे बच्चों की तरह ललकते। दस झूठ-सच बोलते और पाने की कोशिश करते। इसी तरह हर नए आदमी से बड़ी आत्मीयता से मिलते। बड़ी तेज़ी से क़रीब आते। और जब यह जान जाते कि सामने वाला एकदम खोखला है, वे कुछ नहीं पा सकेंगे, तेज़ी से पीछे हट जाते। ज़िंदगी में वे जो कुछ भी तलाश करते रहे हों, उसके लिए महानगर से कस्बे तक, शहर से लेकर गाँव तक, अमीर से लेकर गरीब तक भटके।

भीतर अनुभवों की समृद्धि, बाहर पुरुषोचित सौंदर्य, बातचीत का सलीका, ये ऐसी बातें थीं कि उनका व्यक्तित्व चाहे-अनचाहे अमरबेल की तरह दूसरों पर छा जाता। यह उनका गुण भी था, दुर्गुण भी। इस विचित्र विरोधाभास पर कुछ लोग चकित होते, कुछ अभिभूत, कुछ पीड़ित। उन्हें समझ लेने वाले क़रीब हो जाते, न समझने वाले बिजली से लगे धक्के की भाँति चौंक उठते। दरअसल उनके व्यक्तित्व की रेखाएँ कभी साफ़, सरल, सपाट दिखलाई देतीं, कभी आड़ी-टेढ़ी, एक-दूसरे को काटती दिखलाई देतीं कि उसे सरलीकृत करके देखने की कोशिश असफल हो जाती। इसलिए उनके संबंध में कोई निर्णय अंतिम नहीं हो पाता। उनमें एक ओर जीवन की अदम्य ऊष्मा थी तो दूसरी ओर विश्वास की हद तक पहुँचने वाला ठंडापन भी था। साधारण प्रेम-प्रसंगों पर किशोरोचित भावुकता थी तो वर्षो से चले आ रहे संबंधों पर बौद्धिक तटस्थता भी थी। इसलिए कभी उनका व्यक्तित्व काँच-सा पारदर्शी लगता, कभी भूलभुलैया-सा दुर्गम। इस अबूझ पहेली का समझने का भ्रम बहुतों को हो सकता है। लेकिन सही हल कम लोग ही निकाल पाए।

भैया विचित्र थे। अपनी कमज़ोरियों को वे खुलेआम स्वीकारते ही नहीं, प्रदर्शित करने में भी नहीं झिझकते थे, पर यदि किसी ने उनकी इच्छा के ख़िलाफ़ उनकी कमज़ोरियों को उन्हें समझाना या उनसे मनवाना चाहा तो वे तत्काल बिफर उठते। एक तरह से उनकी दोस्ती की यह शर्त थी कि आप उनकी ग़लत बातों को सही मानकर चलें या उनमें हस्तक्षेप न करें।

अपने संबंध में बातें चलने पर भैया केवल इतना ही कहते, 'मैं बहुत ग़लत समझा गया आदमी हूँ।' इससे आगे अपने को निर्दोष सिद्ध करने या दूसरों की राय में हस्तक्षेप करने की कोशिश कभी नहीं की। म०प्र० के लेखकों पर 'सारिका' में उन्होंने जिस बेबाकी से लिखा, उसी बेबाकी से अपने पर शरद जोशी का लिखा छपाया भी था। बहुत क़रीब रहने पर भी मैंने उन्हें सही समझा या ग़लत, नहीं कह सकता। हाँ, इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि खंड-खंड करके देखने पर उन्हें सही नहीं समझा जा सकता था। जिन्होंने ऐसा किया, वे वापस लौट गए। जिन्होंने उन्हें समग्र रूप में देखा या देखने की कोशिश

की, वे पास आ गए। उनके लिए वे बहुत प्यारे आदमी, बहुत अच्छे दोस्त, बड़े दिलचस्प साथी थे।

भैया ने अपने लिए ग़लत-सही, भूत-भविष्य, अच्छे-बुरे की चिंता नहीं की। शायद इसी वजह से मेरे लिए चिंतातुर रहे। जब मैं एम०ए० में पढ़ रहा था, तब वे रेडियो की नौकरी में थे। भगवंत देशपांडे का छोटा-सा क्वार्टर उनके पास था। उन दो वर्षों में उन्होंने मेरे लिए क्या नहीं किया ? मेरी पढ़ाई का नुकसान न हो, यह सोचकर वे शाम को कभी घर नहीं बैठे। बाद में भी, मेरी समस्याएँ उनकी समस्याएँ होतीं, मेरी चिंताएँ उनकी चिंताएँ होतीं। अगर मैं दुखी हुआ, प्यार से, डाँट-फटकार से समझाने की कोशिश करते, लेकिन खुद मेरे जाने के बाद रोते। मेरे अहितचिंतकों को उन्होंने कभी क्षमा नहीं किया। मेरे दोस्त, उनके अनुज, मेरे दुश्मन, उनके दुश्मन थे। हमारे संबंधों का यह ऐसा भावात्मक पक्ष था, जिसके कारण मैं अनचाहे उनके गई ग़लत कामों में मूक या सक्रिय सहयोगी बन जाता।

भैया को चाहने के मेरे अपने कारण थे और मुझे चाहने के उनके अपने कारण थे। एक-दूसरे से बिलकुल अलग। ख़ून का रिश्ता, बड़प्पन आदि कई कारणों में वे मुझे अजहद चाहते रहे होंगे। पर मैं इसके पीछे महेंद्र भैया (उनसे बड़े भैया) को ही देखता हूँ। उनके असमय चले जाने की पीड़ा को भैया ने अपनी आदत के मुताबिक़ कभी कहा नहीं परंतु एक घटना को बहुत डूबकर सुनाया करते थे—किसी 'हीरोइक स्टोरी' की तरह। वे मुज़फ़्फ़रनगर में सातवीं में पढ़ते थे और महेंद्र भैया दसवीं में। एक दिन ड्राइंग मास्टर ने दुष्यन्त भैया को 'अरे, फैटर के भाई फैटर' कहते हुए दो-चार तमाचे लगा दिए। भैया सीधे बड़े भाई के पास गए और अड़ गए—जब तक उससे बदला नहीं लेगा, मैं स्कूल नहीं जाऊँगा। ऊँचे-पूरे, हृष्ट-पुष्ट महेंद्र भैया की उम तो सोलह वर्ष की थी, लेकिन मेधावी, शालीन किंतु दबंग छात्र के रूप में धाक थी। किसी तरह आश्वासन देकर भैया को उन्होंने शांत किया। रात को ही भैया को मालूम हो गया कि उनके शत्रु मास्टर पर दो-चार हाथ साफ़ हो गए हैं। इस घटना के कुछ दिन बाद ही महेंद्र भैया की उस समय मृत्यु हो गई जब वे बहत्तर स्कूलों की वाद-विवाद प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ वक्ता का पुरस्कार लेकर खुशी-खुशी मुज़फ़्फ़रनगर लौट रहे थे, तो स्टेशन को देखने के लिए दरवाज़े से बाहर झाँका ही था कि सिर रेलवे सिग्नल से टकरा गया।

—प्रेमनारायण त्यागी

तुम्हारे हाथ में आई तो इक मशाल हुई

काई खुरचकर नए सूर्य के बैठाने की जगहें बनाना
दुष्यन्त की कल्पना का प्रस्थान बिंदु था।

—धर्मवीर भारती

कविवर भवानीप्रसाद मिश्र की रचनावली के संपादन के बाद कविश्री दुष्यंन्त कुमार की रचनावली पर काम करना अवधि की दृष्टि से यद्यपि बहुत छोटा काल कहा जा सकता है किंतु कर्म की दृष्टि से बेहद अगम और असूझ। कवि दुष्यन्त कुमार जिस अल्पायु में अकस्मात् मध्याह्न के सूर्य की तरह अस्त हुए उससे उनके द्वारा फैलाया गया और अस्त-व्यस्त मिला सृजन-संसार मुझे कोई रास्ता देने को तैयार नहीं दिखा। यद्यपि उनकी प्रेरणाएँ उन्हें आनन-फानन में रचना-व्यापार तक ले आती थीं किंतु एक-एक रचना के दो-दो, तीन-तीन प्रारूप, सो भी अनिर्णीत रूप में, मेरी मुश्किलों को बढ़ाते चलते थे और मेरे लिए तय करना मुश्किल बना रहा कि उनकी किस पंक्ति को फाइनल समझा जाए। लिख लेने के बाद माँजना, माँजने के दौरान सटीक और परिपूर्ण अभिव्यक्ति की कोशिशों में जुट जाना, एक ही पंक्ति को कई-कई बार लिखना, काटना, काटकर दूसरे-तीसरे ढंग से फिर लिखना, पहले प्रयुक्त शब्द क। हटाकर अधिक अर्थगम्य, संप्रेष्य काव्य-पद की तलाश करना, आवेगपरक अभिव्यक्तियों को संतुलित रूप देना किंतु इस प्रक्रिया में अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावी और कलात्मक बनाना, कवि दुष्यन्त की ऐसी काव्य-साधना थी जिसे उनके कवि-रचनाकार का बुनियादी स्वभाव कहा जा सकता है।

अपने प्रारंभिक गीतों की उन्होंने जितनी कच्ची पांडुलिपियाँ तैयार की हैं, उनको देखकर यह लगता है कि वे अतिमहत्त्वाकांक्षी, यशःप्रार्थी कवि थे और उनकी प्रतिभा शास्त्रों में वर्णित शुक्र विक्षोभी प्रतिभा रही है। यों नो आत्माभिव्यक्ति को ही सच्ची और ईमानदार अभिव्यक्ति कहा गया है और दुष्यन्त आसानी से इसी कोटि के सर्जक ठहराए भी जा सकते हैं लेकिन आत्माभिव्यक्ति को सीमित और संकीर्ण अर्थों में ग्रहण करने वालों के ख़तरे भी कुछ कम नहीं हैं। दुष्यन्त की कोई भी अभिव्यक्ति संवाद-विमुख अभिव्यक्ति नहीं है। उसमें संवाद उन्मुखता की ज़बरदस्त ललक है। इसी कारण वह केवल एक व्यक्ति का अनुभव-व्यापार नहीं है बल्कि दो सामाजिक अस्तित्वों का एक ऐसा संवाद है जिसमें सर्जक दोनों ही चरित्रों का संवाद ख़ुद रच और बोल रहा है।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में जितनी अंतर्मुखता रहती है, उतनी ही बहिर्मुखता भी। कवि दुष्यन्त की काव्य-प्रतिभा भीतर से बाहर की इसी यात्रा का एक दुर्दम और अनथक सिलसिला है।

उनका समूचा लेखन गद्यमय और पद्यमय है। कविता में वे गीत, ग़ज़ल, रुबाई, मुक्तछंद शैली, काव्य-नाटक सबका प्रयोग करते हैं। उसी तरह गद्य में संस्मरण, रेखाचित्र, कहानी, नाटक, रेडियो-रूपक, साक्षात्कार और डायरी से लेकर वे निबंध-आलोचना जैसे गंभीर बौद्धिक सृजन माने जाने वाले रास्तों पर वे उतने ही आत्मविश्वास से भरे हुए बेधड़क पथिक की तरह आते-जाते हैं।

उनकी सृजनशीलता का स्रोत अजस्र ओर अक्षय था। उनकी प्रतिभा सचमुच ही नवोन्मेषकारी थी। पर इससे भी कहीं अधिक यह कि उनका काव्य-विवेक अतिलोकपरक और एक ख़ास अर्थ में 'देशी' था। इसलिए उनकी अभिव्यक्तियों मे वे बौद्धिक दुरूहताएँ और अमूर्तताएँ नहीं हैं जो नई कविता और प्रयोगवाद के छठवें-सातवें दशक में कवियों की स्वाभाविक पहचान बन चुकी थीं। विपरीत इसके उनकी कविताओं में अनुभवों की देशी ज़मीन, अभिव्यक्तियों का जनोन्मुख मुहावरा, शिल्प का तरल लचीलापन और सहज-स्वाभाविक वक्रता थी। निश्चय ही वे गूढ़ कलावादी नहीं थे किंतु आंदोलनी कवियों की-सी सपाटता ओर सरलता भी उनमें नहीं थी। हाँ, खुलापन किंतु ख़ूब था।

कवियों का सचमुच अगर कोई मध्यमार्ग होता है तो दुष्यन्त यही थे। अपनी अभिव्यक्तियों में कुछ-कुछ मुँदे किंतु बहुधा खुले हुए। मुँदने के बावजूद दिखते हुए-से और खिले हुए फूल की पंखुड़ियों में अपने प्रयोजनों को किसी भीनी-सी गंध में चुपचाप समेटे हुए। सुनते आ रहे है कि सौंदर्य ऐसा भी न हो जो गुर्जरबाला के कुचों-सा दूर से दिखता रहे, ऐसा भी नहीं कि आंध्रबाला के यौवन-सा प्रकट ही न हो।

आधुनिकतावाद के तमाम शोर के बावजूद उनकी कविता इसी काव्य-पथ पर चलती रही। दूर की कोड़ी लाने या फिर अपने पाठको को अपनी जटिलता ओर गूढ़ता से हीन साबित करने की कोशिश उन्होंने कभी नही की। लेकिन उन्होंने अपने काव्य-संकेतों से निरंतर कविता के आस्वाद को बदला और जनमानस को उसी की परिवर्तनकामी आकांक्षाओं की ओर अग्रसर किया। पाठक ही उनका हमेशा वरेण्य और लक्ष्य रहा। जीवन भर वे उसी की अपेक्षाओं से अनुशासित होते रहे। वही उनका ध्येय और मंज़िल भी रहा।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक गाँव में जन्मे, बचपन में उसी के परिवेश में पले-पुसे होने के नाते जीवन की सामूहिकता उनके संस्कारों में थी। आज कुछ लोग गाँव का मतलब सिर्फ़ खेत-खलिहान, किसान और नदी-तालाब या फिर कुएँ आदि से लगाते हैं। वे प्रेमचंद जैसे बड़े और महान् कथाकार को पढ़कर भी यह नहीं विचार कर पाते कि गाँव भारत की सामूहिक ज़िंदगी का प्रतिमान और उसकी संस्कृति की आत्मा है। बंकिमचंद्र

जिसे सुजलाम् सुफलाम् शस्य श्यामलाम् कह रहे हैं, वह कोलकाता, ढाका और मुर्शिदाबाद नहीं, वही गाँव है जिसको न समझकर समझने का दंभ और ढोंगपूर्ण चालाकी इन दिनों ख़ूब बढ़ गई है। कवि दुष्यन्त की बुनियादी चेतना इसी हवा-पानी में संस्कारित और दीक्षित हुई थी। पश्चिम का कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड कहा जाने वाला इलाहाबाद अपनी बौद्धिक संभ्रांतता और चाल-ढाल में कुछ इस कदर रँगा और डूबा हुआ था कि दुष्यन्त जैसे कवियों और मार्कण्डेय-कमलेश्वर आदि जैसे कथाकारों को नए सिरे से आत्मचिंतन और आत्ममंथन करना पड़ गया। ये सब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आज़ादी के बाद के गाँवों और शहरों का अघोषित बँटवारा और अलगाव किसी भी रूप मे लेखन का यथार्थ न बनने देंगे। गाँवों की विशाल आबादी की अप्रतिहत जिजीविषा, विरल-बेजोड़ जीवनबोध और सामूहिकना को एक ऐसे रचनात्मक बिंदु तक ये ले जाएँगे जहाँ कला-बोध और जीवन-बोध की चौड़ी और गहरी होती जातीं खाइयाँ पाटी जा सके। एक ऐसा साहित्य बोध विकसित किया जा सके जो भाषा के पढ़ने वालों से लेकर उसके बोलने वालों तक के लिए उसका अपना लगे। काव्य-पंडितों को जो भले ही अपनी कूट-अभिव्यक्तियों से उनकी बौद्धिकता और शास्त्र-अभिमुखता को चुनौती न दे किंतु उन्हें अपनी स्वाभाविक सहजता से आकृष्ट करे और कविता के सामान्य से सामान्य पाठक को अपनी ज़िंदगी की अनुभूतियों के आसपास लगे। अपने काव्य-मुहावरों में तरोताज़ा, विचारों मे अद्यतन होकर भी जो विलक्षण सृजन की विचित्रताओं से बचता-बचाता निकल आया हो।

इस दृष्टि से देखने पर दुष्यन्त की कविता न तो कमल और गुलाब है, न कैक्टस यानी नागफनी या थूहर। वह तो उस गेंदे की तरह है जिसकी प्रत्येक ज़मीन अपनी है और जिसे हर ऋतु और मौसम में खिलना, खुलना और महकना है। हवा-धूप, सरदी-गरमी, घटा और मेह के आते-जाते गतिशील रूपों और व्यापारों को सहना ही नहीं, उनके साथ निरंतर सहज संवाद करते हुए अपनी अथक जीवनी-शक्ति का प्रमाण देते रहना है।

कवि दुष्यन्त को साहित्य के तमाम प्रचलित और जाने-पहचाने संप्रदाय अब तक भी अगर अपनी संकीण राजनीति का सदस्य नहीं बना पाए तो कारण यही है कि वे साहित्य के इन तमाम संप्रदायों और उनकी संकीर्ण दृष्टियों का अतिक्रमण कर सके थे। दक्षिण और मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी तो वे ख़ैर हो भी नहीं सकते थे किंतु वे उन ठस्स और जड़ यथार्थवादियों से भी असहमत थे जिनके काव्य-प्रतीक ही नहीं, काव्यचेतना बोध तक शास्त्रीय स्रोतों से चलकर आता है। संप्रदायवादियों और पोंगे शास्त्रवादियों की इन सीमाओं को पार कर जहाँ वे खड़े और रचनारत थे, वह जगह वही है जहाँ एक सच्चा और लोकधर्मी सर्जक सक्रिय रहता है। जिसकी ईमानदारी केवल अनुभवों में नहीं, उसकी अभिव्यक्तियों और आशयगत निहितार्थों में भी निवास करती है। जो व्यक्तित्ववान होकर कभी भी व्यक्तिवादी नहीं होता। जिसकी काव्यचेतना अपने प्रेरणागत उद्गमों से

निकलकर एक ऐसी काव्य-सरिता-सी प्रवाहित होती रहती है जिसमें आसपास के नदी-नालों का मटमैला पानी भी छन-छनकर निथर उठता है। मिट्टी के तरल कणों की ऊर्जा, हवा की गति, सूरज का प्रचंड प्रकाश और आकाश की असीमता का सौंदर्य जिसमें झिलमिलाया करता है। तब यह बेमानी-सा हो उठता है कि इसे मध्यवर्ग की कविता कहें या सर्वहारा की, या फिर कोरी कल्पनापरक, अतिभाववादी अथवा चरम कलावादी। वह तो एक ऐसी कविता होती है जिसमें जीवन का रस अपनी समग्रता में हिलोरें ले रहा होता है। उद्‌गम के स्रोतों को जहाँ पहचाना जा सकता है, प्रवाह-पथों से बातचीत की जा सकती है और महसूस किया जा सकता है कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी ध्येय के प्रति समर्पित है। उसकी अपनी एक जानी-पहचानी नागरिकता और कर्मभूमि है।

आख़िर कोई तो वजह होगी कि जो इलाहाबाद 'अंधायुग' जैसा नए रंग-ढंग का काव्य-नाटक लेकर आया था, वही इलाहाबाद उक्त काव्यानुभव को झुठलाते हुए 'सूर्य का स्वागत' की कविताएँ लेकर आया। मूल्य-शून्यता, विषाद, विध्वंस और तनाव की जगह जीवन की सहज भावभूमि और गतिशीलता, मानवीय संबंधों की ऊष्मा, भविष्य के प्रति विश्वास और आलोकित आस्थाएँ इन कविताओं की विशेषता कही जा सकती हैं। इस रूप में ये कविताएँ उस जातीय काव्य-दृष्टि की परंपरा में थीं, जिसमें अनास्था और विषाद के तत्त्व केंद्रीय नहीं माने जाते। साथ ही अपनी साफ़-सुथरी, निर्भ्रांत अभिव्यक्तियों की ताज़गी के चलते जो कविता के पाठकों के लिए दूसरे अर्थों में नई भी थी।

यह नयापन उस कहने में था जिसमें गद्य और पद्य की भाषा के मुहावरे दूर-दूर रहने के वजाय अधिक क़रीब आ गए थे। कवि ने अपने कहने का एक ऐसा जीवंत, भरोसेमंद और उत्फुल्ल अंदाज़ विकसित कर लिया है, जिसकी पहचान मानवीय पुरुषार्थों और उसकी अदम्यता में निवास करती है। यह अदम्यता और अपराजेयता दुष्यन्त की केवल 'तीन दोस्त' कविता में ही नहीं, ख़ुद कवि द्वारा रचित आत्मचित्र वाली कविता में भी है, जिसका शीर्षक है—'इनसे मिलिए'। कविता की पहली पंक्ति है—'पाँवों से सिर तक जैसे एक जनून।' लेकिन आगे के सारे बिंब जैसे किसी आड़े-टेढ़े, टूटे-बिखरे अस्तित्व की परिभाषा हों, जैसे 'कोई एटम से उजड़ा हुआ गाँव हो, फिर भी विद्युत परिचालित मखनातीसी चाल, कितने अजीब हैं इनके भी व्यापार, इनसे मिलिए ये हैं दुष्यन्त कुमार।'

इसी संग्रह में उनकी एक कविता और है 'जभी तो', जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस तरह हैं—

मैंने कुछ तेज़-सा कहा है,
यों मुझे क्या पड़ी थी
जो अपनी कलम को खड्ग बनाता मैं ?

'सूर्य का स्वागत' की इन्हीं कविताओं ने एक समानांतर नया वातावरण रचा, जिसमें जीवन के अभावों और मुश्किलों से मुँह छिपाने या अकेले में बैठ रोने के बदले हक़ीक़तों का सामना करने का अनूठा दम-ख़म ओर अंदाज़ था। यह एक प्रकार से कुंठा की विदाई का प्रस्थान-गीत था—

प्रसव-काल है !
सघन वेदना !
मन की चट्टानो कुछ खिसको
राह बना लूँ,
ओ स्वर-निर्झर बहो कि तुम में
गर्भवती अपनी कुंठा का कर्ण बहा लूँ,
मुझको इससे मोह नहीं है
इसे विदा दूँ !

यह कुठा का पुत्र हमेशा
कोरव-दल की ओर रहेगा,
ओर लड़ेगा !

कवि के द्वंद्वों को ही नही, उसके अपने पक्षों का भी संकेत यहा वहुत साफ़ ह—

बाहर आने दूँ
तो लोक-लाज मयादा
भीतर रहने दूँ
तो घुटन, सहन से ज़्यादा
मेरा यह व्यक्तित्व
सिमटने पर आमादा

प्रमाणिन करने की ज़रूरत नहीं कि कवि ने अपन इन संशयों पर काबू पा लिया ओर उन रास्तो पर बेखटके निकल पड़ा, जिनस उसे चुनौतियाँ मिली थीं।

पराजय-बोध के बदले अपराजेयता का बोध दुष्यन्त की कविता की आधारभूत पहचान अगर रही है तो उसके कारण कोन-से होगे ? वह शक्ति-स्रोत कौन-सा है जो कवि-चेतना को कभी घुटने नहीं टेकने देता ? इन प्रश्नों के उत्तर की खोज में निकलें तो हमें अस्तित्ववादी क्षणबोध और मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद की हदों को पार करना होगा। हज़ारों सालों के मानवीय पौरुष और उसके संघर्षो के इतिहासों को खँगालना होगा।

दुष्यन्त जैसे कवियों का काव्य-बोध इन्हीं इतिहासों के छने हुए अनुभवों की ताक़त से पैदा हुआ है।

कहते हैं, अपने दूसरे काव्य-संग्रह 'आवाज़ों के घेरे' में कवि दुष्यन्त आवाज़ों के चौतरफ़ा हमलों से अचकचा-से गए हैं। किंतु मैं इससे सहमत नहीं हो पाता। कारण यह कि यहाँ उनकी चेतना आत्मनिर्भर करती दिखाई देती है और उन सारे लोगों को आवाज़ लगाती है जिनके होने से कोई एक समय और समाज स्वयं को परिभाषित करने का सुयोग पाता है। 'आवाज़ों के घेरे' में निस्संदेह दुर्दांत शक्तियों के हमले हैं, किंतु सामूहिकता को पुकारती गुहारों का समूह-घोष भी कुछ कम नहीं है। पूरे संग्रह में इस 'घोष' की अनुगूँजें व्यापी हुई हैं। कवि अपने सहधर्मियों, पाठकों, यहाँ तक कि दर्शकों और श्रोताओं तक से संवाद कायम करने की विकल आकांक्षाओं से भरा हुआ है—

मैं और तुम और हम सब
जो धरती माता की गोद में तड़पते हैं
मुट्ठियाँ बाँध-बाँधकर आगे बढ़ते हैं
और हार जाते हैं—
किसी वृहद और विशाल गीत के बोल हों
और कल जनम लेकर
पूरी धरती पर फैल जाएँ !

इस पारंपरिक चेतना को तभी महसूस किया जा सकेगा जब हम कवि के इस आत्मधिक्कार का प्रत्यक्षीकरण भी कर सकें—

धिक् ! मेरा काव्यत्व
कि जिसने टेका माथा
धिक् मेरा पुंसत्व
कि जिसकी कायर गाथा
ये अपने से ही अपने की हार
और मैं देख रहा हूँ !

इन पंक्तियों पर ग़ौर करें तो समूची जातीय कविता हमारी चेतनाओं में नए सिरे से झनझनाती और बजती हुई मिलती है। कवि की वह बेजोड़ इतिहास-दृष्टि भी जो किसी भी सजग दृष्टि की पकड़ में आ सकती है—'खिलने के क्षण में ऐसे आसार/और मैं देख रहा हूँ।' जिन्हें खिलने के क्षणों का ठीक अर्थ ग्रहण हो सकेगा, वे कवि के इशारों को भी पकड़ने में चूकेंगे नहीं।

'सूर्य का स्वागत' की कविताओं में इलाहाबाद के वातावरण की गहरी छाप है। काव्य-मुहावरों और सोच पर हलकी छायाएँ हैं। पर 'आवाज़ों के घेरे' की काव्य-चेतना पर विस्तृत जीवन-यथार्थ के संवेदी स्वर लहरें ले रहे हैं। कवि की अभिव्यक्तियाँ अधिक सहज और अनौपचारिक हैं। संप्रेषण अधिक सुगम हो चला है और कवि अधिक खुलेपन के साथ मौजूद है।

'सूर्य का स्वागत' की कविताओं में निश्चय ही आशावाद अपनी वैचारिक प्रबलता में मौजूद है, किंतु 'आवाज़ों के घेरे' में यह कल्पना से कहीं अधिक यथार्थ की वास्तविकताओं से मर्यादित हो सका है। काव्य-बिंबों की स्वाभाविकता और सटीकता में भरोसेमंद ठोसपन और प्रत्यक्ष जीवनानुभवों की संघर्षशीलता की आँच है।

मेरी अपनी दृष्टि में यही वह संग्रह है जहाँ कवि दुष्यन्त अपनी समूची बौद्धिक छटपटाहटों और सशयो के साथ हैं। किंतु इससे भी कहीं अधिक उन आस्थाओं के साथ जो आगे के कवि-जीवन में उनकी रहनुमाई करती हैं।

इस संग्रह में कुछेक काव्य-बिंब ऐसे भी हैं, जो आगे के संग्रहों में प्रधान काव्य-बिंब की तरह दुहराए गए हैं। 'परंपरा-वियुक्त' कविता में एक ऐसा ही बिंब है—

मेले में भटके होते तो
कोई घर पहुँचा जाता
ये घर में भटके हैं !

'जलते हुए वन का वसंत' में यह बिंब अंत में संगृहीत इस ग़ज़ल में थोड़े-बहुत सवर्द्धन के साथ फिर दुहराया गया है—

मेले में भटके होते ता कोई घर पहुँचा जाता।
हम घर में भटके हैं कैसे ठौर-ठिकाने आएँगे।।

'आवाज़ों के घेरे' में जहाँ 'ये' का प्रयोग था, वहाँ 'हम' रखकर बात को अधिक ठोस शक्ल दे दी गई है। लेकिन असल सवाल तो घर में ही भटक जाने वाले बिंब का है। क्यों कवि दुष्यन्त इस बिंब को 'साये में धूप' तक ले जाते हैं ? क्यों उन्हें यह बिंब नेहरू-शासन काल से ही घेरने लगता है ? इस पर विचार करते हैं तो यह तथ्य भी हाथ लगता है कि दुष्यन्त न तो नेहरू से प्रभावित हैं, न ही अज्ञेय से। क्यों वे बार-बार शमशेर के अतिशय गूढ़ कलावाद और भारती के विलक्षण प्रयोगवाद की जगह भवानीप्रसाद मिश्र की 'सन्नाटा' जैसी कविता के समर्थक हैं ? क्यों ख़ुद उनकी कविता में पढ़ाकू दुनिया के काव्य-बिंबों की जगह वास्तविक जीवन के सामान्य किंतु ठोस काव्य-बिंबों की रोमांचकारी पुनर्रचना है ? क्यों दुष्यन्त प्रयोगवाद और कथित नई कविता के काव्य-साथी

होने को तैयार नहीं हैं ? क्यों वे सूरज, धूप, अलाव, आग और आँच के बिंबों पर इतने रीझे हुए हैं ? क्यों वे कुंठा, घुटन, समझौता और पराजय के विरोधी हैं ? उनके इस रुख से क्या हम पाठकों को यह अंदाज़ नहीं लगता कि दुष्यन्त तार-सप्तकवादियों के साथ नहीं हैं ? अगर हैं भी तो भवानीप्रसाद मिश्र जैसे कवियों के साथ हैं।

वस्तुतः कवि दुष्यन्त आज़ादी के बाद आई नकलची आधुनिकताओं को ही राष्ट्रीय जीवन के भटकावों के तौर पर लक्षित कर रहे हैं। ये राष्ट्रीय आंदोलन के दुःखद भटकाव हैं जिनका साथ हिंदी की नई कविता भी दे रही थी। दुष्यन्त कविता को उसके अनुभवों के स्वदेश में ही नहीं, उसकी अपनी बोली-बानी और देशी मुहावरे में भी ले आने के आग्रह ही थे। 'आवाज़ों के घेरे' में उनकी अभिव्यंजनाएँ इसी स्वदेशी की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराती हैं। उनके अनुभवों की धरती यहाँ तप रही है और उनके जल-भीगे कपड़े जैसे अस्तित्व को निचोड़-निचोड़कर उनकी कविताएँ इसी धरती पर छिड़क रही हैं।

आश्चर्य है कि इस संग्रह की अंतिम कविता 'गौतम बुद्ध से' एक संवोधनपरक छंदोबद्ध तुकांत रचना है, जिसमें कवि ने गौतम बुद्ध जैसे महालोकनायक और दार्शनिक से यह प्रश्न किया है कि तुम जिसे दुःख कह रहे थे, उससे भिन्न और प्रवल दुःख आज इस देश को घेरे हुए है। वह दुःख भूख और ग़रीबी का तो है ही, 'जर्जर जनता' की कातर कराहों का भी है। ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका हल बोधिवृक्ष के नीचे आँख मीचने पर नहीं मिल पाएगा। इसके लिए तो प्रत्यक्ष जीवन-संघर्ष में उतरना होगा। कुछ दूसरी खिड़कियों को खोलना पड़ेगा। एक युग-कवि होने के नाते न तो पलायन किया जा सकता है, न ही दीनता प्रदर्शित की जा सकती है। कवि स्वयं को 'भूखी मानवता का कवि' कहते हुए गौतम बुद्ध से यह आशीष माँगता है—

फिर भी दो आशीष कि जल्दी
पा लें कोई कूल - किनारा
काले आसमान में जागे
ज्योतिमान छोटा - सा तारा
आज नहीं तो कल, जब ऋतु
बदलेगी, अपने ज़ख़्म भरेंगे,
जिनको तुमने छेड़ा, हम भी
उन प्रश्नों पर मनन करेंगे।

इन पंक्तियों से गुज़र चुकने के बाद यह कहना तर्कपूर्ण हो जाता है कि दुष्यन्त की कविता काले आसमान में उदित छोटे-से ज्योतिमान तारे की कामना की कविता है। ग़ौरतलब है कि आसमान की कालिमा की चर्चा करने वाले दुष्यन्त अकेले नहीं हैं।

आज़ादी के बाद के इस अँधेरे और अन्याय की अनुभूतियों के बिंब मुक्तिबोध में भी ख़ूब हैं। 'भूल-ग़लती' से लेकर 'अँधेरे में' तक छाए जा रहे हैं, सल्तनत पर 'घने साये स्याह' जैसी पंक्तियाँ तो मुक्तिबोध की ही हैं। किंतु इनके बीच 'जुए के नीचे गर्दन डाल' जैसी समझौतापरस्ती और हार कहीं नहीं है।

यह कविता की वह परंपरा है, जिसे मुक्तिबोध 'संघर्ष' की परंपरा कहते हैं। भवानी मिश्र की 'सन्नाटा' कविता हो या नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन आदि की कविता या फिर सर्वेश्वर और धूमिल की कविता-धारा, दुष्यन्त अगर कहीं जुड़ते हैं तो यही है। ये वो लेखक हैं जो मानते हैं कि रचे गए शब्दों से सामाजिक और ऐतिहासिक बदलाव संभव हैं। भक्ति आंदोलन से लेकर भारतेंदु और राष्ट्रीय आंदोलन का साथ देने वाली कविता इसी बदलाव की पक्षधर कविता है। और बदलाव की कविता सचमुच जुनून से वास्ता रखती है, जिसमें बुद्धि की व्यावहारिक फिसलनों की जगह मानव-चेतना का अबाध उजाला निरंतर जगमगाता रहता है।

प्रेमचंद की तरह वे मानते थे कि साहित्य राजनीति और सभ्यता के आगे चलने वाली मशाल है, न कि उसका शर्मनाक पालतू अनुचरत्व। इसीलिए उन्होंने अपनी चेतना को कभी किसी पार्टी या संगठन के पास न तो गिरवी रखा, न ही किसी के प्रति अपने पूर्वाग्रह पाले। विपरीत इसके उन्हें जहाँ भी मनुष्यता संकटग्रस्त दिखी, उसके कारणों में गए, मनन-चिंतन किया और चिह्नित शत्रुओं को रेखांकित कर अवाम को सावधान और जागरूक किया। शासकीय सेवा में रहते हुए उन्होंने मध्य प्रदेश में हुए बस्तर गोलीकांड के शहीद राजा प्रवीणचंद्र भंजदेव की नृशंस हत्या पर ज़बरदस्त प्रतिवादी कविता लिख छपवा दी। तानाशाही की ओर बढ़तीं प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को संबोधित कर ग़ज़लें लिखीं। संपूर्ण क्रांति या फिर दूसरी आज़ादी का असफल सपना देखने वाले सन् '74 के एक और राष्ट्रीय आंदोलन और उसके लोकनायक जयप्रकाश को 'एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यों कहो/इस अँधेरी कोठरी में एक रोशनदान है' कहा। अपने निर्भ्रांत लोकतांत्रिक बोध के बल पर उन्होंने प्रत्येक राजनीतिक दल और विचारधारा के प्रति हमेशा चौकसी बरती और लोकतांत्रिक मूल्यों और व्यवहारों की कसौटी पर उनके आचारों को जाँचा-तौला और खरे-खोटे का फैसला लिया।

जे०पी० आंदोलन के प्रत्यक्ष समर्थक लेखकों में रेणु, नागार्जुन और भवानीप्रसाद मिश्र ही गिने जाते हैं किंतु प्रत्यक्ष साहित्यिक समक्षता तो 'साये में धूप' की ग़ज़लों में ही दिखी। इनमें गाली-गलौज कहीं नहीं है, पर लोकवेदना की गहरी बेचैनी, पीड़ा, छटपटाहट और अकुलाहट है; कुछ कर गुज़रने की तमन्ना भी कुछ कम नहीं है। सामूहिक चुप्पी और लाचारी को सामूहिक सामर्थ्य और आक्रामक प्रतिवाद में बदल डालने का पुरजोर आह्वान है। इन ग़ज़लों को पढ़-समझकर मित्र कमलेश्वर ने जब यह आशंका प्रकट

की कि सारा आंदोलन तो तत्त्ववादियों के कुचक्र में फँसा हुआ है तब दुष्यन्त ने कहा था, 'तुम जन-उभार को नहीं देख रहे हो, मैं इसी राष्ट्रीय आंदोलन का साथी हूँ। मेरी ग़ज़लें भी इस परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भागीदारी कर रही हैं। कविता से परिवर्तन होता है, हो सकता है, ऐसा दुष्यन्त का भरोसा था।

अपने पहले काव्य-संग्रह 'सूर्य का स्वागत' से लेकर बहुप्रतिष्ठित ग़ज़लों के संग्रह (दीवान) 'साये में धूप' तक दुष्यन्त ने जिन काव्य-बिंबों को अपनी पहचान बनाने की कोशिश की है, उनमें सूरज, धूप, वसंत, अलाव के बिंब अलग से पहचाने जा सकते हैं। ये वे प्रतीक हैं जिनकी स्मृतियाँ जातीय हैं। जिनके अर्थ-संदर्भ में अस्मिता का कोई संकट नहीं है। जिनसे हमारे राग-विराग सहस्राब्दियों के हैं। इसी तरह उनकी काव्य-कल्पनाएँ हमें किसी दूरस्थ संसार की वायवीय उड़ानों की ओर नहीं ले जातीं। वे हमारे आसपास कभी-कभी तो पाँवों के नीचे की ज़मीन की तरह खड़ी लगती हैं, जहाँ हम ही नहीं, हमारे पुरखों का जीवन भी ध्वनित-प्रतिध्वनित होता रहता है। इस रूप में कवि दुष्यन्त हमें एक ऐसे काव्य-संसार में ले जाते हैं जहाँ जीवन अपने स्वाभाविक कुरुक्षेत्र में है। उनकी कविता इसी महासमर की अनुगूँज है। मानव आकांक्षाओं की कोमलता और स्वप्नशीलता, परिस्थितियों की कठोरता और दुर्दम मानव जिजीविषा का जो 'त्रैलोक' यहाँ हमारे संवेदनों का हिस्सा बनता है, उसमें अनुभवों की सच्चाई, कल्पना की दमदारी और विचारों की ऐसी तेजस्विता है कि कविता हमारे जीवन-संघर्षों की ख़ूबसूरत तर्जुमा बन गई है। इसका एक कारण यह भी है कि दुष्यन्त अपनी किसी भी सर्जना को अंतिम मानकर नहीं चलते। अन्यतम होकर भी वह उनकी रचना-प्रक्रिया का एक सोपान-भर है। इसीलिए वे एक ऐसे रचनाकार हैं जिनमें निरंतर सजगता और गतिशीलता है। अतीत की पौराणिक स्मृतियों से लेकर साक्षात् वर्तमान की अनुभूतियों तक से वे अपना जो रिश्ता चुनते और कायम करते हैं, उसमें साहित्य और समकालीन जीवन और उसकी राजनीति का इतना सघन योग है कि बग़ैर उन सबके उनकी कविता को समझने का दावा बेमानी होगा।

कल्पना, विचार और अनुभूति का ऐसा सहज देशी और ठेठ सौंदर्य इस कविता में मिलता है कि हम कब कविता में हैं और कब जीवन में, पता ही नहीं चलता। सो भी ऐसी गहरी सादगी के साथ जैसे कि हम कविता में हों ही नहीं, जीवन की किसी घटना के हिस्से हों या फिर उसकी सहज चपेट में। ऐसी सटीक, ठोस और अनसँवरी-सी कल्पनाओं ने दुष्यन्त के कवि को बेहद प्रामाणिक और भरोसेमंद बना दिया है। इसी तरह पौराणिक संदर्भों को नए अर्थ देना, ज़रूरत पड़े तो उनके विन्यास में समकालीन चरित्रों की उपस्थिति को प्रवेश कराकर कलाकार की मनमौजी स्वच्छंदता का परिचय देना, प्रकट राजनीति और सत्ताधारियों के तमाम दबदबों, आतंकों की परवाह न करते हुए अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाना और फिर उनके परिणामों का सामना भी उसी विरले अंदाज़ में करना हमें

कवि के एक ऐसे दुस्साहसिक बोध और विकट जीवट की प्रतीति कराता है जो समकालीन कविता में विरल है। कवि दुष्यन्त ऐसे ही विरले और विकट कवि-लेखक थे जिनमें हद दरज़े का अभय, अपराजेयता बोध.और दुस्साहसिक जुझारूपन था। उनकी रचना क़दम-क़दम पर इसकी गवाही देती मिलेगी। अपनी इन दुस्साहसिक-सी कही और मानी जाने वाली अभिव्यक्तियों में उन्होंने जिस कवि-धर्म का प्रतिमान रेखांकित किया है, वह समकालीनों के लिए हतप्रभकारी और विस्मयपूर्ण है।

बनी-बनाई हदों को तोड़कर सर्वथा नई काव्याभिव्यक्तियों और मर्यादाओं की ओर बेखटके बढ़ते जाना यह सूचित करता है कि दुष्यन्त अभिव्यक्तिवादी सर्जक नहीं थे। वे एक ऐसे वस्तुपरायण और लोकधर्मी रचनाकार थे जो निरंतर बेचैन रहकर उन दिशाओं की खोज में आगे की ओर बढ़ता रहता है जो उसकी बेचैनियों को उसकी सर्जनात्मक संतुष्टियों में बदल सकें। किंतु जैसे-जैसे उनके पाँव आगे बढ़ते जाते थे, बेचैनियाँ कम होने के बजाय और बढ़ती ही चली जाती थीं। गीत, रुबाई, मुक्तछंद, काव्य-नाटक, कविता और ग़ज़ल के रूपों में हमेशा की उनकी आवाजाही, प्रत्यावर्तन और असंतुष्टि यह बताती है कि वे कविता के रूपों से जो काम लेना चाहते थे, वे पूरा तो नहीं ही दे पाते थे। इसलिए इन रूपों के प्रति उनका रवैया एक ऐसे शोधी कवि का-सा रहा करता था जिसे सबसे सटीक और भरोसेमंद 'माध्यम' की निरंतर तलाश थी। पर यह भी लक्ष्य करना ज़रूरी है कि उनकी बेताबी उन्हें किसी एक ठौर पर बहुत समय तक ठहरने नहीं देती थी। परंपराप्राप्त काव्य-रूपों और आयातित नए काव्य-माध्यमों के बावजूद उनका मन जहाँ बार-बार जा ठहरता था वह जगह वही थी जहाँ कविता का संगीत अपनी आकर्षक और मार्मिक लयों में गूँजता हो, भाषा लोकानुभवों से गहरा आत्मीय आलाप कर रही हो, अनुभव अपने लोगों की ज़िंदगियों की गवाही बन चुके हों और विचार उनके जातीय पौरुष के प्रमाण हों।

ऐसी कविता लिखने की पहली शर्त है लोकसमर्पण और दूसरी है भाषा के बोलचाल वाले जीवंत मुहावरों से गहरी जान-पहचान। तीसरी और अंतिम शर्त है साहित्यवाद के शिकंजों से सजग मुक्ति। कहने की ज़रूरत नहीं, दुष्यन्त ने यह आत्मसाधना कर ली थी, क्योंकि अपने उदयकाल से ही वे इनसे न केवल परिचित और सचेत हो चुके थे, बल्कि उनकी सीमाओं को समझते हुए एक ऐसे माध्यम की टोह में थे जिसमें कविता लोक की अंतरात्मा की अनुगूँज बन सके। अंततः यह उन्हें 'साये में धूप' की ग़ज़लों में मिली।

यह वह परंपरा थी जिसमें जीवन ही नहीं कविता की मुश्किलों का रुँधा-फँसा सच, कविता और जीवन की मूलभूत सच्चाइयों और समूची रवानी में एक साथ उफन और बह रहा था। यह वह जगह थी जहाँ काव्यान्दोलन, विचार-निकाय, काव्य-संप्रदाय और

साहित्यिक फैशनों के फौरी और अतिवादी आग्रह अपनी सतही माँगों, वादी दृष्टियों और संकीर्णताओं से ऊपर उठकर जीवन की स्वाभाविक चहल-पहल और हलचल बन जाया करते हैं। सृजन इनके बीच जीवन के जाने-पहचाने और हमेशा से तरह-तरह से कहे-सुने जाने वाले असमाप्य गाथावृत्त की तरह उसके पाठकों और श्रोताओं को चारों ओर से घेर लेता है। ख़ास तौर से एक ऐसे समय में जब उम्मीदों पर तुषारापात हो चुका हो और कवि सत्ताओं का मुँहतोड़ जवाब देने की ख़्वाहिशें लेकर अपने लोगों के पास आ खड़ा होता है। एक ओर गुजरात और बिहार का छात्र-आंदोलन; समूचे देश में अपनी खोई हुई आज़ादी को फिर से पा लेने की उमंग और कटिबद्धता दूसरी ओर जैसे कि इसी का इंतज़ार-सी करती दुष्यन्त की कविता :

लेकिन एक बात है कि
शोर जब ज़्यादा होता है
तो उसके पीछे एक ख़ामोशी बोलती है
और जब वह ज़बान खोलती है
तो शोर चाहे जितना तेज़ हो
सकते में पड़ जाता है…

यह भी दुष्यन्त ही थे जो लिख रहे थे :

सिर्फ़ शायर देखता है क़हक़हों की असलियत
हर किसी के पास तो ऐसी नज़र होगी नहीं

दुष्यन्त की कविता की पहचान अगर करनी पड़े तो ये पंक्तियाँ काफ़ी भरोसेमंद साबित होंगी। जिन दिनों 'साये में धूप' की ग़ज़लें 'धर्मयुग', 'सारिका', 'कल्पना', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में छपकर पाठकों तक आ रही थीं, जैसे किसी बरसों से ठहरी और मुर्दा आबादी में भूचाल-सा आ गया था, कई दशकों बाद कविता अपने उदास और निराश-से हो चुके पाठकों का दरवाज़ा थपथपा रही थी और पाठक अपनी गहरी चुप्पी और गूँगापन छोड़ अपने पड़ोसियों, बस्ती के लोगों से इन ग़ज़लों के मार्फ़त बातचीत करने लगे थे। उन्हें न जाने यह एहसास कैसे हो चला था कि जब राजनीति, धर्म, कलाएँ और तरह-तरह के लोक-विज्ञान आम आदमी को धोखा देने पर उतर आए हों, व्यवस्थाएँ उसकी लाचारियों को समझकर लोक अस्तित्व का मखौल उड़ाने लगी हों, तब कविता के शब्द एक अकेले और अचूक अस्त्र की तरह उसके पास आ खड़े होते हैं। दुष्यन्त की ग़ज़लों ने अपने देश के आम आदमी का साथ ऐसी ही कठिन ऐतिहासिक स्थितियों में दिया था। वे उसके भीतर की सोई हुई शक्तियों को पुकार-पुकारकर जगा रही थीं। उसे हिम्मत दिला रही थीं। तमाम दुःखों और तकलीफ़ों के बावजूद यह यक़ीन दिलाने में लगी थीं

कि आदमी का क़द प्रत्येक व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान की विरासतों से कई गुना बड़ा है। सारी व्यवस्थाएँ और ज्ञान-विज्ञान उसके द्वारा खोजे और रचे गए हैं। आदमी उनका सच्चा रचयिता है। ज़रूरत अगर है तो इसी विस्मृति को स्मृति में बदलने की है। वही स्रष्टा है और संहारक भी।

बीसवीं सदी के आठवें दशक में लागू किए जाने वाले आपातकाल के पहले, ऐन बीच और दौरान लिखी गई ये ग़ज़लें किसी मंत्र से कम नहीं थीं। इनमें पाठकों को एक लौकिक दिव्यता की अनुभूति हो रही थी। किंतु इनके अर्थो की अनुगूँजे वहीं तक सीमित नहीं थीं। आज भी इनके शव्दों में उतनी ही चमक और वैसी ही अर्थ-प्रखरता है। वैसा ही भाव-संधान और वैसी ही व्यंजकता है। निस्संदेह क्लासिक ग़ज़ल जैसी गहरी परदेदारी और कोमल वक्रता इनमें न हो पर लोकयथार्थ की गहरी पीड़ाओं की व्याकुल करवटें, ओज और तेज से भरे उद्वेगपूर्ण कथनों की भंगिमाओं की यहाँ भरमार है। यह वह क्लासिक है जिसे हम जनता का क्लासिक कहना चाहेंगे, अगर क्लासिक कहने की कोई सचमुच की मजबूरी ही हो तो। अन्यथा यह कहना कहीं ज़्यादा उचित होगा कि संघर्षशील, अन्याय विरोधी लोक सजगता ने इन्हें अपना क्लासिक चुन लिया है। क्योंकि ये उद्घोष भी हैं, नारा भी, प्रबोधन हें तो मंत्र भी। इनमें जज़्बा भी है तो कर्मप्रेरकता और कर्मतत्परता भी।

दुष्यन्त की प्रतिभा की जो कौंध उनके पाठकों को 'सूर्य का स्वागत' की कविताओं में कभी दिखी थी, वह यहाँ धूप और घटा की तरह फैल और छा गई है। इसमें जितनी उदासी और साँवलापन है, उतनी ही उम्मीद और प्रकाश भी। जितनी वेदना की तड़प है, उतनी ही आक्रामक प्रचंडता, उद्दाम पौरुषबोध और आस्थापरकता भी। यह ऐसी ज़िंदा कविता है जो सिर्फ़ ज़िंदा लोगों के लिए ही लिखी जाती है और इस धरती पर जब तक ज़िंदा चीज़ें और लोग रहेंगे, यह उनके होने और बार-बार होते रहने का भरोसा दिलाती रहेगी। अगर यह कोरी आंदोलनी और फौरी कविता होती तो अब तक इसके अर्थो की चमक मटमैली और संगीत मद्धिम पड़ गया होता। यह तो अब भी जिस-तिस की ज़बान पर है। यह अब कवि से कहीं अधिक 'भाषा' बोलने वाले लोगों की कविता है और आदमियत के सनातन एहसासों से भरी हुई है। यह कविता और मनुष्य के शाश्वत संबंधों की सबसे ताज़ा परिभाषा है।

दुष्यन्त की कविता पर इतना कह चुकने के बाद यह कहना अब शायद तर्कपूर्ण लगे कि उनका व्यक्तित्व निरंतर गतिशील और विकासमान रहा है। इस विकास के रास्ते में प्रतिमा की उठान-गिरान के बावजूद फिसलनें कहीं नहीं हैं और साधना की अडिगता और ध्येयपरकता तो ऐसी है कि कवि अबाध गति से अपने लक्ष्यों की ओर बढ़ता चला गया है।

इस यात्रा में उसने समकालीन साहित्य के कई मुद्दों को अपने ढंग से हल करने

की कोशिश की है जैसे कि कविता भले ही कवि के निमित्त से आए किंतु उसका असली उत्प्रेरक तो काल और समाज है। वही उसका विधाता है। कवि को इसी की साधना करनी चाहिए जिससे उसमें उस ऐतिहासिक दृष्टि का विकास संभव हो सके जो दूर और पास एक साथ देख सके। जिसे अँधेरों और उजालों की पहचान हो और भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी जो कातरता का प्रदर्शन कभी न करे। जिसे कैसा भी ऐतिहासिक विभ्रम बरगला न सके और कैसा भी मोह कभी छल न पाए। कुंठा और रुदन को जो कविता का चरित्र न बनाए। प्रतिकूलताओं से टकराते हुए उनसे पैदा होती आवाज़ों को कविता की संगीतात्मक लयों में रूपांतरित कर उन्हें जीवन का क्रांतिकारी संगीत बना सके।

कविवर भवानीप्रसाद मिश्र पर लिखते हुए दुष्यन्त ने लिखा था कि 'बात बोलेगी' का मुहावरा देने वालों के यहाँ जब 'बात' प्रायः नहीं ही बोलती, वहीं भवानी भाई का 'सन्नाटा' तक बोलता है। कवि दुष्यन्त शायद ऐसी ही कविता को अपना आदर्श मानते थे जहाँ चुप्पी और मौन नहीं, भरपूर बतकही का आलम हो। अर्थ भीतर से बाहर और बाहर से भीतर की ओर निरंतर आवाजाही करते हों और शब्द क़दम-क़दम पर उनका साथ देते हों। वे केवल लिखे हुए न हों, बल्कि इससे पहले कई-कई लोगों की ज़बान पर कई-कई बार चढ़े-उतरे हों। कई-कई ढंग से उठे-बैठे और कई-कई बार जहाँ-तहाँ आए-गए हों। सीधे किताब से उठकर आए हुए शब्दों को दुष्यन्त ने भले ही किसी असमर्थता में अंगीकार किया हो पर कोशिश उनकी बराबर यही रही कि उन पर जीवन की प्रामाणिक मुहर लगी हुई हो।

आज नहीं तो कल उनकी ग़ज़लों को लेकर कुछ लोग हिंदी-उर्दू का प्रश्न भी उठाएँगे। तब कहना ही पड़ेगा कि दुष्यन्त न तो छायावादी हिंदी की विरासत में आते हैं, न फारसीवादी उर्दू की। वे तो उस हिंदुस्तानी हिंदी के कवि हैं जो भाषा के बोलने वालों से बनती है। उन्होंने तो कई फारसी शब्दों को बोलचाल से ही उठाया है। इससे अगर उर्दू शायरी की रवायत भंग होती हो, तो हो। पर हिंदी केवल एक भाषा नहीं, एक समूची जाति है। उर्दू इसी जाति की अपनी भाषा है। अतः हिंदी को संस्कृत की ओर ले जाना जितना अनुचित है, उर्दू को फारसी की तरफ़ खींचना भी उतना ही अनुचित है।

कवि दुष्यन्त यहाँ कबीर-तुलसी, मीर-ग़ालिब की विरासत को आगे बढ़ाते हुए आते हैं। बोलचाल की ध्वनियों, कहावतों और मुहावरों, बहुप्रयुक्त और प्रचलित वाक्यपदों और आशयगर्भी कथनों की यहाँ विपुल रमणीक उपस्थितियाँ हैं।

यह काव्यभाषा हमें अनुभवों से बिंबों, बिंबों से जीवन-स्थितियों और स्थितियों से विचारों की ज़मीन पर ला खड़ा करती है। वह हमें समझाती कम, पर सक्रिय तो बहुत ज़्यादा करती है। कविता के संसार से, धीरे-धीरे हमें वास्तविक संसार के पास ले जा खड़ा

करती है। जहाँ से केवल हम नहीं, कविता ख़ुद भी चलकर आई है।

किंतु एक भरपूर तल्ख़ी के साथ दुष्यन्त एक जगह लिखते हैं—'एक नीम का स्वाद मेरी भाषा बना। जो सिर्फ़ तल्ख़ी का नाम है।' एक स्वास्थ्यप्रद कसैलापन जो चतुर्दिक फैले हमारे मिथ्या स्वप्नों और मिथ्याग्रहों से हमें बचाता भी है। तथापि इससे मुकरना मुश्किल होगा कि उन दिनों की-सी वक्तव्यधर्मिता उनमें नहीं है, वह है और ख़ूब है, पर एक कल्पनाप्रवण भावुक कवि की कल्प-वल्लियाँ भी वहाँ कुछ कम नहीं हैं और इनकी प्रिय विशेषता वह देशज-सूझ है जिसे इस एक बिंबमाला से पहचाना जा सकता है—'भूख जहाँ आदमी पर/चीलों-सी घिरती है/गैस के गुब्बारों-से/ज़िंदगी के ख़्वाब जहाँ उड़ते हैं/मोमबत्तियों-सी जहाँ/युवा उम्र जलती है/जीने की आशाएँ/चिकनी मछलियों-सी हाथों में आती हैं/और निकल जाती हैं।' इनसे हम कवि-कल्पना का सामर्थ्य चयन की सटीकता और आशयगर्भी प्रयोगों का सौंदर्य चाहें तो निहार सकते हैं। एक अन्य अर्थ में कवि-कल्पना का सामर्थ्य भी। जीवनानुभव और काव्यानुभव का एका यहाँ देखने योग्य है।

पढ़े-लिखे लोगों की किताबी और फूहड़ सरकारी हिंदी के मरघट से निकलकर घर-बाज़ार और सिनेमा-दफ़्तर, खेत-खलिहान, जंगल-पहाड़ और नदी-तालाब वाली यह भाषा यहाँ छाई और फैली हुई है। यहाँ अमीर खुसरो और तुलसी-कबीर से लेकर मीर-ग़ालिब के बाद के प्रेमचंद की किस्सागोई वाली हिंदी को नई आभा, नया तेज और नई चमक मिली है। इसमें क्लासिक अभिव्यक्तियों की कौंध और रोमांटिक बयानों की ख़ूबसूरत अदाएँ हैं। समझने का शऊर जिनके पास अब भी बचा हुआ है, वे ज़रूर रीझेंगे किंतु जो सच्चे रसिक हैं, वो तो डूब ही जाएँगे।

स्कूल-कॉलेज, मीडिया, प्रिंट-मीडिया, मंच, सभा, विधानसभा और लोकसभा, पार्टियों, जन्मदिनों से लेकर जुलूसों तक हवा और धूप-सी व्यापी और चलती-फिरती ये ग़ज़लें अब हिंदी की अपनी विरासत हैं। ये उसकी भी हैं जो दुःख-दर्द में चीख़ रहा है। उसकी भी जो आवाज़ लगा रहा है। उसकी भी जो इसके आगे की कार्रवाइयों के बारे में सोच रहा है। यानी कि एक ज़िंदा, परिवर्तनकामी और व्याकुल जनबिरादरी, जिसे अपने लोकतंत्र के गुम होते जाते सपनों को ढूँढ़ निकालने की बेहद चिंता है। ये ग़ज़लें इसी रूप में देश की इन्हीं चिंताओं की सबसे प्रखर अभिव्यक्तियाँ हैं। कोई जब भी चाहे इन्हें ठोंक-बजाकर देखे। शर्त केवल पर यह है कि पहले उसे अपने आपको ठोंक-बजाकर देखना होगा।

सीस उतारै भुईं धरै तब पैठे घर माँहि

काव्यभाषा-संगीत के साथ-साथ छंद-संगीत के प्रति भी दुष्यन्त की सजगता निरंतर रही है। गद्यात्मक कथनों का स्पर्श करते हुए भी वे यह कभी नहीं भूले कि गद्य फिर भी गद्य और कविता अंततः कविता है। ऐसे अवसरों पर उनके काव्य-बयानों में जो तरल

भावुकता की आवेगमयता है वही उन्हें कवि बनाए रही है। किंतु छंदोबद्ध या तुकांत कविताओं में उनकी छंदसिद्धि और काव्य-संगीत बोध का मार्मिक प्रभाव अत्यंत प्रभावकारी है। कवि-सम्मेलनों के मंचों पर सस्वर पाठ करने से पूर्व, काव्य-रचना के दौरान भी वे पंक्तियों को गाते और गुनगुनाते हुए न केवल लिखते थे वरन लिख लेने के बाद भी गुनगुनाहट के उसी संगीत में रँगे और खोए रहा करते थे। जीवन के आख़िरी दिनों में लिखा उनका एक गीत जो निजी तौर पर मुझे भी बेहद पसंद है, 'अब उम्र का ढलान उतरते हुए मुझे/आती है तेरी याद तुझे कैसे भूल जाऊँ।' अन्यथा भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

कविता के कुल चार पदबंध हैं, जिनमें से दो को मैं रचनावली के पाठकों के लिए इसी बहाने से उद्धृत कर रहा हूँ :

फैले हुए सवाल-सा, सड़कों का जाल है,
ये शहर है उजाड़, या मेरा ख़याल है,
सामाने-सफ़र बाँधते-धरते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ

फिर पर्वतों के पास बिछा झील का पलंग
होकर निढाल शाम बजाती है जलतरंग
इन रास्तों से तन्हा गुज़रते हुए मुझे
आती है तेरी याद तुझे कैसे भूल जाऊँ

एक तरफ़ फैले हुए सवालों-सा सड़कों का फैला हुआ जाल। दूसरी ओर उजाड़ शहर का कटखना यथार्थ और तीसरी ओर कवि की जिजीविषा का संगीत, पर्वत, झील, और निढाल साँझ का जलतरंग बजाना, मुझे कुछ-कुछ ऐसा लगता है जैसे यही कवि दुष्यन्त की कविता हो। जहाँ परंपरा की ढेरों स्मृतियाँ, वर्तमान के अनेकों उजाड़, फिर भी उदासियों की साँझ किसी संजीवनी-सी जलतरंग बजाती सुनाई दे रही हो। इस संगीत में जिए गए जीवन की टीस और देखे गए सपनों के अधूरे रह जाने की विकलता है। टीस और विकलता की यही पूँजी उनकी कविता में सूखी समिधाओं की तरह भभक-भभककर जल रही है और कविता का अलाव अपनी लपटें फेंकता नाउम्मीदों के अँधेरों को अपनी आँच से उम्मीद के उजालों में बदल रहा है। दुष्यन्त की कविता की यही राजनीति है, यही उसकी शक्ति है, यही उसका सपना भी। वह तब तक रहेगी जब तक अँधेरे रहेंगे। जब अँधेरे नहीं रहेंगे तब तो रहेगी ही।

दुष्यन्त केवल पाठकों के लिए अगर लिख रहे होते तो भी वे शायद इधर न आते। कविता को काव्य-शास्त्र विनोद मानते होते, तो भी नहीं। यह दुष्यन्त ही थे जिन्होंने

लिखा—'मेरी ज़बान से निकली तो सिर्फ़ नज़्म बनी/तुम्हारे हाथ में आई तो इक मशाल हुई।' कविता को वे सिर्फ़ शब्दों तक सीमित रखने के कायल नहीं थे। उसे परिवर्तन के सबसे धारदार हथियार के रूप में देखने के आदी थे। लेकिन यह कहते और सुनते हुए भूलना नहीं चाहिए कि कविता की सबसे पहली शर्त है—संप्रेषण। और संप्रेषण की चरम सार्थकता फलीभूत होती है तादात्म्यता में। ऐसी एक स्थिति जहाँ एक समूचा संवेदन समूह कवि से कविता और कविता से श्रोता और पाठक में रूपांतरित होता रहता है। जहाँ भाषा का अर्थ और छंद-संगीत, जीवन और भाषा की लय और आशय-संकेत अपने पाठकों/श्रोताओं की कलात्मक चेतना के हिस्से वन जाते हैं। कवि-कविता और उसका रसिक समाज साकार हो उठता है। दुष्यन्त ने अपने आख़िरी दिनों में इसे एक साथ अर्जित कर लिया था।

'अंधायुग' और 'कनुप्रिया' के रचनाकार धर्मवीर भारती, जो दुष्यन्त की ग़ज़लों के संपादक भी रहे, लिखते हैं—'आख़िर क्या था उन ग़ज़लों में जो इस तरह इतनी गहराई से झकझोर गया ? उनकी मँजी हुई ज़वान, कसे हुए छंद, बंकिम भंगिमा, नया तेवर, कसी हुई अभिव्यक्ति ? यह सब तो था ही, पर सबसे बड़ी बात यह थी कि वे एक ऐसे आदमी की प्रामाणिक पीड़ा-भरी आवाज़ थे, जो अपने मुल्क को, अपनी इस दुनिया को वेहद प्यार करता रहा है। जो इसके बेहतर सपनों और उजले भविष्य के प्रति अखंड आस्थावान रहा है। भविष्य के सपनों में जी-जान से जिया है, जिसने देखा है बेबसी और लाचारी से एक-एक कर उन सपनों को बिखरते हुए और उसका दर्द पूरी शिद्दत से महसूस करते हुए। उसने चिर-परिचित बिंबों को एक नए संदर्भ में पुनर्जीवित कर दिया, एक प्रामाणिक दर्द-भरी आवाज़ थी इन ग़ज़लों की जो बिना किसी आलोचक की शब्दाडंबरी वकालत के पाठक को व्यापक स्तर पर छू गई। 'सूर्य का स्वागत' से जो यात्रा बड़े हौसले के साथ शुरू हुई थी, वह इन ग़ज़लों से काव्य-शिखर पर पहुँच गई। अफ़सोस ! यह रश्मिरथी मध्याह्न में ही डूब गया।'

आज उनकी कविता जितनी पठनीय है, उससे कई गुना अधिक वह कही और सुनी जाती है। वह भारत की स्मृति और श्रव्य-परंपरा की भी सबसे ताज़ी मिसाल है। निस्संदेह वह बेहद लोकप्रिय है किंतु उतनी ही गंभीर भी।

—विजय बहादुर सिंह

पांडुलिपियों के बीच दुष्यन्त

कवि की दर्जनों कविता-डायरियों, सैकड़ों बिखरे-बेतरतीब कागज़ों, अखाड़े में डंड पेलते किसी ज़िद्दी और अभिमानी पहलवान-सा उनका काव्य-अभ्यास और तरह-तरह से लिखी, काटी, फिर लिखी और कभी-कभी तो फिर कभी के लिए अधूरी छोड़ दी गई प्रक्रिया के बीच कुछ पठनीय, कुछ अपठनीय लेखन पद्धति ने इतनी मुश्किलें खड़ी कीं कि संपादक का होश भी ठिकाने आता रहा। इससे भी बड़ा कमाल यह कि हस्तलिखित कविता को मुद्रित रूप तक पहुँचाते-पहुँचाते कवि ने कभी-कभी तो उसका कायाकल्प ही कर डाला। एक-एक कविता—ज़्यादातर गीत-लेखन में—उन्होंने एक साथ कई-कई प्रारूप तैयार किए और किसी एक को भी न जाने क्यों रद्द नहीं किया ? क्या इसे कवि का मोह कहा जाए ? और अपनी हर दूसरी-चौथी कविता को अंतिम रूप देते हुए उसके बिंबों में आमूल-चूल बदलाव को क्या कहें ?

अपनी कविता के प्रति हर छोटी-बड़ी प्रतिक्रिया पर आत्ममंथन वे ज़रूर किया करते थे। ऐसे भी साथी और मित्र थे जो उनकी भावनाओं को क्लिष्ट और कविताओं को कोरा गद्य तक कह बैठते थे, जबकि अन्य कई समकालीन कवियों की तुलना में दुष्यन्त को काव्य-संगीत का बहुत ख़याल रहा करता था। वे केवल अर्थ नहीं, शब्द की लय के भी हामीकार थे किंतु यह भी मानते थे कि काव्य-क्षेत्र में किए जाने वाले प्रयोग परंपरा से मेल खाते हों। यह भी कि कविता सूक्ष्मता की माँग करती है और सांकेतिकता के सौंदर्य की भी। ऐसी कविताएँ भी अनेक हैं जिनमें उन्होंने अपने ऊपर लगाए गए आरोपों के उत्तर दर्ज़ किए हैं। इसमें सबसे प्रमुख बात कवि की अपने पाठकों से सहृदयता की माँग है। तथापि अपनी कविता के पक्ष में उसने ज़रूरत-भर तर्क भी दिए हैं। अंततः उसने यह भी कह डाला है कि वह कविता के मार्फ़त अपनी नागरिकता रेखांकित करता है और काव्य-परंपरा की दृष्टि से कहें तो वह मौलिक सर्जक से कहीं अधिक एक प्रस्तुतकर्ता है। सबसे अहम बात यह कि 'मैं छंदों में तड़फूँ या कागज़ रँग डालूँ।' फिर भी तो व्यथा छलकती है कविताओं में। यह 'व्यथा' उसी कवि की है जिसे अनुभव के नाम पर परिस्थितियों ने कोड़ों से बार-बार पीटा है। इसलिए उसकी कविताओं में 'समय का त्रासद हाहाकार' तो स्वाभाविक ही है।

एक अभ्यासशील कवि के रूप में दुष्यन्त ने जब-तब समस्यापूर्ति भी की है।

इक्की-दुक्की कविताएँ ऐसी मिल भी जाती हैं। पर ज़्यादातर कविताएँ नई काव्य-शैली में हैं किंतु वादी आग्रहों से मुक्त तथापि जनपरायण और जनधर्मी।

अधिकांश कविताएँ उन्होंने ब्लू-ब्लैक या फिर काली स्याही में लिखी हैं। पर कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जो बादामी रंग के काग़ज़ों पर हरी स्याही से लिखी गई हैं। 'एक शहज़ादा अवध का' और 'जीवन-भर तेरी आग जलेगी और दहूँगा मैं' हरी स्याही में लिखी गई कविताएँ हैं।

जहाँ-जहाँ वे रहे—यानी चंदौसी, इलाहावाद, किरतपुर, मुरादाबाद, नई दिल्ली, उन सब जगहों के उनके अपने जीवन पर प्रतिक्रियामूलक कविताएँ मिलती हैं। इलाहाबाद के शुरुआती दिनों की ऊब और उदासी, किरतपुर की बेबसी और आर्थिक तंगी, दिल्ली की भागमभाग और मशीनी ज़िंदगी पर लिखी कविताएँ कवि की संवेदन-प्रखरता और आत्मसजगता का प्रमाण उपस्थित करती हैं। आश्चर्य है कि एकाध कविता उन्होंने अंग्रेज़ी में भी लिखी है।

आत्ममंथन, आत्ममूल्यांकन, अपराध-वोध, असामर्थ्य और सामर्थ्य-बोध के साथ-साथ अपने पक्ष में तर्क देना और सफ़ाई पेश करना भी कवि दुष्यन्त का स्वभाव रहा है। निश्चय ही वे किसी मुग़ालते या खामख़याली में रहा नहीं करते थे। वे बेहद सजग थे और काग़ज़ पर क़लम रखने से पहले काफ़ी सोच-विचार कर लिया करते थे।

इसी संदर्भ में एक प्रसंग याद करते हुए कवि के अंतरंग मित्र कथाकार कमलेश्वर ने बताया—'मैं उज्जेन के एक होटल में ठहरा हुआ था तो वह मेरी अनुपस्थिति में पहुँचा। पता नहीं कैसे उसने होटल के मैनेजर से मेरे कमरे की चाभी ले ली और इंतज़ार करने लगा। में मीटिंग से लौटा तो ग़ज़लों पर बातचीत होने लगी। ग़ज़लें तो वो मुझे पहले ही भेज चुका था। मैंने ही 'धर्मयुग' संपादक को उसकी ग़ज़लें पहले दीं। मैंने पाया कि वो काफ़ी गुस्से में है और बीच-बीच में किन्हीं-किन्हीं के प्रति गालियाँ भी बक रहा है। कह रहा है कि...ये...क्या लिखेंगे...ये खड़ी बोली ज़बान तो मेरे क्षेत्र की है, इनके लिए उर्दू-हिंदी का मसला सिर्फ़ कुछ साहित्यिकों का मसला कैसे हो सकता है ? हो भी तो यह उन्हीं साहित्यिकों का होगा, अवाम का तो कतई नहीं : अवाम इनमें कोई भेद करके नहीं चलता।' उर्दू शब्दों के देशी हिज्जयों पर दुष्यन्त की धारणाएँ रेखांकित करते हुए कमलेश्वर ने उसी बातचीत के हवाले से बताया कि वो कह रहा था—'मैं हिज्जे अगर उनके हिसाब से ग़लत लिखता हूँ तो मुझे कोई परवाह नहीं। मेरी बात पहुँचनी चाहिए।' कमलेश्वर जब यह क़िस्सा सुना रहे थे तो मुझे दुष्यन्त का यह मिसरा बेतरह याद आ रहा था—'मैं बेक़रार हूँ आवाज़ में असर के लिए।'

दुष्यन्त की काव्य-प्रक्रिया को अगर कभी समझा जा सकता है तो इसी बेकरारी और तड़प में शामिल होकर :

अब तड़पती-सी ग़ज़ल कोई सुनाए
हमसफ़र ऊँघे हुए हैं अनमने हैं

वो कह रहे हैं ग़ज़लगो नहीं रहे शायद
मैं सुन रहा हूँ हरेक सिम्त से ग़ज़ल लोगो !

कवि दुष्यन्त कुमार ने काव्य-रचना किस उम्र से शुरू की और उनकी पहली कविता कव लिखी गई, इसका कोई दस्तावेज़ी साक्ष्य नहीं मिलता। शायद आठवीं-नौवीं कक्षा से। 1946-1948 का उनका एक लाइनदार बहीनुमा रजिस्टर ज़रूर है जिसकी छायाप्रति पाठकों और शोधार्थियों के अभिज्ञता के लिए दी जा रही है। इसमें किशोर कवि ने, जवकि वह अपनी उम्र के पंद्रहवें वरस में था, अपना उपनाम 'विकल' अंकित किया है। आश्चर्य है कि उस रजिस्टर की एक भी कविता के नीचे 'विकल' हस्ताक्षर नही है। सर्वत्र 'परदेसी', डी॰ के॰ 'परदेसी' या फिर 'दुष्यन्त कुमार 'परदेसी' अंकित है। हाँ, इससे पहले की एक कापी में लिखी कविताओं में 'विकल' उपनाम का प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है। एस॰ एन॰ एस॰ एम॰ हाई स्कूल, नहटौर, ज़िला बिजनौर (उत्तर प्रदेश) के इस रजिस्टर में कुछ कविताएँ नीली स्याही से लिखी गई हैं, जिनकी संख्या मुश्किल से तीन या चार है। 'एक युग से गिन रहा हूँ बैठकर नभ के सितारे', 'काश! मैं भगवान होता', 'रोने में भी मज़ा बड़ा है' और इस क्रम की अंतिम कविता है—'मानवों ने शोक के शत गीत गाकर/देश के चुंबी-गगन झंडे झुकाकर/लोचनों से अश्रु के निर्झर वहाकर/निज हृदय के शोक का परिचय दिया था।' स्पष्ट ही यह कविता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की निर्मम हत्या से शोकविह्वल और विचलित होकर लिखी गई है। इससे अनुमान होता है कि ये चारों कविताएँ 1947 के अंतिम दिनों से जनवरी, '48 के बीच लिखी गई। संभव है, कुछ ओर कविताएँ लिख-लिखाकर फाड़ी भी गई हों।

रजिस्टर में अन्य कविताएँ काली स्याही या ब्ल्यू-ब्लैक स्याही से लिखी गई हैं और दो-एक साल वाद की लगती हैं, क्योंकि हस्तलिपि कुछ-कुछ प्रौढ़ हो उठी है।

या तो ये रचनाएँ चंदौसी काल की हो सकती हैं या फिर इलाहावाद काल की। अधिकांश प्रारंभिक कविताएँ (गीत) चंदौसी काल में ही लिखी गई किंतु दुष्यन्त नारायण सिंह त्यागी अपने स्कूल के दिनों के सहपाठी और वाद में व्यंग्य लेखन-क्षेत्र के सुपरिचित गद्य हस्ताक्षर रवीन्द्रनाथ त्यागी के सुझाव पर दुष्यन्त कुमार त्यागी हो गए। संभव है, इसी आपसी सलाह-मशवरे में 'विकल' उपनाम भी छोड़ा और 'परदेसी' कवि-नाम चुन लिया गया हो। कवि दुष्यन्त के 1946 से 1950-52 तक लिखे गीतों में यह 'परदेसी' नाम ही दर्ज है।

कवि ने कहीं-कहीं ही रचना-तिथियाँ अंकित की हैं। इसलिए अधिकांश तिथियाँ खोजी नहीं जा सकीं। पर कविता-डायरियों, हस्तलिपियों, कविताओं में वर्णित कतिपय विषयों, भावों और घटना-संकेतों से काल-निर्धारण संभव किया जा सका है।

यह भी कि उसने अपनी काव्य-यात्रा की विधिवत् शुरुआत 1946-47 से नहटौर के दिनों में शुरू की, जब उसकी उम्र पंद्रह-सोलह की थी और वह नौवीं कक्षा का विद्यार्थी था। यह सिलसिला संभव है एकाध साल पहले से शुरू हो।

इस बीच उसने कविताओं को छाँटा, चुना और दो-एक बार कच्ची-पक्की पांडुलिपियाँ भी बनाई। तब उसकी उम्र अठारह-उन्नीस की रही होगी। एकाध में समर्पण भी है। रचनावली का संपादन करते हुए उसे एक दस्तावेज़ के तौर पर उपयोग में लाया गया है और शुरुआत भी वहीं से की गई है जिससे कवि के प्रारंभिक रुझानों और प्रभाव-छायाओं का अनुमान लगाया जा सके।

यद्यपि इन प्रारंभिक कविताओं में प्रेमाकर्षण और प्रणयाकांक्षा ही सर्वाधिक है, किंतु कुछेक प्रारंभिक कविताएँ सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ से जुड़कर लिखी गई हैं और कवि के भावुक देश-प्रेमी मन की ख़बर भी देती हैं।

प्रकाशित काव्य-संग्रहों को यहाँ पाठकों की सुविधा के लिए यथावत् रहने दिया गया है और कविताओं की रचना-तिथि या प्रकाशन-तिथि कविताओं के नीचे दे दी गई है।

—संपादक

समर्पण

कि जिनके पद-चिह्नों को देख
हुआ है चलने का अभ्यास
उन्हीं के चरणों में सस्नेह
समर्पित मेरा प्रथम प्रयास

एकलव्य के गुरु द्रोणाचार्य के समान अपने गुरु श्रद्धेय सुमित्रानदन पंत के करकमलों में यह अकिंचन भेंट सादर समर्पित

—परदेसी

इस पाडुलिपि की कुछक कविताएँ ही यहाँ शामिल की गई है और उनके साथ नहटार-काल की पूर्व उल्लिखित कविताएँ भी यथाक्रम दी गई है। —सपादक

भावनाओं का है इस्कूल
पढ़ा करता हूँ जिसमें भूल
कि कविता बन जाती किस भाँति
हमारे लघु जीवन की भूल

कविता की यह पहली हस्तलिखित पाडुलिपि है। जो छायावादी कवि सुमित्रानदन पत को सश्रद्ध समर्पित है।

प्रारंभिक गीत

एक युग से गिन रहा हूँ

एक युग से गिन रहा हूँ बैठकर नभ के सितारे
दिन गए ऋतुएँ गई वे
विश्व में मधुमास आया
पर न चिर संतप्त अधरों पर
हमारे हास आया

चिर प्रतीक्षा में तुम्हारी गल गए लोचन हमारे
कूल हूँ ऐसा जगत का
बुझ न पाई प्यास जिसकी
थक गया पी-पी प्रणय-जल
मिट न पाई साध जिसकी

प्राण! अब प्यासा अधर चातक तुम्हें निशि-दिन पुकारे
मैं बटोही आस का कब
तक निराशा पर चलूँगा
और कब तक आस का
निश्वास दे उर को छलूँगा

व्यर्थ आशा की तरंगों से न मिल सकते किनारे

नहटौर वाले रजिस्टर से, संभावित रचनाकाल : 1946-47

फिर कर लेने दो प्यार प्रिये!

अब अंतर में अवसाद नहीं
चापल्य नहीं उन्माद नहीं
सूना-सूना-सा जीवन है
कुछ शोक नहीं आह्लाद नहीं

तव स्वागत हित हिलता रहता
अंतरवीणा का तार प्रिये!

इच्छाएँ मुझको लूट चुकीं
आशाएँ मुझसे छूट चुकीं
सुख की सुंदर-सुंदर लड़ियाँ
मेरे ही हाथों टूट चुकीं

खो बैठा अपने हाथों ही
मैं अपना कोष अपार प्रिये!
फिर कर लेने दो प्यार प्रिये!

नहटौर-काल/1946-47

काश! मैं भगवान होता

काश! मैं भगवान होता
तब न पैसे के लिए यों
हाथ फैलाता भिखारी
तब न लेकर कौर मुख से
श्वान के खाता भिखारी
तब न यों परिवीत चिथड़ों में
शिशिर से कँपकँपाता
तब न मानव दीनता औ'
याचना पर थूक जाता
तब न धन के गर्व में यों
सूझती मस्ती किसी को

तब न अस्मत निर्धनों की
सूझती सस्ती किसी को
तब न भाई भाइयों पर
इस तरह खंजर उठाता
तब न भाई भगनियों का
खींचता परिधान होता
काश! मैं भगवान होता।

तब किसानों पर किसी का
यों न अत्याचार होता
तब मचा हर पल जगत में
यों न हाहाकार होता
तब न ले हल-बैल तपती
धूप में वह दीन चलता
तब न कवि के लोचनों से
अश्रु का झरना निकलता
तब न यों मज़दूर पैसे
के लिए मजबूर दिखता
तब न रोटी की फिकर में
इस तरह मज़दूर बिकता
तब न यों श्रम-स्वेद कण से
लिप्त मानव काम करता
तब न हंटर मार देना
इस तरह आसान होता
काश! मैं भगवान होता

तब न यों बन दीन मानव
मार खाता क्रुद्ध रवि की
तब न यों धनवान मानव
आह पाता क्षुब्ध कवि की।[1]

---

1. *अपूर्ण/नहटौर-काल/1946-47*

रोने में भी मज़ा बड़ा है

रोने में भी मज़ा बड़ा है
अरे कभी तुम रोकर देखो!

मैं जब लौटा ताश खेलकर
मुझसे बोली यों घरवाली
तुम अंधे हो गए हाय रे
ये घर-बार पड़ा है खाली
नहीं ला सके नमक तेल तुम
नहीं ला सके सुरमा लाली
क्या शृंगार करूँ क्या खाऊँ
हाय आज आई दीवाली

मैं था तनिक नशे में यारो
बोला यों मटकाकर कूल्हा
क्या बकती उल्लू की पट्ठी
ठंडा पड़ा किसलिए चूल्हा?
यह सुन बिस्तर बाँध चली
भाग गया तब नशा हमारा
हाथ जोड़ कर उससे बोला
मैं तो हूँ फरजंद तुम्हारा

इस पर भी जब बाज न आई
बरसी नयन घटाएँ गम की
मुझको रोता देख हँस पड़ी
बोली, बस, यह तो थी धमकी
यारो अगर यकीन न आए
हँसते नयन भिगोकर देखो
यारो बड़ा मज़ा रोने में
अरे कभी तुम रोकर देखो!

एक दिवस मुझसे यों बोली
देखो दूध पिलाती हूँ मैं
तुम बच्चों को लेकर बैठो
आज सिनेमा जाती हूँ मैं
ही, ही, ही, ही हँसकर मैं बोला

जाओ मेरी रानी जाओ
साढ़े छह बज चुके घड़ी में
जल्दी जाकर टिकट कटाओ
पर मन ने यों कहा झींककर
तेरा नीम हकीम बुरा हो
अंग्रेज़ो हो बुरा तुम्हारा
तेरा ओ तालीम बुरा हो

ये पलकों पर उड़ने वाली
ये परदे में चलने वाली
अब गिट-पिट करती फिरती है

बारह बच्चे लिए पड़ा हूँ
क्या अंधेर मेरे आली है
क्या इनसानों के खाने में
अब औरत आने वाली है
बारह से क्या हाल हुआ है
ग्यारह बच्चे ढोकर देखो
रोने में भी बड़ा मज़ा है
अरे कभी तुम रोकर देखो!

संभावित रचनाकाल : 1946-47

क्यों तुमने मुझको प्यार दिया?

कब मैंने तुमसे माँगा था?
क्यों तुमने मुझको प्यार दिया?

मेरे यौवन के अंबर में
क्यों श्यामल घन बन छाए थे?
मेरे उर की मरुभूमि में
क्यों नेह के कण बरसाए थे?

कब मैंने तुमसे माँगा था
क्यों तुमने यह उपहार दिया?

बदली में घोर निराशा की
क्यों आशा की बिजली बनके
आए, क्षण ठहरे, चले गए
प्राणों में आकुलता भर के

कब मैंने तुमसे माँगा था
क्यों तुमने यह आधार दिया?

प्यासी-तृष्णा बुझ जाती थी
क्यों मधु का निर्झर रोक दिया
अपने पथ के दरवाज़े पर
क्यों तुमने ताला ठोंक दिया

कब मैंने तुमसे माँगा था
क्यों तुमने यह संसार दिया?

प्रारंभिक रचनाओं में से एक/1946-47

ये ऊँचे शैल शिखर सुंदर

लिपटाए हरियाली तन से
प्रमुदित स्थिर आलिंगन से
गर्वित हो देख रहे जग को
हर्षित हो अपनी किस्मत पर
ये ऊँचे शैल शिखर सुंदर

निश्चलता अपने साथ लिए
सुरभित शीतल मद वात लिए
अवसाद मिटाता है उसका
जो आता निर्झर के तट पर

इससे निकले सोते चंचल
कितना निर्मल है उनका जल
बहता रहता अविराम सतत
ऊँची चट्टानों से लड़कर

हरियाली विटपों पर अभिनव
करते हैं पक्षीगण कलरव
स्वच्छंद विचरते हैं नभ में
करते फिरते फर-फर-फर-फर

मसूरी के दीवानश्री होटल के कमरा नं. 169 मे रह लिखी गई कविता/1947

प्रथम प्रारूप

कवि तुम ऐसे गान सुना दो

टूट चुका है अपना बंधन
मुक्त हुआ है सबका जीवन
मातृभूमि पर बलि होने का
तुम सब में अभिमान जगा दो

स्वप्न-स्वर्ग की चाह करो मत
ठोकर खाकर आह भरो मत
वढ़े चलो उन शत स्वर्गों को
भारत को प्रतिमान बना दो

लौटा दो उल्लास हृदय का
भर दो तुम विश्वास विजय का
जीवन पथ पर गाता जाए
मानव, ऐसी तान सिखा दो

जगती का प्यासा कण-कण है
प्यासा मानव का जीवन है
तुम मधु वाणी से कवि अपनी
शाति सुधा-रस पान करा दो

टूटा दुःख का पर्वत जिन पर
अस्त हो गया सुख का दिनकर

उनके घावों को सहलाकर
शापों को वरदान बना दो।

कविता का यह पहला प्रारूप है जिसमें कवि छायावादी भाषा से मुक्त होकर आ रहा है, किंतु आत्मविश्वास की कमी और अनुकरणगामिता के कारण इसे अस्वीकार कर प्रभावग्रस्त होकर लिखा गया प्रारूप फाइनल माना गया है। अकसर दुष्यन्त का पहला प्रारूप बहुत सहज-स्वाभाविक और दूसरा बुद्धियोजित होता है। नहटौर /1947

अंतिम प्रारूप

कवि तुम ऐसा गान सुना दो

मृदु सपनों का ह्रास न आए
दु:ख की कोई साँस न आए
इस नश्वर जीवन में सुख का
अविनश्वर सागर लहरा दो

टूटा दु:ख का पर्वत जिन पर
अस्त हो गया सुख का दिनकर
उनके घावों को सहलाकर
शापों को वरदान बना दो

तृषावंत जग का कण-कण है
तृषावंत मानव जीवन है
कवि तुम अपनी मधु वीणा से
शांति सुधा-रस पान करा दो

अपने पर अभिमान हमें है
अपनेपन का ज्ञान हमें है
बजा जागरण की भेरी तुम
सुप्त आत्मसम्मान जगा दो

जन-जन का उल्लसित हृदय हो
जिधर चल पड़े कदम विजय हो
उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर
प्यारा हिंदुस्तान दिखा दो

कवि मत गाओ गाने गीले
कवि मत देखो स्वर्ग सजीले
निज साहस उद्योग लगन से
भारत स्वर्ग समान बना दो

नौवी-दसवी कक्षा के काव्यप्रेमी रजिस्टर में 'परदेसी' नाम से/नहटौर/1947

तुम एक बार मुस्का दो ना!

तुम एक बार मुस्का दो ना!

यौवन की अनुपम देन प्रिये
मधु प्यार भरा है मेरा उर
अनुराग-वर्तिका उकसा दो
देकर मुझको कल्पना मधुर,
जीवन के दीपक मे मेरे
निज स्नेह की बूँद गिरा दो ना!

शलभों से उर जल जाने का
उपदेश ले रहा है पावन
तव रूप-शिखा पर जलने को
आकुल होता जाता है मन,

तुम मधुर सुधा-रस पान करा
अस्फुट-सी प्यास जगा दो ना!

दो क्षण नयनों के स्वप्न कभी
बन जाने दो साकार प्रिये
बस जाने दो जीवन भर को
मधु स्वप्नों का संसार प्रिये,

पग पायल के रुन-झुन स्वर में
जीवन संगीत सुना दो ना!

तुम एक बार मुस्का दो ना!

1947-48

दूसरा प्रारूप

तुम एक बार मुस्का दो ना!

यौवन पर यौवन का प्याला
तुम अमिय मद भरे नयनों से
अस्फुट-सी प्यास जगा दो ना!

साँसों की सेजों पर छाना
तुम मेरे जीवन में आना
पग पायल के रुन-झुन स्वर से
जीवन-संगीत सुना दो ना!

मिट जाए न जीवन गल-गलकर
गीली पलकों से ढल-ढलकर
तुम चाँद चाँदनी की मदिरा
इस जीवन में बरसा दो ना!

बन प्यार हृदय में बरस प्रिये
यौवन में यौवन परस प्रिये
इस युग-युग की अभिलाषाएँ
तुम मेरी सत्य बना दो ना!

1947-48

मैंने भी एक क्षण देखा है

मैं सोचा करता हूँ सुख का
मैंने भी एक क्षण देखा है

जब बादल बिजली को भरकर
बाँहों में मुस्काया करता
जब विस्तृत अंतर में अपने
भर स्नेह ज्वार लाया करता
मैं सोचा करता हूँ मेरा
इसने गुप्त मिलन देखा है

जब प्रियतम के पथ में रजनी
शत-शत दीप जलाया करती
मधुर चाँदनी की किरणों से
पथ में फूल बिछाया करती

मैं सोचा करता हूँ ऐसा
मैंने भी जीवन देखा है
जब इठला-इठलाकर लहरें
तट से मिलने आया करतीं
दे परिचुंबन 'तुम चंचल हो'
कहकर यों शरमाया करतीं
मैं सोचा करता हूँ मैंने
यह शरमीलापन देखा है

मैं सोचा करता हूँ सुख का
मैंने भी एक क्षण देखा है।

सभावित रचनाकाल : 1947

यह मत समझो मतवाले हैं

यह मत समझो मतवाले हैं

जीवन पावक में जलने को
जीवन के पथ पर चलने को
जिन वीरों की टोली जाती
मत समझो भोले-भाले हैं
यह मत समझो मतवाले हैं।

जीवन का उनको ध्यान बहुत
अपने पथ की पहचान बहुत
कायरता उनके पास नहीं
वह आफत के परकाले हैं
यह मत समझो मतवाले हैं।

निज पथ पर चलता उनका क्रम
रुकने पर बस जीवन संभ्रम
चलने की यह गति रुकी जहाँ
बस . होते मृत्यु-निवाले हैं
यह मत समझो मतवाले हैं।

1946-47

तुम्हीं बता दो

तुम्हीं बता दो कैसे अपना
रूठा साजन आज मनाएँ

जिसने दृग के तीर मारकर
छलनी-सा उर कर डाला है
जिसने नयनों के प्यालों में
सागर का जल भर डाला है।

तुम्हीं बता दो कैसे उससे अपने उर की पीर छिपाएँ
तुम्हीं बता दो कैसे अपना रूठा साजन आज मनाएँ

मुझको पग-पग मिली पराजय
जग। ने उसको जीत बताया
मैं निज असफलता पर रोया
जग ने उसको गीत बताया

तुम्हीं बता दो कैसे उससे 'हम रोए थे' यह समझाएँ
तुम्हीं बना दो कैसे अपना रूठा साजन आज मनाएँ

मैं जिसकी ले याद जगत में
जीवन-पथ पर [illegible] आया
औ' समाज के फेंके अगणित
अंगारों से जलता आया

तुम्हीं बता दो कैसे हमको भूल गए जो, उन्हें भुलाएँ
तुम्हीं बता दो कैसे अपना रूठा साजन आज मनाएँ।

नहटौर-काल वाले रजिस्टर से/1947-48

सत्य सपनों का सुखद संसार

मैं तुम्हें एक बार यह फिर से सुनाना चाहता हूँ
सत्य सपनों का सुखद संसार पाना चाहता हूँ

कल्पना-जग का विहग पर
पंख की इच्छा मुझे है
है न पग परिश्रांत लेकिन
अंक की इच्छा मुझे है

पंख से मैं प्रेयसी को ढूँढ़ लाना चाहता हूँ
अंक मैं थक बैठने पर, प्यार पाना चाहता हूँ

मैं नियम अपने सतत
प्रतिकूल ही पाता रहा हूँ
फूल की चाहें न की
पर शूल ही पाता रहा हूँ

मैं नियम अनुकूल सब अपने बनाना चाहता हूँ
आज पुष्पों का मृदुल आगार पाना चाहता हूँ
कल्पना-पथ पर मिलन का
भार ले चलता रहा हूँ
मैं दृगों में अश्रुओं की
धार ले जलता रहा हूँ

कल्पना का लोक वह झूठा जलाना चाहता हूँ
अश्रु परिप्लुत लोचनों से मुस्कराना चाहता हूँ

क्रूर कर से नियति के
संताप ही पाता रहा हूँ
मैं वरों की चाह में
अभिशाप ही पाता रहा हूँ

अब नियति के प्यार का उपहार पाना चाहता हूँ
सत्य सपनों का सुखद संसार पाना चाहता हूँ।

दुनिया आज चली है करुणाकर

दुनिया आज चली है कवि को
माँग-माँगकर अन्न खिलाने

शोक यही है कैसे जग से
इतनी भारी भूल हो गई
ऐसे-ऐसे विद्वानों की
कैसे मति स्थूल हो गई

कवि की वाणी शुष्क हड्डियों
में नवजीवन डाल सकी है
कवि की वाणी बरसा पानी
सोख धरा की ज्वाल सकी है

दुनिया आज चली है सागर को
जल की इक बूँद पिलाने

कवि तो दुर्दिन झंझावातों में भी
गाता ही रहता है
कवि तो जग के रोने से भी
भाव नए पाता रहता है

पर यदि करुणा विगलित होकर
दृग से जल बरसा देता है
तो सच मानो मरुभूमि को
नखलिस्तान बना सकता है।

दुनिया आज चली है करुणाकर
निज करुणा से बहलाने

नहटौर-काल वाले रजिस्टर से/संभावित रचनाकाल : 1947-48

मुझे पागल कहता संसार

व्यथाओं का करने में मोल
दिया अपनी खुशियों को तोल

देखकर यह आदान-प्रदान
काँप उठे भूगोल-खगोल
चुभा जग को मेरा व्यापार।
मुझे पागल कहता संसार॥

चला अपने पाँवों से आप
जला अपने उर में चुपचाप
नहीं माँगा जग से अवलंब
हृदय का हरने को संताप
किया पीड़ाओं से खिलवार।
मुझे पागल कहता संसार॥

हृदय में घटा घुमड़कर घोर
रोकने का करती थी ज़ोर
बरजती थी मुझको शतबार
न जाओ तुम उस पथ की ओर
नहीं पर मैंने मानी हार।
मुझे पागल कहता संसार॥

सुनाने मीठी-मीठी बात
नित्य आती है सुंदर रात
चली जाती है होते भोर
सौंपकर सपनों की सौगात
खेलता स्वप्नों से सुकुमार।
मुझे पागल कहता संसार॥

कल्पनाओं के जग में घूम
भावनाओं का अंतर चूम
लिखा करता हूँ प्रतिदिन गीत
मचाता अपनी जग में धूम
निराशा से करता अभिसार।
मुझे पागल कहता संसार॥

कवि श्री सुमित्रानंदन पंत के भाषा और काव्य-संगीत के प्रभाव में लिखी गई रचना। नहटौर-काल वाले रजिस्टर से/संभावित रचनाकाल : 1947-48

तुम्हें कसम है इन प्राणों की

तुम्हें कसम है इन प्राणों की
जो तुम दृग से जल बरसाओ

जलता रहता शलभ जगत में
पर कब कुछ मुख से कहता है
अपने अंतर की पीड़ा को
अपने प्राणों पर सहता है

तुमको भी मुस्काना होगा अंतिम पल तक आ जाने के
तुम्हें कसम है जग वालों को जो तुम उर के घाव दिखाओ

चलता है चेतन का कण-कण
चलते रहना ही तो क्रम है
चलने का क्रम रुक जाने पर
यह जीवन केवल संभ्रम है

जीवन के इस विस्तृत पथ पर हँसते-हँसते चलना होगा
तुम्हें कसम है अरमानों की जो तुम पथ में ही रुक जाओ

मूक किनारों को तो देखो
जो मिलने को तरस रहे हैं
रहकर पास परस्पर कितने
विलग, कोटि-शत बरस रहे हैं

वो तुमको संकेत कर रहे, तुम उनको आमंत्रित कर दो
तुम्हें कसम है प्रिय प्राणों की जो तुम उनसे मिलने जाओ

नभ में कोई दिन भर प्रिय को
दीपक लेकर खोजा करता
थल में जल मे वन-उपवन में
दिन भर मारा-मारा फिरता

तुम भी अपने दीप लगन के बुझा न देना अपने हाथों
तुम्हें कसम है इन प्राणां की जो तुम अपना दीप बुझाओ।।

संभावित रचनाकाल : 1947-48

उस समाज को

उस समाज को कौन रसातल में जाने से रोक सकेगा

जिस समाज में नारि जाति को अबला का उपनाम दिया है
जिस समाज ने नारि जाति का जी भरकर अपमान किया है
अपने घर की प्राचीरों तक उसका सीमित क्षेत्र बनाकर
जिस समाज ने उसको अपनी राहों से अनजान किया है
उस समाज को कौन अरे ठोकर खाने से रोक सकेगा

जिस समाज में विधवाओं पर अत्याचार किए जाते हैं
जिस समाज में व्यंग्यों के कटु कोड़े चार दिए जाते हैं
जिसका मानस बना हुआ हो ज्वालमुखी का रूप दूसरा
जिस समाज में उसको यों जलते अंगार दिए जाते हैं
उस समाज को कौन मृत्यु-तल को पाने से रोक सकेगा

जिस समाज में दो हृदयों को मिलने का अधिकार नहीं है
जिस समाज में उर की कलियाँ खिलने का अधिकार नहीं है
अपनी पीड़ा अपने मुख से कहने का अधिकार नहीं है
जिस समाज में हा! ज़बान को हिलने का अधिकार नहीं है
उस समाज के कौन थूक मुँह पर जाने से रोक सकेगा

नहटौर-काल/1946-47

एक राग से गाएँ

आओ निज राष्ट्रीय गान हम
एक राग से गाएँ
इस आनंद उत्सव सागर में
हो निमग्न सुख पाएँ

भेद-भाव को भूल सकें हम
गर्व न मन में लाएँ
एक सूत्र में बँधकर हम सब
एक हृदय हो जाएँ

आओ हम सब करें प्रतिज्ञा
जब तक हम हैं जीवित
भारत के चरणों में होंगे
तन मन धन सब अर्पित

हो निर्भीक देश की सेवा
सभी प्रकार करेंगे
उसके लिए जिएँगे, हम सब
उसके लिए मरेंगे।

1947

नित्य बैठा सोचता हूँ

पास रहकर चाँद से क्यों मिल न पाते हैं सितारे
पास रहकर क्यों परस्पर मिल न पाते हैं किनारे
नित्य बैठा सोचता हूँ
ये नियम यदि टूट जाते
तो परस्पर दो घड़ी को बोल-हँस लेते बिचारे

सब मधुर सपने जगत में टूट जाने के लिए हैं
सब मधुर अपने जगत में छूट जाने के लिए हैं
नित्य बैठा सोचता हूँ
ये नियम यदि टूट जाते
तो मिलन के गीत गाता विश्व प्रति संध्या-सकारे

जब जवानी में नयन दो-चार होने को तरसते
जब जवानी में तनिक-सी ठेस पा वन-घन बरसते
नित्य बैठा सोचता हूँ
ये नियम यदि टूट जाते
तो नयन से अश्रु निर्झर यों न बह पाते हमारे

1946-47

कितना निष्ठुर यह जन समाज

कितना निष्ठुर यह जन समाज

होकर हम इतने भी समीप,
जब हाय! न खुलकर मिल सकते
दो आशाओं के पुष्प अरे!
जब हाय! न पूरे खिल सकते

चिंतन कर इन ही बातों का
रोता है मेरा हृदय आज,

हा! इस समाज के कारन ही
कितने अबोध जीवन खोते
कितनी कलियाँ और पुष्प नित्य
इस बलिवेदी पर बलि होते

कलिकाओं के सिर पर चढ़ता
उस शुष्क पुष्प का प्रणय-ताज

मै ऊब चुका, इस जीवन से
जिसमें पग-पग पर दुःख मिले
मेरी तो यह इच्छा है प्रिय आओ
हम तुम कहीं दूर चलें

स्वप्नों का हो रंगीन देश
हो अस्त-व्यस्त दुर्बल रिवाज!

भुला सकूँगा नहीं कभी

भुला सकूँगा नहीं कभी प्रिय तेरा भी अहसान

तुमने चेतन-नियम बनाकर चलना मुझे सिखाया
तुमने मुझको सबसे उत्तम पथ का बोध कराया
तुमने जग के झूठ-सत्य का सब रहस्य समझाया
तुमने मुझको 'कहाँ पहुँचना है' यह भी बतलाया

पर जाने उस काल हुआ क्या, कुछ भी समझ न पाया
तुमसे मैंने शिक्षा पाई तुमसे धोखा खाया

अब धोखा देने वालों को सकता हूँ पहिचान

तुमने मुझको रंग-बिरंगे सपने बहुत दिखाए
तुमने पथ में मेरे पग के नीचे फूल बिछाए
तुमने मेरे उर में लाखों स्वर्णिम लोक बसाए
तुमने मेरे कर में लाखों सुख के गीत लिखाए
पर चाहा जब अहम् तुम्हारा मेरे में खो जाए
तुमने तब दे अतिशय पीड़ा सब अरमान जलाए

जान गया कैसे सहते हैं सहकर कष्ट महान

तुमने विरह-आवरण कोमलतम तन को पहनाकर
तुमने खूब जलाया मुझको अपना शलभ बनाकर
तुमने दुःख दे दिया सुखों में मेरे आग लगाकर
तुमने चैन न पाया बिलकुल जी भर मुझे सताकर
पर जब इससे अधिक हुआ दुःख मुझको पीड़ा पाकर
तुमने सुख दे दिया मुझे, पीड़ा में भाव बसाकर

भावों को पहनाना सीखा गीतों का परिधान

नर्गैर-काल वाले रजिस्टर से/संभावित रचनाकाल : 1946-47

कौन तुम मेरे स्वरों में

कौन तुम मेरे स्वरों में
स्वर मिलाकर गा रहे हो।

विरह का परिधान पहने
कामना करता तुम्हारी
आँसुओं के पुष्प से प्रिय
अर्चना करता तुम्हारी

कौन तुम प्रिय अर्चना के
फूल देते जा रहे हो

चल रहा हूँ आज भी मैं
वेदनाओं की डगर पर
खा रहा हूँ ठोकरें पर
बढ़ रहा विश्वास लेकर

आज आशा के शिविर में
क्यों निराशा ला रहे हो

कौन तुम मेरे स्वरों में
स्वर मिलाकर गा रहे हो।

1947

चाँद-सितारों का वह सुंदर देश

चाँद-सितारों का वह सुंदर देश यहाँ से अच्छा होगा

दुःख की कोई रात न होगी
आँसू की बरसात न होगी
विरह-व्यथा की बात न होगी
उर में झंझावात न होगी

तन पर धारण किए मिलन का वेश यहाँ से अच्छा होगा

मंद समीरण आता होगा
निर्झर गीत सुनाता होगा
विश्व न यों तड़पाता होगा
चाँद सुधा बरसाता होगा

मधुकन बरसाने वाला कमलेश यहाँ से अच्छा होगा

गीला-गीला प्यार न होगा
सपनों का संसार न होगा

अस्थिर, स्नेह, दुलार न होगा
छिप-छिपकर अभिसार न होगा

मैं आता हूँ मेरा जीवन शेष, यहाँ से अच्छा होगा

संभावित रचनाकाल : 1947-48

हे भारत जननी के किरीट

हे भारत जननी के किरीट
तुमको है शत-शत नमस्कार

जब घोर अमाँ' की रातें थीं
काली-काली बरसातें थीं
हम चलने में घबराते थे
जब चलती झंझावातें थीं

तब तुमने नभ-कालिख धोकर
था खोल दिया नभ प्रात-द्वार

तुमने जिस ओर उठाया पग
हो गया वही आलोकित मग
जिस पर दी दृष्टि फेंक एक
हो गया वही तव सम्मुख नत

वह पराधीनता-पाश कठिन
तुमने कर डाला तार-तार

तव इंगित पर इंसान चले
कर्तव्य चले. वलिदान चले
नतमस्तक लाखों ही मानव
बन स्वयं भव्य भगवान चले।

सुभाषचंद्र बोस के जन्मदिन पर/23.1.1948

जागो देश पुकार रहा है।

यह सोने का काल नहीं है
जागो देश पुकार रहा है।

कल-कल-कल कर नदी जगाती
सर-सर करके तीव्र प्रभंजन
धड़-धड़ करके मेघ जगाते
वर्षा करके रिमझिम-रिमझिम

आज तुम्हारे आगे देखो
हिमगिरि हाथ पसार रहा है

यौवन अँगड़ाई ले आया
आज तुम्हारी नींद तुड़ाने
नभ में चंचल चपला चमकी
तुमको यौवन-वेग दिखाने

आज जवाहर-सा सेनानी
सारा बोझ सम्हार रहा है

औ! तुमको जड़ शून्य बनाने
आई लाखों झंझावातें
और प्रलय में तुझे बहाने
उतरी हैं अगणित बरसातें

पर पटेल-सा वीर, शरों से
कर उनका संहार रहा है।

1947-48

अमर है अभिमान मेरा

देश भारत, वेष भारत, भारतीय विधान मेरा।
अमर है अभिमान मेरा।

सृष्टि-कर्ता ने यहीं संचित किया सौंदर्य अपना,
विश्व के निर्माण का देखा यहीं पर आदि सपना,
स्वप्न उसका ही बना है आज मधुमय गान मेरा।
अमर है अभिमान मेरा।
छाप इसकी वीरता की विश्व के प्रत्येक कण पर,
अश्रु-धाराएँ बही हैं विश्व के प्रत्येक मन पर,
किंतु बर्बर आज का जग देखता उसमें अँधेरा।
अमर है अभिमान मेरा।
जा रहा है नाश की ही ओर जग अविराम गति से
खा रहा है टक्करें विध्वंस की निष्ठुर नियति से
हो रहा पथ क्षीण क्षण भर भी कहाँ मिलता उजेरा
अमर है अभिमान मेरा।
किंतु अंतिम श्वास है ये विश्व की बर्बर निशा की,
आ रही निर्माण रेखाएँ नवल प्राची दिशा की,
है मुझे विश्वास होगा पुनः स्वर्णविहान मेरा।
अमर है अभिमान मेरा।

1947-48

किसान!

गतिहीन, दीन, जर्जर शरीर
मुख पर चिंता की लिए छाप
युग-युग से सोया आँख मूँद
सोया हो ज्यों कालुष्य पाप
तू जग न सका क्यों आज
देख, बज रही जागरण की भेरी
भारत माता कर रही प्रतीक्षा
कुंकुम थाल सजा तेरी

तू आँख खोलकर भी न जगा
क्यों झुक-झुक पलकें जाती हैं
होने वाला है नव विहान
उठ जाग आज तो हे किसान!

जीवन के पथ पर आशा का
संबल लेकर चलने वाले
अरमानों की ज्वालाओं में
दिन-रात अरे गलने वाले

तुम वीर धीर तुम नहीं डरे
आतप से झंझावातों से
तुम माघ-पूस के जाड़ों से
और सावन की बरसातों से

तैने कब अपने जीवन में
शय्या, खस की टट्टी देखी
पृथ्वी ही तब स्तरिमा है
है नील गगन तेरा वितान

उठ जाग आज तो हे किसान!

जाने किस माया में खोया
कर अपनी तो पहिचान अरे
तू है भारत की निधि महान
कर अपने पर अभिमान अरे

हीरे मोती, रुपए पैसे
जिनके चरणों में पड़े हुए,
तू सोच तनिक सब के सब
ही हैं तेरे बल पर खड़े हुए

तू निश्छल भोला-भाला है
तूने जग से धोखा खाया
तू जिनके भरता उदर
उन्हीं के अत्याचारों का निशान

उठ जाग आज तो हे किसान!

माना तुमने कंटकाकीर्ण पथ
पर आना-जाना सीखा
दुःख की ठोकर खा लेने पर
भी तुमने मुस्काना सीखा

माना इस जीवन की भी है
तुमको कोई परवाह नहीं
जिस ओर उठी ग्रीवा चलते
है निश्चित कोई राह नहीं

पर सोच! नहीं हो सकता है
परिवर्तित ऐसे भाग्य तेरा
तू घूमेगा निरभ्र नभ में
लेकर सपनों के ही विमान

उठ जाग आज तो हे किसान!

1947-48

यह बार-बार कह रहा कौन

यह कैसा भीषण वज्रपात,
सहसा हृदगति हो गई मौन
विश्वास नहीं होता इस पर
यह बार-बार कह रहा कौन

सो गया सदा के लिए आज
चिर अविनाशी सेगाँव संत
किस दुर्दिन मे इस भारत की
मानवता का हो गया अंत

है बिलख रहा जन-जन का मन
शोकातुर हैं सब दिग्‌दिगंत,
कैसा स्वतंत्र स्याधीन देश,
कैसी होली कैसा वसंत।

यह किस कायर की निर्बलता
बन गई विश्व के लिए शाप,
है विकल वायु कण-कण उदास
दुनिया रो-रो करती विलाप

कर गया सिद्ध यह निर्विवाद
मानवता पर निर्दय प्रहार
इस दुनिया में अति का अच्छा,
होना भी भ्रम है निराधार!

बापू की हत्या पर, 30 जनवरी, 1948

आज युग का पथ-प्रदर्शक खो गया

आज युग का पथ-प्रदर्शक खो गया।

आज युग की हसरतें खामोश हैं
आज रग-रग में भरा अफसोस है
आज संसृति शून्यता से है भरी
आज मुरझा ही गई दुनिया हरी

अस्त युग का प्रखर भास्कर हो गया
आज युग का पथ-प्रदर्शक खो गया।

श्वास में जिसकी स्वराज्य दुलार था
आज में बस ऐक्य का सुविचार था
परिस्थितियाँ हाथ बाँधे डोलतीं
मुश्किलें आसान होकर बोलतीं

एकता का सुदृढ़ हार पिरो गया
आज युग का पथ-प्रदर्शक खो गया।

रूप मानव का धरे अवतार था
स्कंध पर निज राष्ट्र का ही भार था
जिस पे आश्रित राष्ट्र का उद्धार था
जिन रगों में मातृ भू का प्यार था

बीज वह स्वाधीनता का बो गया
आज युग का पथ-प्रदर्शक खो गया।

मानकर आदर्श चल पद-चिह्न पर
तभी संसृति हो सकेगी अग्रसर
छोड़कर के शून्य दुनिया चल पड़े
किंतु पथ पर रख गए सबके दिये

वह महात्मा साथ उसका खो गया
आज युग का पथ-प्रदर्शक खो गया।

अस्थि का कंकाल फिर भी शक्तिमय
वृद्ध एवम् शुष्क फिर भी ज्योतिमय
नेत्र थे कुछ क्षीण फिर भी अग्निमय
था अरे कृश कंठ फिर भी ओजमय

राष्ट्र बापू सर्वदा को सो गया
आज युग का पथ-प्रदर्शक खो गया।[1]

1. महात्मा जी के प्रति/1948

सिंधु ने अपने हृदय में ज्वार लाकर

यामिनी ने आँख से आँसू बहाकर
सिंधु ने अपने हृदय में ज्वार लाकर
और समीरण ने भयंकर गीत गाकर
मेघ ने धीमे स्वरों में गर्जनाकर

पूज्य बापू के निधन पर
निज हृदय के शोक का
परिचय दिया था

पुष्प ने अपने अधर पर हास लाकर
और भँवरों ने कुसुम के पास जाकर
वृक्ष ने कमनीय दो पत्ती मिलाकर
वायु ने एक तीव्रतम तूफान लाकर

पूज्य बापू के निधन पर
उस भयंकर काल का
अभिनय किया था

शोकगीत

मानवों ने शोक के शत गीत गाकर
देश के चुंबी-गगन झंडे झुकाकर
लोचनों से अश्रु के निर्झर बहाकर
निज हृदय के शोक का परिचय दिया था

मेघ ने ऊँचे स्वरों में गड़गड़ाकर
पर्वतों ने हो विकल अति तड़फड़ाकर
दामिनी ने क्रुद्ध-सी हो तड़तड़ाकर

टूट पड़ने का विफल अभिनय किया था

दानवों ने नींद से क्यों जागकर
विश्व भर में शोक की ज्वाला जलाकर
गोलियाँ निज तात पर क्यों दाग करके
युग-युगों के पाप का अविचय किया था।

नहटौर-काल/1948

अब सुमनों की भरमार कहाँ

भारत के उजड़े उपवन में
अब सुमनों की भरमार कहाँ

हैं अस्त-व्यस्त सब तार आज
अब कहाँ रहें? वह मधुर गान
मन-मोहक मीठी तानों का
ले गया छीन कोई अजान

इस टूटी-फूटी बीना के
तारों में वह झनकार कहाँ

जो कभी वाटिका हरी-भरी
थी रंग-बिरंगे फूलों से
उसमें पग धरते डरत सब
घबराते हैं सब शूलों से

देखो उस उजड़े उपवन में
अब सुमनों की भरमार कहाँ

माता की थी तब माँग भरी,
मस्तक पर थी सुहाग रोली
आया विराग छिनकर सुहाग
ऐसी हमने खेली होली

जो रोते देख हँसाती थी हमको
उसका वह प्यार कहाँ

करते थे जिसका पूजन सब
जिसकी थी मन में महिमा
था भक्त अनन्य अहिंसा का
जो शांति दया की थी प्रतिमा

वह भारत का भगवान हाय
वह विष्णु का अवतार कहाँ

अधूरी/1948

वह भारत का भगवान

जिसकी मुस्कानों का स्वागत
करने घनश्याम बरसते थे
जिसकी मृदु मधुमय वाणी के
सुनने को कान तरसते थे

वह भारत का भगवान हमें निस्सहाय छोड़कर चला गया।

जिसके पावन पुनीत पग से
मरुथल बन जाता था सागर
जिसके उपदेशों को सुनकर
मूरख बन जाता था नागर

जिसकी पूजा जग करता था वह हाथ जोड़कर चला गया

जिसकी भृकुटी से जन-जन की
तलवारें छूटा करती थीं
जिस मधुर कंठ से अमृत की
फव्वारें फूटा करती थीं

वह शक्ति पुंज, वह ज्ञान कुंज, संबंध तोड़कर चला गया

अधूरी/1948

शेष फिर भी आग उसमें

बुझ चुका है दीप मेरा शेष फिर भी आग उसमें।

हे भरी कितनी कहानी
कौन दिल की बात जाने
रात भर जलता रहा पर
वेदना को कौन माने

आज मन के तार टूटे शेष फिर भी राग उसमें।

आज मेरा हृदय देखो
ये हृदय के घाव देखो
आज प्रिय तुम गीत देखो
व्यथित मन के भाव देखो

देखते जो चॉद सुंदर देख लो है दाग उसमें।

नित्य ही इस ज़िंदगी में
सत्य कितने भूल बनते

नित्य कितनी कली खिलती
फूल कितने धूल बनते

पर कभी जग देखता क्या है भरा जो त्याग उसमें।
बुझ गया है दीप मेरा शेष फिर भी आग उसमें।

1948

आ रही मुझको तुम्हारी याद

आ रही मुझको तुम्हारी याद ऐसी चाँदनी में

ये गगन के दीप जल-जल
रोशनी फैला रहे हैं
जल मरो तुम भी किसी की
याद में सिखला रहे हैं

जल रहा हूँ आज मैं भी इस सुशीतल चाँदनी में

पास रहकर भी युगों से
मिल न पाए चाँद-तारे
पास रहकर भी परस्पर
मिल न पाए हैं किनारे

जल रहा हूँ प्रिय विरह की इसलिए ही रागिनी में

वन चपल चपला सुखों
की कल्पना उर में समाती
मानिनी आशा न मेरे
भूलकर भी पास आती

शाप देकर आज मुझको कह रही वरदायिनी मैं।

1948-50

विकल वेदनाएँ

हृदय की विकल वेदनाएँ छिपाकर
मधुर गीत के आवरण से सजाकर
सुखद भाव में बद्ध करके उन्हें मैं
खुशी के तुम्हें गीत देता रहा हूँ

विरह में व्यथित उर ने पर फड़फड़ाए
न पर घाव अपने जगत को दिखाए
रही खेलती मुस्कराहट अधर पर
शलभ की तुम्हें रीत देता रहा हूँ

सदा साथ पलने की सौगंध खाकर
प्रणय-पथ पर चलने की सौगंध खाकर
गई हार प्रिय तुम नियति के करों से
मगर मैं तुम्हें जीत देता रहा हूँ

कभी कल्पना या निशा के करो मं
कभी वाटिका या कभी खँडहरो में
तुम्हें एक क्षण को नहीं भूल पाया
हृदय की तुम्हें प्रीत देता रहूँगा।

मैं एक नाम, पर लाख रूप

में एक नाम, पर लाख रूप, क्या कहकर परिचय दूँ अपना

में विरह की ज्वाला में निशि दिन का हूँ शलभ एक जलने वाला
मैं दो साँसों की मंज़िल का हूँ एक पथिक चलने वाला
मैं एक भ्रमर हूँ आश्रित हो इन फूलों के पलने वाला
मैं एक शिखर हिम का ऊँचा दृग सोतों से गलने वाला

में एक दीन, मैं एक भूप, क्या कहकर परिचय दूँ अपना

मैं एक यान भव के विस्तृत सागर में बहने वाला
मैं एक मच्छ दो नयनों के सागर में रहने वाला

मैं एक वज्र सुख-दुःख की सब चोटों को सहने वाला
मैं विद्रोही इस दुनिया को एक धोखा कहने वाला
मैं एक छाँह, मैं एक धूप, क्या कहकर परिचय दूँ अपना

मैं एक ईर्ष्यक नम शासिकी-किस्मत पर जल मरने वाला
मैं एक तपस्वी हूँ भारी दिन-रात भजन करने वाला
मैं शंकर हूँ इस जगती का संताप सभी हरने वाला
मैं कवि हूँ शुष्क हड्डियों में नवजीवन को भरने वाला
मैं हूँ कुरूप, मैं हूँ अनूप, क्या कहकर परिचय दूँ अपना

मैं एक विहग कल्पनालोक में पंखहीन उड़ने वाला
मैं एक अश्व दो नयनों की प्रिय बागों से मुड़ने वाला
मैं एक हरिण जिसको प्रेयसि ने निज अंतर-वन में पाला
मैं साकी हूँ अपने हाथों पीता रहता मादक हाला
मैं एक बूँद, मैं एक कूप, क्या कहकर परिचय दूँ अपना

संभावित रचनाकाल : 1947-48

मेरी वो आँखें पथराईं

मेरी वो आँखें पथराईं

दृग के दीप जलाकर मग में
आकुलता लेकर रग-रग में
खड़ा हुआ हूँ कई युगों से
प्रिय न कहीं पर दिए दिखाई

गा न सका मैं गीत मिलन के
बुझ न सके पर दीप लगन के
तारे गिनते बीत गई ही
मेरे जीवन की तरुणाई

नित्य सूखती जाती आली
मेरे इन प्राणों की डाली

नयन सरोवर रिक्त हो चुका
आओ तुम ही करो सिंचाई

यदि तुम जल बरसा सकती हो
मरुभूमि सरसा सकती हो
तब क्यों उर की मरुभूमि में
नहीं प्रणय की बूँद गिराई

1948

ीवाली

दीवाली आई है

उर में प्रकाश फैलाने
नई ज्योति लाई है

बरसातों की रातों में
आभा के धब्बे भरती
अँधियाले मानस के घर
घर को आलोकित करती
वर्षा उभार से उभरा
जो तम था घर-घर छाया
उसका आधार मिटाने
कण-कण में छाई है
दीवाली आई है

तारों की निश्चल रेखा
है देख इसे मुस्काती
या अपनेपन से ऊँचा
कुछ देख इसे शरमाती
वो ही लज्जा तो इसकी
मन-मन को भायी है

जो कीट धरा से ऊपर
हर क्षण उड़ते फिरते थे
दुर्गंधयुक्त निर्भय जो
कण-कण दूषित करते थे
वर्षा उभार से उभरे
तम में इतराते थे जो
उनका आधार मिटाने
कण-कण में छाई है।

1948-49

मत पूछो कैसे रात कटी है मेरी

मत पूछो कैसे रात कटी है मेरी?

कैसे पीड़ा के साथ खेलता आया?
कैसे दुःख के आघात झेलता आया?
कैसे सुन पाया जग वालों के ताने?
कैसे जीवन की रेल ठेलता आया?

कैसे नभ के नक्षत्र सभी गिन डाले
कैसी तारों के साथ पटी है मेरी

कैसे मैंने तुझ तक संदेश पहुँचाए।
कैसे मैंने थ मीठे गीत बनाए
कैसे गा पाया रुद्ध कंठ से इनको
कैसे मैंने गीतों के दीप सजाए

कैसे पीड़ा के गीत बनाए मैंने
कैसे गीतों में पीर बँटी है मेरी

क्यों मलयानिल ने नहीं मुझे तड़पाया
क्यों नहीं चाँद ने मेरा मन ललचाया
सरिताओं की उत्ताल तरंगों के संग
क्यों नहीं प्रिये मैं तुमसे मिलने आया

क्यों नहीं मिलन की आँधी चली हृदय में
क्यों नहीं कहा 'प्रिय, याद आ रही तेरी।'

क्या बतलाऊँ कैसे जग में रहता था
क्या बतलाऊँ कैसे पीड़ा सहता था
तूफानों के झंझावातों के डर से
बतलाऊँ कैसे संग-संग बहता था

मेरा तन तुमको नहीं जगत में मिलता
यदि आने में तेरे हो जाती देरी।

1948

यह दुस्तर पथ

आशाओ के रथ पर चढकर
यह दुस्तर पथ पार कर रहा

आशाओं की बलिवेदी पर
इकली अभिलाषा को खोकर
अगणित बरसातों का पानी
कोमलतम पलकों पर ढोकर

जग की छलनाओ से बचकर
अब अपने से प्यार कर रहा

जीवन पथ पर चलते-चलते
मैंने अपना करतब जाना
अवसादों में इतना डूबा
मैने सुख का मर्म न जाना

जो बीते सो बीत चुके क्षण
अब अपना उपकार कर रहा

जीवन की स्वर्णिम बेला मे
मैने भी एक दाँव लगाया
सोच रहा हूँ उस बाज़ी में
मैंने कुछ खोया या पाया

हार-जीत का अब अपनी ही
दुनिया में व्यापार कर रहा।

1948

क्यों अपने प्रण को भूल गए

हम सोशलिस्ट हैं, भारत में
मज़दूर राज्य दिखला देंगे
पूँजीपतियों के छीन सभी
आसन, किसान बिठला देंगे

हैं तोड़ दिए सब नियम आज
जो कभी बनाए बापू ने
हैं छोड़ दिए सब मार्ग आज
जो कभी दिखाए बापू ने

क्या यही स्वराज्य हमारा हे
जिसके हित 'शेखर' चले गए
श्री वीर बोस ओर भगत सिंह
अभिलाषा लेकर चले गए

क्यों अपने प्रण को भूल गए
जो किए कभी मज़दूरों से

अधूरी/1948 के आसपास

दिवस आज उद्घाटन का

शाखा कार्यालय में पावन है दिवस आज उद्घाटन का।

भोले शैशव में ही देखो दुर्गम निर्जन बीहड़ पथ पर
बढ़ती जाती है प्रिय 'पुकार' आशाओं का संबल लेकर

सुंदरता अब से दीख रही यौवन में होगी हालत क्या
यौवन तो काफी दूर रहा ये हाल अभी है बचपन का

जीवन के पहलू में खुद ही घिरती आतीं दुःख की रातें
साहस करने को क्षीण आज चल रहीं घोर झंझावातें
हम फिर भी पकड़े आशा का एक छोर बढ़े आते पथ पर
पग आगे बढ़ते जाते हैं ये धैर्य हमारे ही मन का

सेवा के इस अविदित पथ पर बढ़ना ही ध्येय हमारा है
रुकने का तो अवकाश नहीं मंज़िल से दूर किनारा है
सेवा का गुरुतर भार लिए अपने दुर्बल स्कंधों पर
चल रहे आज हम इस पथ पर सौभाग्य हमारे जीवन का

इस 'पुकार' के कारण हमने ये आज दिवस शुचि पाया है
दर्शन कर आप सभी का यह उर फूला नहीं समाया है
अनिर्वचनीय सुख है मन को जो मिले आपसे हम आकर
पी-पीकर खुश हो गए नयन, पीयूष मधुर-जल दर्शन का

दिन-रात फले-फूले पुकार है यही कामना अंतर की
उन्नति-पथ पर बढ़ती जाए बस यही साधना अंतर की
हों आप सभी हम पर कृपालु सहयोग हमें देते जाएँ
सहयोग आपका हमें मिले आशीष मिले उस भगवन का

शाखा कार्यालय का पावन है दिवस आज उद्घाटन का।

1949/चंदौसी से उन दिनों हम लोगों ने एक मासिक पत्रिका 'पुकार' निकाली थी, जिसमें हम में से एक तीसरे रामकुमार राजपूत के प्रयासों का योग सर्वाधिक था। दुष्यन्त ही उसका स्वरूप निर्धारण करता था। दुष्यन्त की प्रारंभिक कविताएँ, जो प्रायः गीत हुआ करती थीं, उसी में छपी थीं। साधनों के अभाव में पत्रिका डेढ़ वर्ष से अधिक नहीं जी सकी, किंतु दुष्यन्त का इलाहाबाद चला जाना भी पत्रिका की मौत का एक कारण बना—**चंदौसी-काल के सहपाठी और मित्र महावीर सिंह के एक संस्मरण से।**

विक्षत उर का उपचार बना

उनका सपना बनकर अपना विक्षत उर का उपचार बना।

वह दो क्षण का गूँगा परिचय
सहसा आँखों से आँख मिली

यौवन के सुप्त विहंगम को
उड़ चलने को दो पॉख मिली

वह दो क्षण का मधुमांस अरे! जीवन भर का पतझार बना।

दो क्षण के छोटे परिचय में
उर का चिरसंचित प्यार लुटा
इन अधरो की मुस्कान लुटी
आशाओं का संसार लुटा

शैशव का वीता काल सुखद अब जीवन का आधार बना।

दृग के लहराते सागर में
आशाएँ तैर रही हैं सब
में भरसक रोक रहा उनको
पर जाने कौन गिरे प्रिय कब

ये उनका अथ, मेरे इस जीवन का अब उपसहार बना।

1949

इन अधरों का गीत बनी तुम

इन अधरों का गीत बनी तुम।

तुम बादल की एक घटा बन
दृग के मरुथल मे आ बरसी
कभी न स्थिरता खोने वाली
नयनों में दो बूँदी परसी

प्यास बुझाने तुम आई थी
उर की प्यास पुनीत बनी तुम

सुख के क्षणभंगुर झूले में
निर्भय मन मैं झूल गया था
पा-पाकर आश्वास तुम्हारा
मै अपनापन भूल गया था

आज आँसुओं की छल-छल में
नयनों का संगीत बनी तुम!

डूब गए हैं भूत हज़ारों
नव युग के नूतन प्रवाह में
युग बदले ऋतु बदली लाखों
पलक बिछाए प्रिये चाह में मैं

प्रिय रेते की भीत बनी तुम!
इन अधरों का गीत बनी तुम!

अधूरी/1949

इन नयनों का गीत तुम्हीं हो

इन नयनों का गीत तुम्हीं हो।

स्वप्न वने जो कल अपने थे,
मेरे नयनों के सपने थे,
दुर्दिन में, सब रूठ गए हैं
मेरे दुःख के मीत तुम्हीं हो।

इन नयनों का गीत तुम्हीं हो।

जग कहता मैं हार चुका हूँ,
खो सुख का संसार चुका हूँ,
पर मैं इसको जीत बताता
मेरी पावन जीत तुम्हीं हो।

इन नयनों का गीत तुम्हीं हो।

मैंने रो-रोकर गाया है,
कुछ खोकर तुमको पाया है,
गीतों के आधार, तरीके
संबल, एक पुनीत तुम्हीं हो।

इन नयनों का गीत तुम्हीं हो।

1949

बोलो क्या करूँ स्वीकार

पाँवों से विमर्दित फूल
मरघट में सिसकती धूल
बोलो क्या करूँ स्वीकार
मेरे सामने दो राह

करता कौन मीठा बोल
मेरी भावना का मोल
मेरा चित्त डॉवाडोल
सपनों से भरा आकाश
ज्वाला से बुझाई प्यास
बोलो क्या करूँ स्वीकार!

मुझसे बात कहती रात
नयनों ने किया उत्पात
अंतर पर हुआ आघात
खुद से ऊबना आसान
खुद में डूबना आसान
बोलो क्या करूँ स्वीकार !

1949

ऐसा भी अंबर देखा है

ऐसा भी अंतर देखा है।
जो अपना चित्र मधुर खोकर,
अरमानों का बोझा ढोकर,
गा सके गीत, मुस्करा सके उन्माद न हो अवसाद नहीं।

ऐसा भी सागर देखा है
जिसके उर में अरमान उठे,
पागल होकर तूफान उठे,

हो शांत रहे सहती उनको आह्लाद न हो कुछ नाद न हो
ऐसा भी जलधर देखा है
जिसके सीने में कसकन हो,
जिसकी आहों में तड़पन हो,
इस पर चुप होकर बैठ सके औ' रो-रोकर बरबाद न हो।
ऐसा भी अंबर देखा है।

1949

याद किसकी आ रही है

याद किसकी आ रही है।

कौन चुपके से कपाट मेरे हृदय के खोलती है,
'जाग जाओ' कौन आ उर में मेरे यों बोलती है,
खोलता जब ऑख हूँ; तब देखता वह जा रही है

याद किसकी आ रही है।

कौन मानस में मेरे घुस गुप्त भेद टटोलती है
कौन मेरे विरस जीवन में मधुर रस घोलती है
कौन प्याले में सुधा के कटु हलाहल ला रही है

याद किसकी आ रही है।

आज उर के गहन वन में दीखता मुझको उजाला
आन कर किसने गले में आज डाली पुष्प माला

अधूरी/1949-50

कोई कहता

मै तो दिन-भर लिखता कविता
गाता हुआ रूम में अपने
जो कुछ मुझको आता

कोई कहता अति महत्त्व दे,
होती मधुर न मेरी भाषा
पर मैं केवल देखा करता
अपनी मंजु मधुर अभिलाषा

अभिलाषा के नवोल्लास में
भाषा कौन सजाता।

कोई कहता नहीं समय के,
है तेरा अनुकूल विषय ये
मैं पर केवल देखा करता
अपना सपनों-भरा हृदय ये

अपनी धुन के आगे किसको
दिखला मेरा टूटा नाता।

कोई कहता शब्दों का भी
मुझको उचित चुनाव न आता
मैं पर केवल देखा करता
आता है या भाव न आता

भावों के आगे शब्दों का
भाव कौन ठहराता

काई कहता लिखने में भी
कर जाता हूँ प्रायः त्रुटियाँ
पर मैं केवल देखा करता
मानस की उत्ताल लहरियाँ

तुमुल लहरियों के गायन पर
ताल कौन दे पाता…

1949

मैं गीत बनाना क्या जानूँ?

मैं गीत बनाना क्या जानूँ?

नयनों के नभ से आशाएँ
जब आँसू बनकर बहती हैं
धिक्कार लेखनी को तेरी
पीड़ाएँ मुझसे कहती हैं

कुछ सीख न पाया तू पगले
यौवन पथ पर ठोकर खाकर
बन गए सैकड़ों कवि विलोक
जीवन में कुछ खोकर, पाकर

तब सुनकर कड़वी बात स्वयं
लेखनी मचलने लगती है
जीवन की स्वर्णिम बेला की
कुछ बात निकलने लगती है

भावों को छंदों की गति में
मैं बहुधा बाँध दिया करता
पीड़ाओं का क्रम बना-बना
गीतो को साध लिया करता

मैंने सीखा तुमसे लिखना,
ये कविता है क्या पहचानूँ ?

मैं गीत बनाना क्या जानूँ ?

1949

खिल रही चाँदनी वसुधा पर

खिल रही चाँदनी वसुधा पर तुम नहीं हमारे पास प्रिये!

जल रहे दीप नभ के ज्यों-ज्यों
बुझता जाता मम दीप सखी
ये अमित श्वेत आभा उर को
जाती पीड़ा से लीप सखी।

आँसू से लिखता जाता हूँ मैं पीड़ा का इतिहास प्रिये!

इस हँसती हुई शर्वरी में
जीवन का प्रात न हो पाया
मुरझाया किस्मत प्राणों का
हर्षित जलजात न हो पाया

गिन रहे आगमन के तेरे हैं पल-पल मेरे श्वास प्रिये!

बुझ गए भाग्य के अंगारे
अरमान रहे अवशेष नहीं
आया वसंत फिर रूठ गया
आने की आशा शेष नहीं

थक गया हृदय को दे-देकर मैं आशा का आश्वास प्रिये!

1949

दूजे को वरदान मिला क्यों?

जगती में अभिशाप एक को
दूजे को वरदान मिला क्यों?

नयनों में मृदु हास किसी के
नयनों में आकाश किसी के
छाया रहता है नयनों में
सावन-सा मधुमास किसी के
जो रहता है दूर तृष्णा से
उसके नयनों में सागर क्यों
पी-पी जिसकी प्यास न बुझती
उसे नहीं जलदान मिला क्यों?

पाता कोई प्यार किसी का
सोता कहीं दुलार किसी का
पलकों पे दिखती पीड़ाएँ
सपनों का संसार किसी का

जिन्हें स्वप्न साकार न मिलते
उन्हें न मिलती क्यों प्रतिच्छाया
जो सपनों में ही पलते हैं
उन्हें स्वप्न आह्वान मिला क्यों?

भरे आस से गान किसी के
भरे प्यास से गान किसी के
गीतों में छलका करती है
प्यास, सुधा-रस पान किसी से
सजल गान जिस कवि के उसको
मिले नहीं मधुगान किसलिए
जिस कवि में विश्वास स्वयं है
उसे व्यर्थ मधुगान मिला क्यों?

1949

प्रिय तुम गीले गीत न गाना

काली-काली बरसातों में मेरी याद न लाना।

आसमान को जब अतीत की
अपनी याद सताए
और लोचनों के आँसू बन
नाच उठें पीड़ाएँ

तब सुधियों के पथ पर प्रिय तुम आँसू नहीं बिछाना।

जब बादल से बिजली बाला
खेले आँख - मिचौली
देख चिढ़ाए उसको, उसकी
सूरत भोली - भोली

तब बादल को देख हमारी स्मृति नहीं जगाना।

जब चंचल चपला छिप जाती
बादल की बाँहों से
जब् जग जल प्लावित हो उठता
भँवरों की आहों से
तब तुम मेरा ध्यान न करना गीले गीत न गाना।

1949

हँसते-हँसते मरना सीखो

सबका आदर करना

खेलो-कूदो खूब किंतु कुछ
पढ़ने में भी चित्त लगाओ
मत खोजो पदचिह्न किसी के
अपनी राहें आप बनाओ

पथ के काँटों पर फूलों पर
सँभल-सँभल पग धरना सीखो।

कभी भूलकर भी तो अपनी
उन्नति में अभिमान करो मत
नम्र बनो अपने ही मुँह से
अपना गौरव-गान करो मत

परोपकार के कार्य करो तुम
पर पापों से डरना सीखो।

न ध्येय के पथ पर अपने
दो क्षण रुकना ठीक नहीं है
विपत्तियाँ आती हैं पर
उनमें झुकना ठीक नहीं है

निज अधिकारों की रक्षा में
हँसते-हँसते मरना सीखो।

बच्चों के लिए मासिक पत्रिका 'बाल सखा', इलाहाबाद/1949

अधिकारों की कुर्सी पाकर

अधिकारों की कुर्सी पाकर हुए महामतवाले हैं

भूल गए वो अपनेपन को याद नहीं पिछली बातें
जिन कृषकों को ललचाया था करते हैं उन पर घातें
क्या ये भी साम्राज्यवादिता का है नंगा नाच नहीं
आज कृषक अपनी पीठों पर चिर-परिचित कोड़े खाते
पीड़ित हृदयों की आहों का कैसे बोझ सम्हाले हैं
हुए महामतवाले हैं
यही राम का राज्य कि जिसको अपना लक्ष्य बनाया था
क्या ये वही स्वराज्य कि जिस पर अपना खून चढ़ाया था
वीर भगतसिंह, शेखर, बापू इसके हित बलिदान हुए
जलियाँवाला बाग-होम क्या इसके लिए कराया था।

आज कुर्सियों में गद्दों की चैन न पाते हैं दो क्षण
आज टट्टियों में खसखस की भी हो जाते हैं उन्मन्
ले-लेकर उत्कोच खड़े कर लिए महल कोठी बँगले
वैभवता का नाच हो रहा उनके चरणों में छन-छन
साफ वस्त्र हैं पहिने लेकिन अंतर काले-काले हैं
जान-जान अनजान बने ये बनते भोले-भाले हैं।

1949

इस दिन सारा जग रोया था

यह दिवस रहेगा याद सदा
इस दिन सारा जग रोया था

इस दिन रोया था आसमान
मिलकर के चाँद-सितारों से
इस दिन रोई जल की लहरें
टकराकर मूक किनारों से

वह कोष लुटा था इसी दिवस
युग-युग से जिसे सँजोया था

मानवता का उत्तुंग शिखर
हाँ इसी दिवस तो टूटा था
भारत का भाग्य विधाता हम
से इसी दिवस तो रूठा था

वह शांति देव, वह स्वर्ग दूत
वह इसी दिवस तो खोया था

भारत की नौका का नाविक
था इस जल में मग्न हुआ
आशा की भित्ति से निर्मित
वह भवन इसी दिन भग्न हुआ

इस दिन से आशा के पर्वत
का भार हृदय पर ढोया था

30 जनवरी, 1949

गीत बनाना छोड़ दिया है

गीत बनाना छोड़ दिया है।

चाह नहीं है निज पलकों पर
तुम मेरी पीड़ाएँ तोलो,
चाह नहीं है मेरे आँसू
तुम अपने यौवन में घोलो,
अब तो मैंने अरमानों का बोझ उठाना छोड़ दिया है।
गीत बनाना छोड़ दिया है।

बहुत पढ़ चुका विरह रुदन का
अब गीला इतिहास न लूँगा
इति विहीन हो अब जीवन में
आगे ऐसी प्यास न लूँगा

अब इस पथ पर आशाओं के दीप जलाना छोड़ दिया है।
गीत बनाना छोड़ दिया है।

चाहे जितनी पीड़ा दे दो
नहीं कभी फरियाद करूँगा
नहीं कभी आँसू से अपनी
आँखों को आबाद करूँगा

अब मैंने पत्थर के आगे शीश झुकाना छोड़ दिया है।
गीत बनाना छोड़ दिया है।

1949

अंतर नहीं दिखाया जाता

अंतर में बसने वाले को अंतर नहीं दिखाया जाता।

कितनी बार हृदय ने चाहा
अपने सारे घाव दिखा दूँ,
कितनी बार प्रणय ने चाहा
अपने मन की बात बता दूँ,

कह-कहकर थक गए नयन, दुःख, मुख से नहीं बताया जाता।

नित्य गगन में काली चादर
रजनी जब फैलाया करती,
तब सपनों के रथ पर चढ़कर
याद किसी की आया करती,

मुझे स्वप्न से भूले हैं जो उनको नहीं भुलाया जाता।

चितवन के बाणों से आहत
प्यार मचलता है बंधन का,
इस दुस्तर पथ पर चलने को
जीवन उत्सुक है यौवन पा

पर एकाकी बीहड़ पथ पर पग को नहीं बढ़ाया जाता।

2 जुलाई, 1949 को साप्ताहिक 'हलचल' में प्रकाशित/1947 की डायरी में भी यह कविता मिलती है।

वरदान तुम्हें दे सकता हूँ

(1)

अभिशापित जीवन से अपने वरदान तुम्हें दे सकता हूँ।

मधु स्वप्न मिटे इस अंतर के जब तुमने अपना धार लिया,
बरसात-ढली इन पलकों से जब पीड़ा का उपहार दिया।

इन गीली पलकों में मेरी तुम सपना बनकर तो आवो
चिर पीड़ित अंतर से अपने मधुगान तुम्हें दे सकता हूँ।

(2)

अंतर के गर्म उसाँसों से अरमान लताएँ सूख गईं,
नयनों के सागर में मेरी सारी आशाएँ डूब गईं,

चितवन के पथ पर ही अब तो सर्वस्व बिछा रहता मेरा
तुम प्यार कभी देकर देखो प्रतिदान तुम्हें दे सकता हूँ।

(3)

सुधियों के मरहम से अपने अंतर के घाव सुखाता हूँ,
इन गीतों को पतवार बना जीवन की नाव चलाता हूँ,

मुस्कान मिटी इन अधरो की अब यौवन में उन्माद कहाँ
तुम आवो बन मेहमान कभी मुस्कान तुम्हें दे सकता हूँ।

परदेसी/'चिनगारी' के अक्तूबर, 1949 अक में प्रकाशित

प्रीत सदा देता आया हूँ

प्रीत सदा देता आया हूँ।

जब सुधियों के दीपक जलते
जब पलकों में प्यार उतरता
तब अधरों से भावों का जग
होकर गीताकार उतरता,

मैं पीड़ा के बदले तुमको
गीत सदा देता आया हूँ।

आशाओं के रथ पर चढ़कर
जीवन का पथ पार कर रहा,
हानि भरी है जिसमें जग से
मैं विचित्र व्यापार कर रहा,

मैं पग-पग पर हारा तुमको
जीत सदा देता आया हूँ।

अपनी श्वासों-प्रतिश्वासों से
मैं प्रतिपल जलता रहता हूँ,
आह निकलती नहीं हृदय से
पीड़ा प्राणों पर सहता हूँ,

प्रीत सदा देता आया हूँ।।

परदेसी नाम से/'कमल' के दीपावली अंक में/1949

गीतों की छाया में मेरे

मैं दीपक हूँ नित दीपक-सा
मेरा भी दीपक जलता है।

नयनों के प्रांगण में जब-जब
सुधि के स्वप्न बिखर जाते हैं
पीड़ा जग जाती है मेरे
उर के घाव उभर आते हैं

चिर अतीत का विश्व नयन में
बन-बनकर फिर-फिर ढलता है।

स्वप्न उभरते प्राणों में
मन के अरमान फफक उठते हैं,
नयनों से आँसू बन-बनकर
मेरे गान छलक उठते हैं,

गीतों की छाया में मेरे
जीवन का यौवन पलता है।

नित्य किसी के आने के पल
मेरे श्वास गिना करते हैं,
आशा आश्वासों पर जीवित
सपने मृत्यु बिना मरते हैं,

ऑंख मिचौली में आशा की
अंतर को अंतर छलता है।

परदेसी नाम से/'चिनगारी' के दीपावली अंक में/1949

मैं विरही की प्यास अमर हूँ

मैं विरही की प्यास अमर हूँ

प्राण! तुम्हारे पथ मे मैंने
विश्वासो के जाल बिछाए
सजल प्रतीक्षा करते-करते
ये गीले लोचन पथराए

ज्वालामुखी-सा अपने उर में
मैं दाबे उच्छ्वास अमर हूँ

दृग से जितने दूर गए तुम
उर के उतने पास हो गए
अब तक केवल साँसों में थे
पर अब तुम ही साँस हो गए

तिनके-सा अस्तित्व मगर मैं
हिमगिरि का विश्वास अमर हूँ

मुझे हिलाने को धरती से
जग ने सारा ज़ोर लगाया
लाल-लाल-सी मुक्त निगाहों
से मुझको हर बार जलाया

जल-जलकर जीवित रहने का
फिर भी मैं इतिहास अमर हूँ

परदेसी नाम से/'तरुण' नवंबर अंक/1949

विज्ञापन के पर्चे हैं

ये जो छपवाकर लाया हूँ ये विज्ञापन के पर्चे हैं

व्यर्थ लेक्चरबाज़ी से ही भोली जनता को फुसलाकर
चालीस प्रतिशत से भी ज़्यादा बन बैठे हैं आज मिनिस्टर
तन पर जिनके कोट नहीं था फक्कड़ बैठे हैं कुर्सी पर
गांधी टोपी वालों को भी रानी अब नेता कहते हैं

मैं नेता होने वाला हूँ इसमें कुछ संदेह नहीं है
इसीलिए तो हैट-पैंट से मुझको बिलकुल स्नेह नहीं है
पर क्या करूँ अकेला रानी तुम भी तो हथियार सँभालो
साटन और सिल्क को तजकर खद्दर की सलवार सिला लो
ये खद्दर का युग है रानी इसमें जो खद्दर पहनेगा
उसको तो विश्वास हो गया स्वर्ग उसे ही ईश्वर देगा

प्रिय ये परिवर्तन का युग है इसके घर-घर में चर्चे हैं
जितने छपवाकर लाया हूँ ये विज्ञापन के पर्चे हैं

मैं नेता बनकर मानूँगा जो आफत होगी सह लूँगा
किसी बड़े पद अधिकारी के मैं भी कानों में कह दूँगा
'सन् उन्नीस सौ बयालीस में मैंने भी की है कुरबानी'
'बीस बार ये जेल गए हैं' तुम भी फिर कह देना रानी
मैं एम॰ एल॰ ए॰ बन जाऊँगा पर तुम प्रिय एल॰ सी॰ में होंगी
बँगला होगा कार मिलेगी पाँचों उँगली घी में होंगी
इसीलिए तो रानी सुन लो बढ़े हुए मेरे खरचे हैं।

1949

मगर हम अनाड़ी थे कच्चे खिलाड़ी

कि बीबी ने घर में
औ' जेलों में हमने
थे नौ साल चक्की के
चक्कर चलाए।

स्वदेशी के नारों की
गड़बड़ थी यारो
कि बी॰ ए॰ का इम्तहाँ
दे हम न पाए।

ये कैसे थे काटे
बरस नौ सज़ा के
ये टूटा-सा दिल
आज कैसे बताएँ।

मगर दिल पर रखकर
इक मोटा-सा पत्थर
तुम्हें आज दास्तान-ए-
गम सुनाएँ।

जिए नंगे रहकर
जिए मार सहकर
औ' भूखों में पत्थर
के टुकड़े चबाए।

थे हमसे वे बेहतर
वे कुत्तों से बदतर
मगर ओफ कब दृग
से आँसू गिराए।

बने हैं मिनिस्टर
बने हैं कलेक्टर
ये जेलों में कब
कितने दिन रहने पाए।

रहे हैं अगर जो
तवारीख़ सुन लो
किलास-ए में
पढ़ते थे चश्मा लगाए।

वो गर्मी थी धन की
कहाँ उनको चक्की
कहाँ वे वहाँ पर
फली फोड़ लाए।

नयन माँ ने खोले
धरा भार डोले
खुशी में भी हम थे
न फूले समाए।

पर आगे का नक्शा
हमें क्या पता था
कि भारत पर अब
कौन-सा रग चढ़ाएँ।

दिए क्लेम सबने
लिए सबने ओहदे
वह कुर्सी को पा के
न फूले समाए।

मगर हम अनाड़ी
थे कच्चे खिलाड़ी
गए भाग मैदान
से दुम दबाए।

मगर आज हम पर
पड़ा एक पत्थर
कि फिरते हैं यारों से
आँखें छिपाए।

1948-49

दो लाज भरे सुरमई नयन

मेरी पलकों में उतर गए
दो लाज भरे सुरमई नयन।

चंपई रेशमी ब्लाउज़ पर
लिपटी यौवन की चादर थी
ऊनी साड़ी थी शुभ्रवसन
सिर पर यौवन की गागर थी

नूपुर ध्वनि-सी रुन-झुन-रुन-झुन
करती आई दृग के पथ में
वह चपल बालिका भोली थी
कर रही लाज का भार वहन

झीने घूँघट पट से चमके
दो लाज भरे सुरमई नयन।

निर्माल्य अछूता अधरों पर
गंगा-यमुना-सा बहता था
सुंदर वन का कौमार्य सुधर
यौवन की घातें सहता था

परिचयविहीन होकर भी हम
लगते थे ज्यों चिर-परिचित हों
मंत्रों को सुन-सुन उत्सुकता
बढ़ती जाती थी क्षण-प्रतिक्षण

मेरी पलकों में उतर गए
दो लाज भरे सुरमई नयन।

कर रही हवन-वह्नि थी
धृत औ' आहुति के अवा स्पर्श उधर
हलचल थी हृदयों में दोनों के
होता था कर्षाकर्ष इधर

वह स्मृति मधु उस बेला की
है ज्यों प्रस्तर पर रेख अमिट

ज्यों झुक दो तीखे नयन मिले
त्यों दौड़ गई मृदुतम सिहरन

चुभ गए हृदय में बरछी से
दो लाज भरे सुरमई नयन।

जब शास्त्र-वेद नियमानुकूल
सब मात्र पूर्ण संस्कार हुआ
जीवन के पथ पर चलने को
नव साथी ले तैयार हुआ

मुस्कान सँजोई अधरों पर
आहों को दाब लिया बरबस
मैं जिस बंधन में बँधा गया
रे वह कितना ढीला बंधन

पर मदिर मधुर मधुलास बसे
दो लाज भरे सुरमई नयन

मेरी पलकों में उतर गए
दो लाज भरे सुरमई नयन

कवि का विवाह 30 नवंबर, 1949 को संपन्न हुआ आर्य समाजी परिवार से। यह कविता ठीक दूसरे दिन लिखी गई, जिसमें नवपरिणीता पत्नी श्रीमती राजेश्वरी त्यागी के रूप-सौंदर्य का वर्णन है।

तब याद मुझे करती होगी

तब याद मुझे करती होगी!

चिर विरही चातक को लेती
होगी जब प्यास दबोच प्रिये!
तब होता होगा तुमको भी
कवि अशुभ कल्पना सोच प्रिये!

पागल हो तिक्त व्यथाओं से
अपना यौवन भरती होगी।

जब बाँहों में भर अँधियारा
रजनी को, सो जाता होगा,
तब मेरी गोरी बाँहों में
मेरा मन खो जाता होगा,

एकाकीपन से ऊब प्रिये
मन ही मन में डरती होगी।

जब मिलन गीत गाता होगा
वंशी का स्वर धीमा-धीमा,
तब बढ़ जाती होगी प्रेयसि
तेरी आशाओं की सीमा,

ये विरह-वेदनाएँ भीषण
आश्वासों से हरती होगी।

जब चुंबन करने धरती का
आकाश निकट आता होगा,
सुरमई दृगों में सुधियों का
मधुमास सिमट जाता होगा,

तब मुझसे मिलने को व्याकुल
सपनों के पग धरती होगी।

1949

हृदय की पीड़ा का इतिहास

ये अश्रु हृदय की पीड़ा का
इतिहास कहाँ तक गाएँगे।

आशाएँ मुझसे रूठी हैं
इन अधरों में मुस्कान नहीं,

चलने को पथ पर चलता हूँ
पर चलने का अरमान नहीं,

मंज़िल पाने का पाँवों में
विश्वास कहाँ तक आएँगे।

युग-युग से जलता आया है
इस जीवन का कोना-कोना,
है मूक जलन तक हीं सीमित
मेरा हँसना मेरा रोना,

मेरे पतझरमय जीवन में
मधुमास कहाँ तक छाएँगे।

युग-युग तक पीड़ा सहने को
दो क्षण का प्यार बहुत कम है
अब इन प्राणों की वंशी का
प्रति पोर बहुत ज़्यादा नम है

खुद को छलता जाऊँ कब तक
स्वर होता जाता है धीमा

पीड़ा का घिरा निशीतम है,
झूठे, बढ़ गई बहुत सीमा
जीवन-दीपक में स्नेह भला
आश्वास कहाँ तक लाएँगे।

1949

क्या तुमको मेरी याद नहीं आती है

क्या तुमको मेरी याद नहीं आती है।

जब इठलाकर बहतीं नदियाँ बरसाती,
जब तट की शीशम पर बैठी पिक गाती,
जब सात रंगों से सज्जित संध्या बाला
प्रिय से मिलने को शरमाती-सी जाती,

तब मदिर मधुर हिलकोर तुम्हारी स्मृति
मेरे मानस-सागर में लहराती है।

जब कुछ संभाषण मौन सितारे करते
जब आपस में रंगीन इशारे करते,
जब अँधियारा बाँहों में भर रजनी को
मुस्काता, देखा हम मन मारे करते,

तब स्वर्णातीत मचल उठता नयनों में
ये रात शारदी मुझको तड़पाती है।

जब बूँदों में आकाश उतर आता है,
जब धरती पर मधुमास उतर आता है,
जब किसी वियोगी के सूखे अधरों पर
फिर से वह खोया हास उतर आता है

तब आँखों में सावनी मेघ छा जाते
इस व्यथित हृदय की पीडा बढ़ जाती है।

1949

दो क्षण का प्यार मुझे दे दो

युग-युग तक पीड़ा सहने को
दो क्षण का प्यार मुझे दे दो।

परिश्रांत पगों से मंज़िल के
पा जाने का विश्वास नहीं,
मन बहला लूँ पथ में, मुझ पर
सुख का ऐसा इतिहास नहीं,

मँझधार पहुँच पाऊँ रंगणि
अपनी पतवार मुझे दे दो।

तारे गिनने को नयन नए
आकाश कहाँ से लाएँगे.

ये अश्रु हृदय की पीड़ा का
इतिहास कहाँ तक गाएँगे,

आशाएँ लेकर प्यार करूँ
इतना अधिकार मुझे दे दो।

पीड़ा के निविड़-तिमिर पथ में
गीतों के दीप जला पाऊँ,
मैं हँसकर-गाकर गीतों में
आकुल यौवन बहला पाऊँ,

मुझको नित नव प्रेरणा मिले
अपने अंगार मुझे दे दो।

मैं आयौवन तेरे पथ के
काँटे बुहारता आया हूँ
औ' जीत तुम्हें देकर जग से
मैं स्वयं हारता आया हूँ

पर जीत आज देकर दो क्षण
चिर संचित हार मुझे दे दो।

1949

तुम मुझे अभिशाप दे दो

तुम मुझे अभिशाप दे दो।

एक क्षण का प्यार क्यों लूँ
एक युग की पीर लूँगा
ज्वाल है विकराल मन की
मैं नयन में नीर लूँगा
घाव अपने हाथ से तुम आज
अपने आप दे दो।

चोट सहने को हृदय पर
विश्व में पैदा हुआ हूँ
खूब तड़पा लो मुझे तुम
इसलिए ही मैं बना हूँ
मैं विमल विश्वास भी हूँ

शक्ति सीमित किंतु मंज़िल की
असीमित नाप दे दो।

याद कर मेरी न कोई
आँसुओं से नयन भरता
पर लुटाता गीत बेसुध
मैं किसी की याद करता

पुण्य तो संचित बहुत है
युग-युगों के पाप दे दो।

1949

मैं तुम्हें वरदान दूँगा

मैं तुम्हें वरदान दूँगा।

पास रहकर मिल न पाए
है नियति का दोष इसमें,
बेबसी पहचानती हो
है मुझे संतोष इसमें,

हृदय की व्याकुल दिशाओं में तुम्हें स्थान दूँगा।

कौन-सी अभिलाषा उर में
मैं न जिसको घोल पाया,
कौन-सी पीड़ा जगत में
है न जिसको तोल पाया,

चिर व्यथातुर है हृदय पर मैं तुम्हें मधु गान दूँगा।

सह न सकता जग हमारी
मिलन-रात सुहावनी-सी
अब नियति भी बन गई है
विश्व की अनुगामिनी-सी

प्यार दो मुझको, तुम्हें मैं प्यार का प्रतिदान दूँगा।

1949

दो मुझे आश्वास प्रेयसि!

इस निराशा के अनिल में बुझ न जाए दीप मेरा
दो मुझे आश्वास प्रेयसि!

मैं कयामत तक तुम्हारी
राह में पलकें बिछाए ताकता पथ को रहूँगा,

जल मरूँगा मर मिटूँगा
पर तुम्हारी याद लेकर झाँकता प्रतिपल रहूँगा,

मुस्कराएगी अधर पर झाँककर आशा नयन में
दो मुझे विश्वास प्रेयसि!

प्रिय पतंगा हूँ अकिंचन
फूँककर पाँखें लपट में मैं सतत जीता रहूँगा

आँसुओं में डूबकर ही मौत आ जाए तुम्हारे
है यही अभिलाष प्रेयसि!

चिर व्यथा का भार पाकर प्यार से वंचित किसी के
डूब जाऊँ बीच में पतवार पाकर है यही संताप मेरा
है यही उल्लास प्रेयसि!

इस निराशा के अनिल में बुझ न जाए दीप मेरा
दो मुझे आश्वास प्रेयसि!

1949

दीवाली के दीपक

दीवाली के दीपक साथी घूमते रहे भू पर चमकीले।

कर बीती याद दीवाली
बह निकले आँसू दीवाने
प्राण न आए, मेरी सोई
आशाओं के दीप जगाने?

जीवन का पथ नाप रहा हूँ
गाकर गाने गीले-गीले।

सपनों के प्रासाद खड़े हैं
क्षत-विक्षत-से प्यारे-प्यारे
इन नयनों में डोल रहे हैं
पीड़ाओं के घन कजरारे।

रुक-रुक छिप-छिप बरस रहे हैं
मेरे लोचन लोल लजीले।

किसने मम उर की पीड़ाएँ
अपने आँसू से धोई हैं
मुझको दुःख में देख किसी की
कब हँसती पलकें रोई हैं।

मन की चाही हुई न मेरी
हुए न जग के बंधन ढीले
दीवाली के दीपक साथी
चमक रहे भू पर चमकीले।

1949

कैसे क्रूर विधान बन गए

कैसे क्रूर विधान बन गए।

जिनके आश्वासों के बल पर सपनों के प्रासाद बने थे,
जीवन का अरमान और जो हृदतंत्री का नाद बने थे,
जिन पर केंद्रित थी आशाएँ, कैसे वह पाषाण बन गए।

कैसे क्रूर विधान बन गए।

जो अधरों का गान कभी बन मेरी पलकों पर सोते थे,
जो मेरे दुःख की रेखाएँ अपने आँसू से धोते थे,
कैसे वह मेरे यौवन की धुँधली-सी पहचान बन गए।

कैसे क्रूर विधान बन गए।

जिसने सहसा अधरों पर रख अधरों-सा कुछ, आग लगा दी
बुझ न सकी जो अब तक उर से उसने ऐसी प्यास जगा दी
उर की प्यास जगाने वाले तृष्णा से अनजान बन गए।

कैसे क्रूर विधान बन गए।

दुःख के क्रूर थपेड़ों में भी आँसू मेरे मीत सदा से,
सावन का जल पी-पीकर भी प्यासे मेरे गीत सदा से,
बस दर्दीले गान हमारे जीवन का जलपान बन गए।

कैसे क्रूर विधान बन गए।

1949

यही बहुत है

कभी-कभी प्रिय याद हमारी
कर लेती हो यही बहुत है

क्षुब्ध पिपासित इन नयनों में
सपना बनकर आ जाती हो,
स्नेहहीन बुझते चिराग की
लौ ईषत उकसा जाती हो

यही बहुत है, ध्यान हमारा
कर लेती हो यही बहुत है

घनीभूत बरसाती निशि में
याद हमारी आती तुमको
विरह अखरता है यौवन को
शरद निशा तड़पाती तुमको

मिलन कल्पनाओं से मानस
भर लेती हो यही बहुत है

मेरी पीड़ाओं को जग के
क्या अनुमान बता सकते हैं
क्या मेरी साँसों की गति को
ये तूफान बता सकते हैं

मेरी पीड़ाओं का अनुभव
कर लेती हो यही बहुत है।

यही बहुत है याद हमारी कर लेती हो

कभी-कभी प्रिय याद हमारी कर लेती हो यही बहुत है

जाने कितनी मंज़िल तय कर
तुम मेरी पलकों में आती,
अंतर, चूम, जगा आशाएँ
जीवन की इच्छा बन जाती

तुम दो क्षण को विरह-वेदना हर लेती हो यही बहुत है
यही बहुत है याद हमारी कर लेती हो, यही बहुत है

गीतों के अरमान बसे हैं
तुम मेरे गीतों की रानी
मैं पीड़ा के भाव बनाता
तुम पीड़ा देती कल्याणी

अमर भावनाएँ गीतों में भर देती हो यही बहुत है
यही बहुत है याद हमारी कर लेती हो, यही बहुत है

आकर पथ की इस मंज़िल तक
मैंने सुख का मर्म न जाना
जो देखा भी था शैशव में
मैंने उसको सपना माना

यही बहुत है तुम स्वप्नों में आ जाती हो, यही बहुत है
यही बहुत है याद हमारी कर लेती हो, यही बहुत है

1949

वे अपने हठ की पक्की हैं

वे अपने हठ की पक्की हैं

सुनती वह मेरी एक नहीं
कैंची-सी जीभ चलाती हैं
तालाबों में बसने वाली
वे मेढक-सी टर्राती हैं

कहती हैं मैंने देखा है 'राजो'
को काली साड़ी में
कहती हैं मैंने देखा है मुन्नी
को मोटर गाड़ी में

मैं कहता उनके शौक सही
उनकी है ये ही उमर प्रिये
पर तुम साड़ी बाँधोगी क्या
हिलती बरगद-सी कमर प्रिये

सुनती वह मेरी एक नहीं
मेढक-सी बस टर्राती हैं
गर ज़्यादा कुछ कह देता हूँ
तो अपना हाथ उठाती हैं

वह डब्लू डी का इंजन या
दाना दलने की चक्की हैं।

वे अपने हठ की पक्की हैं

1949

चिराकुल सपनों को

चिराकुल सपनों को साकार बनाती आवो री रंगणि।

व्यथा की रुन-झुन प्राणों बीच
दबाती जाती मेरे श्वास।

सिमटता जाता रह-रह अमित
हृदय की आशा का आकाश!

युगों की पीड़ा का संसार जलाती आओ री रंगणि।
चिराकुल सपनों को साकार बनाती आओ री रंगणि।।

पिपासा की ज्वाला में तीव्र
हृदय जलता जाता है मौन,
शूल-सा इन प्राणों में मुग्ध
नित्य पलता जाता है कौन,

मिलन की अमर अवधि का द्वार हटाती आओ री रंगणि।
चिराकुल सपनों को साकार बनाती आवो री रंगणि।।

नयन के अंबर से नित म्लान
पलक पर ढलती है बरसात,
दूर मन खोया रहता क्षुब्ध
कल्पनाओं में रत दिन-रात,

विमल अंतर का अपने प्यार लुटाती आओ री रंगणि।
चिराकुल सपनों को साकार बनाती आओ री रंगणि।।

1949

क्यों गाता है.

क्यों गाता है?
क्यों गीतो मे
अपनी पीड़ा क्षुब्ध हृदय की
भर लाता है,
क्यों गाता है?

अपनी पीड़ा क्यों फिर
पीड़ित मानव ही को दिखलाता है
क्यों गाता है?

1949

यही हार है, यही जीत है

यही हार है, यही जीत है

अरमानों की स्तरिमा पर
दो दिन हँस ले दो दिन गा ले
अगणित राहों पर साथी को
इस पथ खोकर उस पथ पा ले

पाकर खोना, खोकर पाना, यही प्यार है, यही प्रीत है।
यही हार है, यही जीत है।

सदा-सदा से बजे हृदय की
वीणा पर जो मिलन-राग क्या
सदा-सदा से लगी रही जो
किसी हृदय में विरह आग क्या

कभी बुझाना कभी लगाना निठुर नियति की यही रीत है।
यही हार है, यही जीत है।

विरह-वात में क्षुब्ध पिपासित
विरही अपना मन बहलाने
बना-बनाकर नित्य सुनाता
है आकुल यौवन को गाने

उस विरही के लिए रूपसी वही रुदन है, वही गीत है

1949

मधुमास सही

पतझार नहीं, मधुमास सही।

कितना झेला नयनों ने दुःख
कितनी अंतर ने आघातें,
तुम क्या समझो कैसे काटीं
हैं मैंने बरसाती रातें।

मुझको तुमसे प्रिय प्यार प्रबल
पर तुम कहतीं, संन्यास सही

रंगीन हमारे यौवन के
अरमान तड़पते आए हैं।
सच तो ये है आशाओं के
तुमने ही दीप बुझाए हैं

तुमने चिर संचित शोक दिए
पर तुम कहती उल्लास सही

यों तो तेरे सब कार्य प्रिये
मेरे हित के विपरीत हुए
जो सत्य बने-से सम्मुख थे
वे सारे स्वप्नातीत हुए

मुझसे क्या स्नेह सुमुखि होगा
पर तुम कहतीं, विश्वास यही।

1949

प्यार की पतवार

प्यार की पतवार खो बैठा किनारे पर

एक दिन सहमा अमाँ की रात घिर आई
धवल मुग्धा चाँदनी की आँख भर आई,

ज्योति का आश्वास पाकर हँस रहे थे तारकों के दल गगन में
व्यथा की कालिमा नभ में मौन लहराई

स्वप्न का शृंगार रो बैठा सितारे पर
प्यार की पतवार खो बैठा किनारे पर

स्वप्न से आँसू दृगों से छलक पड़ते मौन
वेदना से गीत गीले ढलक पड़ते मौन

प्यार का इतिहास पूरा हो न पाया हो ही नहीं सकता कभी
मौन अंतर-वीणा पर ये गा रहा था कौन?

गीत ही आधार हो बैठा किनारे पर
प्यार की पतवार खो बैठा किनारे पर

फिर कोई आया व्यथा में प्राण बहलाने
नए रंगों से सुसज्जित घाव सहलाने

अन्य कर का स्पर्श घावों को हमारे बन नहीं सकता कभी मरहम
सुश्रुषा की तो अधर से सिर्फ कहलाने

चिर व्यथा का भार यों बैठा सहारे पर
प्यार की पतवार खो बैठा किनारे पर।

1949

जल रहे हैं गान मेरे

चिर विरह की आग में सखि
जल रहे हैं गान मेरे।

ढल रही हैं मूक श्वासें
ढल रहा है मौन जीवन,
चिर व्यथाओं में सिसकता
चल रहा है मौन यौवन,

बह रही है घोर झंझा
तड़फड़ाते प्राण मेरे।

गल रही पीड़ा हृदय की
पुतलियों से नित्य छनकर,
तुम गईं परदेश मेरा
मिट गया इतिहास बनकर,

आ रहे गीले दृगों में
स्वप्न बन मेहमान मेरे।

साधना के सिंधु में प्रिय
बह रहा जीवन हमारा,
कौन जाने मिल सकेगा
भी नहीं इसको किनारा।

एक आशा के सहारे
पल रहे अरमान मेरे।

1949

मुझे शोक है

मुझे शोक है बस इतना ही तुमसे मिलकर नहीं जा सका।

यौवन की निर्मल धारा में
मुझको अगणित फूल मिले हैं,
आकुल यौवन को बहलाने
जाने कितने फूल खिले हैं

जिसको पाने किया परिश्रम
औ' प्रयास मैं उसे पा गया

मुझे शोक है श्रम करके भी लेकिन तुमको नहीं पा सका।

चाह यही थी निज जीवन की
तुमसे दो बातें कह लेता,
बदले में जो पीड़ा मिलती
उसको प्राणों पर सह लेता

हँस-हँसकर गा-गाकर तुमको
अपने गीले गीत सुनाता

मुझे शोक है बस इतना ही गीत नहीं तुमको सुना सका।

मैं रोता हूँ मेरे रोने को
जग समझा करता गाना
गीतों में मेरी पीड़ा है
सबने देखा किसने जाना

मैं सोचा तुमको मिलने पर
घाव दिखाऊँगा अंतर के

मुझे शोक है तुम न मिलीं प्रिय घाव नहीं तुमको दिखा सका।

1949

अधरों में मुस्कान बंद है

अधरों में मुस्कान बंद है
कितने हृदयों के अरमानों की कलियों के फूल खिल गए
कितने हृदयों के अनजाने बहते-बहते कूल मिल गए,
कितने हृदयों के पतझर भी बीते फिर मधुमास छा गया,
कितने हृदयों के व्रण सूखे अधरों पर मृदुहास आ गया,

पर मेरी किस्मत के पंजे
में सुख का मेहमान बंद है।

मेरे यौवन की कुटिया में सदा अँधेरी रात रही है,
मेरे अधरों पर आहें औ' नयनों में बरसात रही है,
मेरे जीवन में प्रभात आया तो था पर याद नहीं है,
मेरे यौवन में जड़ता है निष्क्रियता है नाद नहीं है,

पर फिर भी प्यासे अंतर में
जाने क्या अरमान बंद है।

मुझको चारों ओर घनेरी पीड़ा घेरे मौन खड़ी है,
मुझको दुःख है मेरे उर की सब आशाएँ मौन पड़ी हैं,
मुझको लगता मुझ पर अपनी सब जग क्रूर निगाह कर रहा
मुझको लगता हृदय किसी के जीकर बिना गुनाह कर रहा

फिर भी सूखे अधर पटों में
सरस सलोना गान बंद है।

अपूर्ण/1949

प्रणय की धार

मस्त मदिर मधु अरमानों के स्वप्न बनाना काम तुम्हारा
पीड़ाओं के तूफानों में बहते जाना काम हमारा
यौवन के अधरों पर तेरे मुस्कानों के गीत मिले हैं,
जीवन की स्वर्णिम बेला में मुझको व्याकुल मीत मिले हैं,

तुम पागल हो हर्ष कथा से
मैं पागल हूँ मूक व्यथा से
मेरे नयनों में आँसू की
बजती रहती सरगम प्रतिपल।

नयन तुम्हारे क्षण-सुख पाकर प्यार किसी का खो बैठे हैं,
हमको देखो प्रथम दृष्टि में प्राण! तुम्हारे हो बैठे हैं।
नयनों की भाषा से उर का प्यार जताना बहुत कठिन है
प्यार सरल है किंतु रूपसी उसे निभाना बहुत कठिन है

विरह अग्नि पर चल न सके जो
मै कहता हूँ प्यार नहीं वो
नित कुंदन-सा पड़ पावक में
मेरा प्यार चमकता जल-जल।

बीच धार में धोखा दे जो वह पतवार नहीं हो सकती
पार उतरने दे जो किश्ती वह मँझधार नहीं हो सकती
अंतर में वसने वाले को क्या भूला भी जा सकता है
सुधियों में जलने वाले को क्या भूला भी जा सकता है

कौन प्रणय की धार जगत में
रोक सका है रोक सकेगा
सागर से मिलने सरि जाती
गाती बजती रुन-झुन पायल।

1949

भूल जाना भी नहीं आसान

याद करना भी कठिन है
भूल जाना भी नहीं आसान, मुझको
ज़िंदगी के दीप का आधार हो तुम
मैं तुम्हारी याद लेकर रह रहा हूँ
मिलन का अरमान अंतर में सँजोए
मैं समय के साथ युग से बह रहा हूँ
हँस रहा जग विश्व में मधुमास आया
तप्त अधरों पर सभी उल्लास छाया
मौन, अंतर से लिपटकर प्यार रोता
कल्पनाओं का सुखद संसार रोता।
अब करूँ क्या
खोल देना मुँह कठिन है
बंद रखने की नहीं है ताब, मुझको
कुछ न देखा ज़िंदगी की चाँदनी में
स्वप्न-से आए-गए मेहमान मेरे
हँस न पाया मैं विहँसती यामिनी में
तप्त अधरों पर रुकी मुस्कान मेरे
पास ही हैं दूर रहकर भी हमारे
चाँद से कब दूर रहते हैं सितारे
अब करूँ क्या
आज रोना भी कठिन है
मुस्कराने भी न देते प्राण मुझको।

1949

प्यासे अधरों से अधर मिले

प्यासे नयनों से नयन सुमुखि प्यासे अधरों से अधर मिले

उद्भ्रांत पथिक पगडंडी पर
यौवन की घूमा करता था

मैं निरुद्देश्य हर पथ अपने
पाँवों से चूमा करता था,

मंज़िल तक पहुँचा दे मुझको
ऐसी न कहीं पर राह मिली
जो पूर्ण हो सके ऐसी तो
अब तक न हृदय को चाह मिली

पर मिली डगर में तुम मुझको उर को ऐसा आभास हुआ
ज्यों युग-युग तक इस जीवन के अरमान तुम्हीं में उतर मिले।

कल कोकिल का कल रोग मधुर
चंचल यौवन कर देता था,
मलयानिल उर में कसकन-सी
मधु-तड़पन-सी भर देता था,

सावन की मधुर हिलोर और
मधु ऋतु बेचैन बनाती थी,
जाने क्यों मेरे तन-मन को
जाड़ों की रात सताती थी,

उस दिन महसा ही देख तुम्हें मुझको ऐसा महसूस हुआ
उन्नत उरोज की रचना में मधुमास युगों के उभर मिले।

1949

किसी के सामने सिर झुक नहीं सकता

सुमुखि मानो न मानो तुम, तुम्हारे क्या
किसी के सामने सिर झुक नहीं सकता।

चरण वे और होंगे बाँध लेते हैं जिन्हें अनुराग के कच्चे रँगे धागे,
चरण वे और होंगे जो सिहरते देखकर सहसा कि ये तूफान हैं जागे,
मुझे तुम खूब समझाओ डराओ पथ की कठिनाइयों से और दलदल से
कि मुझको प्रेरणा मिलती अकेला ही नहीं मैं विघ्न भी हैं पंथ पर आगे।

तुम्हारे अश्रु के जर्जर शिथिल बंधन
न मुझको रोक पाएँगे न गति को ही समय की,
कि जिनके सामने हम चल नहीं पाते
स्वयं कमज़ोरियाँ हैं वे हमारे ही हृदय की,
मानो न मानो तुम, तुम्हारे क्या
किसी के सामने सिर झुक नहीं सकता।

हृदय में प्यार इतना है कि अपने पंथ में मैं प्यार का संबल नहीं लेता,
स्वयं में शक्ति इतनी है कि अपने शीष पर आशीष का अंचल नहीं लेता,
बड़ा उपकार मानूँगा अगर रखकर अंगारे शूल बिखरा दो डगर में तुम
कि इससे गति बढ़ेगी क्योंकि मैं रुकता नहीं जब तक कि पूरा चल नहीं लेता।

न मेरी साँस के स्वर क्षीण हो पाए
सदा ज्वालामुखी फूटे कि ज्यों गोले ज़हर के हों,
न मेरी साधना के फूल मुरझाए
सदा अपने मिले छूटे कि ज्यों साथी लहर के हों
दुःखों में साधना का जो तपा जीवन
किसी भी अग्नि कुल से फुँक नहीं सकता
किसी के सामने सिर झुक नहीं सकता।

अपरिचित पंथ पर बिखरे हुए ये अग्नि के कुछ फूल दामन में उठाओ मत,
न वापस आ सकूँगा मैं करुण कंपित स्वरों से बाँह फैलाकर बुलाओ मत,
किसी की चाह पर अधिकार का बंधन न मुझको प्रिय न मैं स्वीकार करता हूँ
गगन से गुरुशिलाओं से अधिक भारी हृदय के प्यार को हलका बनाओ मत।

हमारी भावनाएँ ही हमारे मन-हृदय
औ' प्यार की गहराइयों की माप का साधन,
न लो मेरा सहारा ज़िंदगी में, क्योंकि
मरघट में न जाएगा तुम्हारे साथ मेरा तन
मुझे यह ज़िंदगी, यह गति बड़ी प्यारी
किसी के रोकने से रुक नहीं सकता
किसी के सामने सिर झुक नहीं सकता।

संभावित रचनाकाल : 1949-50

तुम्हारी याद में पागल प्रवासी लौट आया है

तुम्हारी याद में पागल प्रवासी लौट आया है।
तुम्हारे नयन का घायल प्रवासी लौट आया है।
कि जिसकी याद मे सपने व्यथाओं को सँजोते थे,
कि जिसकी याद मे उल्लास जग में मौन रोते थे,
अधर बरसात के झुक झुक गुलाबी नयन धोते थे,
वही जिसके लिए आकाश नयनों में समाया था
तुम्हारे नयन का बादल प्रवासी लौट आया है।
कि जिसकी याद में तुमको कराहें, गान लगते थे
कि जिसकी याद मे झोंके मलय के, बाण लगते थे
वही जिसके लिए तुमने जगत की भी न की परवाह
जिसकी याद में तुमको सुमन पाषाण लगते थे,
तुम्हारे प्यार का पागल प्रवासी लौट आया है।
तुम्हारे नयन का घायल प्रवासी लौट आया है।
कि जिसकी याद मे मधुमास बन पतझर सिसकता था
कि जिसकी याद मे दिनमान भी दिन-भर सिसकता था
वही जिसके लिए तुमने जलाए पथ में दीपक
कि जिसकी याद मे वातास रह-रहकर सिसकता था।

पाठान्तर

तुम्हारे पाँव की पायल प्रवासी लौट आया है।
तुम्हारे नयन की छलछल प्रवासी लौट आया है।
तुम्हारे गीत की रुनझुन प्रवासी लौट आया है।
तुम्हारे नयन का घायल प्रवासी लौट आया है।
वही जिसके लिए उर में व्यथा के घन गरजते थे,
दृगो की बाँसुरी में आँसुओं के गीत बजते थे,
कि जिसकी याद में व्याकुल नयन सपने पिरोते थे
अधर बरसात के झुक-झुक गुलाबी गाल धोते थे

तुम्हारे नयन का बादल प्रवासी लौट आया है।
तुम्हारे पाँव की पायल प्रवासी लौट आया है।

वही जिसके लिए तुमको सुमन पाषाण लगते थे
मलय की मुग्ध मधु-वातास के भी बाण लगते थे,
कि जिसकी याद में पागल जवानी कसमसाती थी
नयन की नींद बेसुध प्राण में चक्कर लगाती थी,

तुम्हारे प्यार में पागल प्रवासी लौट आया है।
तुम्हारे पाँव की पायल प्रवासी लौट आया है।

वही जिसके लिए आह्लाद जग-अवसाद माना था,
पिकी के गीत विरहिन का सबल उन्माद माना था,
कि जिसकी याद में सूना पड़ा था आज तक आँगन,
विहँसती चाँदनी को देख होती थी असह्य कसकन

तुम्हारे रूप का कायल प्रवासी लौट आया है।
तुम्हारे पाँव की पायल प्रवासी लौट आया है।

1950

मैं प्राणों में प्यास लिए हूँ

मैं प्राणों में प्यास लिए हूँ।

भाग्य-दिवस जब ढले साँझ ने अपने असित पंख फैलाए
अंतर के तरु पर सुधियों के विहगों के दल के दल आए
याद किसी की इन नयनों में नाच उठी ज्यों सावन के घन
मैंने छंदों में बंदी कर पीड़ाओं के गीत बनाए,
मेरे सब गीतों में आकुल अन्तर की आवाज़ दबी है
मैं अपने नयनों में अपने यौवन का इतिहास लिए हूँ।

मैं प्राणों में प्यास लिए हूँ।

(2)

अमित कामनाओं का मेरे अंतर में सागर लहराता
आज तलक मैं उनके पथ पर आशाओं के दीप जलाता,
विश्वासों पर ही जीवित मैं मेरा हँसना मेरा गाना
प्रबल झकोरो में पतझर के मेरा दीप न बुझने पाता,
मेरे आकुल श्वास किसी के आने के पल क्षण गिनते हैं
पा न सका हूँ लेकिन उनको पाने का विश्वास लिए हूँ।

मै प्राणों में प्यास लिए हूँ।

'सन्मार्ग', 'चिनगारी', 'नया जीवन' में प्रकाशित/1950

अच्छी देन विश्व को

मै सबसे अच्छी देन विश्व को प्यार मानता हूँ केवल।

इस प्रणय पथ का कॉटो से निर्माण समझती है दुनिया
इस कलित कुसुम को जाने क्यों पाषाण समझती है दुनिया,
है विरह प्यार के दीपक में वर्त्तिका तेल के सदृश सदा
वह विरह प्यार के जीवन का अवसान समझती है दुनिया

मैं आसमान क। धरती का आधार मानता हूँ केवल!
मैं सबसे अच्छी देन विश्व को प्यार मानता हूँ केवल।

प्यार का दूसरा रूप जगत वाले परिताप बताते हैं
कम ऐसे भी हैं यहाँ नहीं जो इसको पाप बताते हैं,
पर बुद्धि मंच से मैं उनको ललकार दिया करता हूँ जो
वरदान नहीं कहते इसको प्रत्युत अभिशाप बताते हैं,

मैं प्यार मनुज का जन्मसिद्ध अधिकार मानता हूँ केवल!
सबसे अच्छी देन विश्व को प्यार मानता हूँ केवल!

हो जिसमें प्यार न लेशमात्र मानव का नहीं कलेजा है,
है प्रस्तर का निमा। बात ये नहीं तनिक भी बेजा है,
यौवन आता है तूफानी लहरों-सा क्षण को जीवन में
दिल दिया इसलिए प्यार करे इंसान धरा पर भेजा है।

मैं यौवन तक ही जीवन का विस्तार मानता हूँ केवल!
मैं सबसे अच्छी देन विश्व को प्यार मानता हूँ केवल!

1950

मैं समझता हूँ

मैं समझता हूँ कि अपने हाथ अपने
नाश का निर्माण करता जा रहा हूँ।

तुम समझती सिर्फ मुझको प्यार तुमसे हो गया है
गीत-अधरों का तुम्हारे शोक मेरा धो गया है,
पर कभी क्या जान सकती तुम तुम्हें इसका पता क्या
कल्पना के लोक में मेरा कहीं कुछ खो गया है,

चल रहा हूँ इसलिए मुझको कि चलना पड़ रहा है।
जल रहा हूँ इसलिए मुझको कि जलना पड़ रहा है,
मैं समझता हूँ कि दिन-प्रतिदिन किसी पर
नित नया अहसान करता जा रहा हूँ।

तुम समझती ही नहीं मुझको कभी जलना पड़ेगा
विवशताओं पर करों को मौन हो मलना पड़ेगा
जग सताएगा पड़ेगा किंतु फिर भी मुस्कराना
अमन के आश्वासनों से हृदय को छलना पड़ेगा।

तुम न समझो इस तरह से ही सदा रहती रहोगी
युग-युगों तक साथ मेरे इस तरह बहती रहोगी

मैं समझता हूँ कि खुशियों को जलाकर
प्रज्वलित श्मशान करता जा रहा हूँ।

1950

तू साधन न बन!

नव सत्य से अभिप्रेत मेरी आत्मा ने यों कहा
मैं स्वयं जाऊँगी ढली पाषाण तू साधन न बन!

शैतान का था काम जिसने
कर दिया संसार को
दुःख के तले, अवसान कर
मनुष्यत्व के आधार को,

कर बाँधकर शैतान से इंसानियत ने यों कहा
मैं स्वयं जाऊँगी चली इंसान तू साधन न बन!

अरमान का था काम जिसने
कर दिया संसार को
जल के तले प्राधान्य दे
संपूर्ण पारावार को,

यह देख विधु की चाँदनी ने मौन सागर से कहा
मैं स्वयं जाऊँगी चली तूफान तू साधन न बन!

दिनमान का था काम जिसने
कर दिया संसार को
तम के तले, धो लाल रंग से
प्रभा के विस्तार को,

झुकती सुनहली साँझ ने भर अश्रु सूरज से कहा
मैं स्वयं जाऊँगी छली पवमान तू साधन न बन!

1950

मेरे अधःपतन का कारण ही तेरा उत्थान बना है!

मेरे अधःपतन का कारण ही तेरा उत्थान बना है।

नवल चेतना नवल शक्ति पा
सहज झुकीं उपवन की पॉखें
झॉक-झॉक कण-कण अणु-अणु में
तृप्त हुई यौवन की ऑखें,

बिखर गया मृदु हास निखरकर
प्रति डाली-डाली पर सूखी
किंतु मंजरित द्रुम रसाल से
गूँजी पतझर की ध्वनि भूखी

मेरे अधःपतन का कारण ही तेरा उत्थान बना है।

विसुध चाँदनी की किरणों का
रव धरती पर शांत हो गया,
अंबर के काले ऑचल में
चद्र छिपा मुख, मोन सो गया,

धीरे हटा तिमिर अवगुंठन
ऊषा ने अपना मुख खोला,
सरमित ढलता जीवन उसका
यों रवि के यौवन से बीता।

मेरे अध·पतन का कारण ही तेरा उत्थान बना है।

कवि चिल्लाया चलो विश्व मे
चेतनता के दीप जलाऍ,
उसके पागलपन में युग की
मुखर हो उठी अभिलाषाऍ

अमित ज्ञान की नई ज्योति से
चमके गिरि, नदी, सागर, टीले
मंदिर के प्रस्तर से बोले
युग के लोचन गीले-गीले

मेरे अध·पतन का कारण ही तेरा उत्थान बना है।

1950

हे होली के त्यौहार हमें तुम माफ करो

हे होली के त्यौहार हमें तुम माफ करो
तुम एक वर्ष के बाद यहाँ फिर आए हो
पर सच पूछो हम आज तुम्हारा
दिल से स्वागत करने में असमर्थ
बहुत असमर्थ
हमें तुम माफ करो

है आज पेट में समाधिस्थ भीषण ज्वाला
जिसकी लपटों में जलकर पिघल गया
ये मोम सदृश उत्साह हृदय का
औ' यौवन
जो नागिन-सी डँस गई हमारी
ज्ञान-चेतना-बुद्धि सभी
जिसकी दहशत से
भूल गए हम खुद को भी
तुमको तो क्या
अब भूल गए उन सपनों को
जिनसे यौवन के
खाली दिन वहलाते थे
नित नए-नए त्यौहार मनाए जाते थे
पर अब तो खुद को
हमसे छला नहीं जाता
जीवन की घोर विषमताओं से
भरे हुए बीहड़ पथ पर
अब हमसे चला नहीं जाता भूखे पेटों
हमको पहिले खाली पेटों को भरना है
पहिले ये रोटी का मसला हल करना है
हम गा न सकेंगे गीत तुम्हारे स्वागत के
है क्योंकि तुम्हारी पावक से
अपनी जठराग्नि कहीं प्यारी
हमें तुम माफ करो।
हे होली के त्यौहार हमें तुम माफ करो

हम बहुत सो चुके आशाओं के झूले पर
पेटों पर पत्थर रखकर साढ़े तीन वर्ष
पर टूट गया अब बाँध धैर्य का
आश्वासन
तन की तो क्या मन की भी भूख बुझा न सके
अब हमको अपनी राहें आप बनानी हैं
तुम माफ करो...हे होली के त्यौहार...

मार्च 1950

मैं भी जलता रहा रात भर

दीपक जलते रहे गगन के मैं भी जलता रहा रात भर।

पलकों के कोनों में थककर
चुप होकर बरसात पड़ी थी
नींद गगन में मौन खड़ी थी
दृग में कोई सुधि का सुंदर स्वप्न मचलता रहा रात भर।
मैं भी जलता रहा रात भर।

झोंके बेसुध मुग्ध मलय के
कानों में आकर कह जाते,
बनते भी हैं जो ढह जाते,

आशाओं का सूर्य डूबता और निकलता रहा रात भर।
मैं भी जलता रहा रात भर।

मन मुझको आश्वासन देता
जग में तू ही दुखी नहीं है,
चेतन क्या जड़ सुखी नहीं है

मैंने देखा चाँद गगन का आग उगलता रहा रात भर।
मैं भी जलता रहा रात भर।

कभी किसी ने अपने हाथों
मेरा सपना नहीं बनाया
गीत समझकर मुझे न गाया

यह अतृप्त अरमान हृदय में रंग बदलता रहा रात भर।
मैं भी जलता रहा रात भर।

'दीदी', सितंबर, 1950 मे प्रकाशित

मैंने तुमको ही प्यार किया

मैंने तुमको ही प्यार किया!

जीवन में निश्चय गतिमय क्रम
मैं खोज रहा था तेरे सम
पर रुक क्या कभी पाया प्रताप
बहता है मधुर प्रेम हरदम,

वह क्या प्रमाण दे—बतला दे, 'किसने उसका उद्गार दिया?'

मैंने तुमको ही प्यार किया!

अलसाई मेरी जब पलकें
मन विहग चूमने उड़ा दूर
चूम सका क्या, मृग-मरीचिका
सम तो था वह बहुत दूर

संध्या को श्रांत थका लौटा, 'किसने उसको आधार दिया?'

मैंने तुमको ही प्यार किया।

रंगीन संध्या की सब परियें
फिर फिरा सकीं क्या पंख थका
झुलसा मम जीवन, शांत छुपा
कर तब अधरामृत पान छका

फिर बुझे हृदय का दीप ज्योति में, 'किसने जला सँवार दिया?'

मैंने तुमको ही प्यार किया!

निश्चल प्रकाश था वह पावन
तम भरी निशा कितनी काटी
कितने पर्वत पग तले रौंद
चढ़ता आया जीवन घाटी

कह लेने दो फिर एक बार, 'सच
मैंने जीवन हार दिया'
मैंने तुमको ही प्यार किया!

1950

ठहर जाओ

ठहर जाओ घड़ी भर और,
तुमको देख लें आँखें।

अभी कुछ देर मेरे कान में
गूँजे , तुम्हारा स्वर।

बहे प्रतिरोम से मेरे,
सरस उल्लास का निर्झर।

ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको…

अधूरी/1950

तुम कब बोले!

हर साँस-साँस में तुम्हें पुकारा बादल बन
तुम कब बोले!

विश्वासों के पथ से भटकीं चाहों को भी
मैंने अपने सीने से सदा लगाया है
उल्लासों के पथ से भटकी आहों को भी
मैंने जीवन का गीत समझकर गाया है
हर प्यास-प्यास में तुम्हें पुकारा घायल बन
तुम कब बोले!

मैं सदा समीरण के पंखों पर मचल-मचल
पथ का पर्वत भी धूल समझकर मुस्काया
मै सम्मुख आती हुई विरोधी धारा से
अपनी नोका का कूल समझकर टकराया,

पर आज समय की चट्टानों से घिरे हुए
मेरे प्राणो की वंशी का स्वर है धीमा,
सह लिया कि जितना मानो उर सह सकता था
आखिर दु:ख की भी होती है कोई सीमा
आकाश धरा में तुम्हें पुकारा विह्वल बन
तुम कब बोले!

1950

मैं रोता हूँ

मैं रोता हूँ, जग मेरे रोने को गाना बतलाता है

मेरे ऑसू को लखकर जग
कहता हे भाव-प्रचुरता है
मेरी कातर सिसकी सुनकर
कहता है कठ-मधुरता है

हा! दृग के रत्न बहे जाते
ऑसू बनकर मेरे दृग से

मैं खोता हूँ, जग मेरे खोने को पाना बतलाता है

शब्दों का जाल बनाकर मैं
निज उर को खुश कर लेता हूँ
आवाज़ विमर्दित मानस की
इस कविता में भर देता हूँ

मैंने खाया है व्रण जग से
फिर क्यों ना निर्मम कहूँ उसे

मैं कहता हूँ, जग मेरे कहने को ताना बतलाता है

1950

नया साल आए

नया साल आए, नया दर्द आए।
मैं डरता नहीं हूँ, हवा सर्द आए,

रहे हड्डियों में ज़रा भी जो ताकत।
रहे पथ सलामत, रहे पथ सलामत।
बड़ी गर्द आए, पड़ी गर्द आए।।
मुझे यह पता है, कि हर प्यार है गम

इसी से नहीं दुःख या है तो बहुत कम

हरेक दर्द गाना, हरेक दर्द प्यार
हरेक विघ्न-मक्खी शहद की भनक
सलामत रहे पंथ भी, दर्द भी
जहाँ चार बर्तन हैं होगी खनक!

नया साल आए, अँधेरा बढ़े,
दर्द तेरा बढ़े, दर्द मेरा बढ़े
उम्र घटती रहे यूँ ही इस दर्द की
रास्तों पर अँधेरा, सवेरा बढ़े।

हाँ, नया साल आए उजाला मिले।
भूला-भटका हुआ साथ वाला मिले

उम्र की ट्रेन में ज़िंदगी का सफर
कट सके मौज से वह रिसाला मिले...।

संभावित रचनाकाल : 1950-51

तीसरा महायुद्ध

एक दिवस सॉझ की बेला में, जब घर में हाहाकार हुआ
मैने झटपट चप्पल पहिने, घर चलने को तैयार हुआ

घर में देखा था भीड़ बड़ी, घर क्या था छोटा पनघट था
अंडे बच्चे कच्चे बूढ़े, सबका ही खासा जमघट था

पर मैंने भी धीरे-धीरे उस भीड़-भाड़ को टरकाया
फिर बडे मधुर स्वर में मेने माता जी को यों समझाया

कल ब्याह रचाकर लाया हूँ क्या कहती हो वेचारी को
गर खाज उठी हो हाथों में तो दाबो इस बीमारी को

आते ही गाली दी कुछ भी दी अच्छी-अच्छी सीख नहीं
माता जी सुन लो कहता हूँ यों लड़ना-भिड़ना ठीक नहीं

इनको गाली-गलोच देना, कुछ ठीक नहीं है खामी हे
ये नहीं आपकी ही केवल, हम सबकी भी बदनामी है

ऐसा भविष्य में मत करना मैं पॉव आपके पड़ता हूँ
ये लड़ना-भिड़ना ठीक नही रिक्वेस्ट आपसे करता हूँ

सुन रही लेक्चर थीं मेरा माता जी हक्की-बक्की-सी
वाइफ भी मुझको देख रही थी होकर कुछ भौचक्की-सी

माता जी बोली क्या बकता क्यों मेढक-सा टर्राता है
दो-चार चपत खाने मेरे, क्या तेरा सिर खुजलाता है।

मैं बोला ये कुछ बात नही क्यों तुम बोली कड़वी बोली
क्यों माता जी वाइफ के प्रति तुमने दागी गाली-गोली

ये सुनकर अम्मा चौंक पड़ी बोली क्या मति बेकाम हुई
इसको बिच्छू ने काटा है या मेरी नींद हराम हुई

ना हुई बात में यों मुझ पर झूठे इलज़ाम लगाएगा
तब हुई बात में हरि जाने तू क्या-क्या रंग खिलाएगा

क्या ठीक यही सुनने तुझसे मैंने तुझको पोसा-पाला
तुम दोनों से अब ना बोलूँगी मुँह पर रख लूँगी मैं ताला

वह क्या रखती ताला तो सच, मेरी ज़बान पर पड़ ही गया
दस हाथ सहन की सीमेंटेड धरती में जैसे गड़ ही गया

अम्मा ने बोलना छोड़ दिया, शर्मीली वाइफ रूठ गई
खुशियों की सुंदर-सी माला अपने ही हाथों टूट गई।

संभावित रचनाकाल : 1950-51

संसार नहीं मिलता है

हैं बदल न पाए अब तक धरती-अंबर
है वही हिमालय वही वायु वह सागर
मानव की ज़िंदगी बहुत सस्ती है
जो आता है हर बार यहाँ मर-मरकर

अमृत पीकर आता विष पीकर जाता
पीड़ाएँ अपने प्राणों पर सहता है
कोई न दिखाने वाला हमदर्दी भी
यह निष्ठुरतम संसार यहीं रहता है

मैंने अपने उर में खलबली मचाकर
मैंने अपने प्राणों का होम रचाकर
यह जान लिया जो पथ के अथ से इति तक
चल सके साथ संसार नहीं मिलता है

30.12.50

मैंने धरती पर भी स्वर्ग बसाना चाहा

मैंने आदर्शों का साथ निभाना चाहा
मैंने सपनों को जीवन में लाना चाहा
भूल गया इनकी गुरुता में अपनी लघुता
मैंने धरती पर भी स्वर्ग बसाना चाहा

कभी न सोचा संभव और असंभव पल भर
करता रहा सदैव परिश्रम घोर निरंतर
किंतु कल्पना का दुश्मन बन कहा किसी ने
इतनी लंबी चाह और इतना छोटा कर

अकथनीय शैथिल्य छा गया तुरंत पगों में
और हो गई सहसा चरणों की गति निस्वन।

इलाहाबाद के 'परदेसी' काल की रचना/1950-51

किसी दिन

किसी दिन विश्व में भगवान का अवतार जीवित था

मरुस्थल में यहाँ के एक दिन
मँझधार बहती थी
हमारे साथ उसके प्यार की
पतवार रहती थी
न साहस था किसी को
आँख भरकर देख लेने का
अहिंसा के अनोखे म्यान में
तलवार रहती थी

किसी दिन शुष्क भू पर स्वर्ग बन साकार जीवित था
किसी दिन यह महामानव भरा संसार जीवित था

कभी रोते हुए आकाश के
तारे चमकते थे

कभी मानव सजल-उन्माद के
मारे चमकते थे
कभी कोकिल न पागल हो
विरह के गीत गाती थी
बुझे जो दीप हैं पथ में
कभी सारे चमकते थे

किसी दिन यह मृतक मानव संसार जीवित था।

1950

यह तूफान न बंदी होगा

चाहे कितना कसकर बाँधों यह तूफान न बंदी होगा

उठा आ रहा दूर एशिया की घाटी से विप्लव का स्वर
सोने-चाँदी की दीवारें हो जाएँगी खँडहर-खँडहर
करते हो उपहास हमारा तुम किस बूते पर किस बल पर
चमकीले सिक्कों के बंधन में ईमान न बंदी होगा

अब हमने उन आदर्शों का कच्चा धागा तोड़ दिया है
अब अपने जीव : को हमने और दिशा में मोड़ दिया है
यह सच है पत्थर के आगे शीश झुकाना छोड़ दिया है
तम के बल पर आने वाला स्वर्ण विहान न बंदी होगा

ओ नादानो और कुछ दिनों तुम अपनी मनमानी कर लो
ज्यों बुझने से पहले दीपक जलता है त्यों और उभर लो
चाहे तैंतिस कोटि देवता भोग लगाकर वश में कर लो
पर धरती पर चलता फिरता यह इंसान न बंदी होगा

हम समानता का जीवन मे नक्शा एक लिए बैठे हैं
नशा न जिसका कभी उतरता ऐसा जाम पिए बैठे हैं
दूर बहुत मंज़िल पाने का निश्चय, किंतु किए बैठे हैं
धरती औ' आकाश बँधे पर लाल निशान न बंदी होगा

1950

पूँजीपतियों की चपतों से

पूँजीपतियों की चपतों से
सकल विश्व तड़फड़ा रहा है
पिंजड़ों में बंदी जो युग का
मानव पर फड़फड़ा रहा है

बापू के कल्पित सपनों का
चरण आज लड़खड़ा रहा है
ध्येय बना लो आज उसे हम
मुक्त करेंगे खून चढ़ाकर
पिंजड़े में बंदी जो युग का
मानव पर फड़फड़ा रहा है

बापू के पदचिह्नों पर ही
चलने का जो दम भरते हैं
आज उन्हीं का चरण, पंथ के
पग-पग पर लड़खड़ा रहा है

1950

मेरे ही गीतों में

मेरा स्वर्ग-नरक मेरे ही गीतों में बसता है

मेरे भी जीवन में प्रिय उत्थान-पतन हैं आए
मैंने भी अमृत और विष के कड़ुए घूँट चढ़ाए
मुझे समय ने आँख दिखाई साहस ने दुलराया
मेरे भी सपने सच बनकर खिले और मुरझाए

मैंने अपना सारा सुख-दुःख गूँथ दिया गीतों में
मेरा जीवन इन गीतों में रोता और हँसता है।

अधूरी/1950

मैं विरही का वह स्वप्न

मेरे समीप आ-आकर यम भी कई बार शरमाया
मैं उपवन का वह फूल किसी की पड़ी न जिस पर छाया
मैं इन शूलों के बीच डाल पर बिना खिले मुरझाया

मैं सागर की वह लहर न जिसको कभी चाँद ने चूमा,
मैं वनपथ वह अज्ञात न जिस पर कोई राही घूमा,
मैं उस सितार का तार न जिस पर उँगली पड़ी तुम्हारी
मैं धरती की वह प्यास नहीं जो पानी की अधिकारी

मैं उस कवि का वह गीत न जिसको कभी किसी ने गाया।
मैं विरही का वह स्वप्न कभी जो सत्य नहीं हो पाया।

मैं उस राही का चरण निकट जा मंज़िल के जो हारा
मैं ऐसा गीला गीत न जैमा स्वर फूटा दोबारा
में वह जलता अंगार कि जिस पर गुज़र चुका चौमासा,
मैं सागर का वह कूल रहा जो पानी में भी प्यासा
मैं नभ का वह नक्षत्र सदा जो अंधकार को भाया
जो किसी ज्योतिषी की आँखों का लक्ष्य नहीं हो पाया

अधूरी/1950-51

निराला

निराला तुम निराले हो
क्रांति के प्याले हो
दृढ़ हो अविचल हो
अंबर का अंचल हो
अविरल सतत तुम
साधना में रत तुम
हिले नहीं फिरे नहीं
डरे नहीं गिरे नहीं
पंथ के खोबों से
दुबे और चौबों से

बढ़ते गए आठ प्रहर
चढ़ते गए गिरि गह्वर
पार किया ज़लज़लों को
प्यार किया मुश्किलों को
जले बिना आह के
चले बिना राह के
लक्ष्य पर पहुँच गए
पंथ कर नए-नए
जिधर चरण बढ़े उधर
नए नगर नई डगर
सदा बसे सदा बने
बिना तनिक कहे-सुने

बसा सके नई धरा
कि तोड़कर परंपरा
नए विचार रीति से
नए दुलार प्रीति से
कठोर हो दुलारकर
पुकारकर सुधारकर
बना लिया नया गगन
नई लगन नए नयन
नवीन दृष्टिकोण से
जहान देखते रहे

न दुःख तुझे रुला सका
न सुख तुम्हें सुला सका
कि हार-हारकर थके
तुम्हें न पर समझ सके
सदय करुण इंसान हो
खुद आप में भगवान हो

नववधू हिंदी की
माँग की लाली हो
आशा की ताली हो
सपनों के संबल हो
यौवन की हलचल हो

भाषा की नाज़ हो
हिंदी के प्राण हो।

1950-51

दुःख में आओगे जाने वाले!

इस द्वार बिछाए हैं तुमने दृग के मोती
वरना क्या मिट्टी इतनी चमकीली होती
उस जगह तनिक नीचान धरा में आए हैं
शायद तुमने रुक-रुककर कदम बढ़ाए हैं
है धूलि बताती पथ नख से नोचा होगा
कुछ ठिठक-ठिठककर मेरा दुःख सोचा होगा
कहता है यह मद्धिम झोंका मलयानिल का
तुमने मुस्काकर दर्द छिपाया है दिल का
विश्वास मुझे है मुझको भूल न पाओगे
मेरे सुख में जाते हो दुःख में आओगे।
जाने वाले!

1950

ओ पत्थर के भगवान

ओ पत्थर के भगवान ज़िंदगी दो दिन की

जिन फूलों से होता तेरा शृंगार सृजन
वह हैं तेरी ही चिता बनाने के साधन
जो हो दिल में अब ले निकाल अरमान...
ज़िंदगी दो दिन की

ये दीपक जो आरती सजाने वाले हैं
ये तुझे जलाकर राख बनाने वाले हैं

मत कर इन पर अभिमान अरे नादान···
ज़िंदगी दो दिन की

तेरे ऊपर चंदन अक्षत नैवेद्य धूप
बज रहे शंख-घड़ियाल और घंटी अनूप
ले जाने को तेरा ही शव श्मशान···
ज़िंदगी दो दिन की

ये गीत नित्य जो तुझे सुनाए जाते हैं
मरसिए मृत्यु पर तेरी गाए जाते हैं
पूरा तेरे दफनाने का सामान···
ज़िंदगी दो दिन की

अब तक दुनिया के मस्तक पर पग तेरे थे
तेरे इंगित पर झुकते साँझ-सबेरे थे
अब मरु में तेरे जीवन का जलयान···
ज़िंदगी दो दिन की

1950

कब कहता हूँ

जो झुक जाए उसे जवानी कब कहता हूँ
जो रुक जाए उसे रवानी कब कहता हूँ
एक झकोरे में झंझा के जो हिल जाए
जो मिट जाए उसे निशानी कब कहता हूँ

मेरा दिल यह कहता पर मैं कुछ करता हूँ
मिट जाए न इतिहास ज़िंदगी का डरता हूँ
श्वास-संधि पर रुका हुआ है प्यार किसी का
व्यर्थ अमरता का मैं जिसकी दम भरता हूँ

विकट परिस्थितियों के बादल घेरे रहते
यहाँ प्रगति के पथ पर हैं पग-पग पर बंधन
क्षणिक स्नेह-आह्वान मुझे विचलित कर जाता
दुर्बल होकर कर देता हूँ आत्म-समर्पण।

मेरे सब अरमानों से लिपटी मजबूरी
होने देती मन की कोई साध न पूरी
जग के पथ पर पैर उठाना ही पड़ता है
मिलती क्या मंज़िल उल्टी बढ़ जाती दूरी

आशाओं को समुचित यहाँ विकास न मिलता
अरमानों को कभी यहाँ विश्वास न मिलता
कभी न सपने यहाँ श्वास जीवन की पाते
यहाँ कभी भी जीवन को उल्लास न मिलता

मुझको छूकर कभी न चलता मेरा जीवन

इलाहाबाद/1950

ओ अमर गायक करो स्वीकार अभिनंदन

कर दिया सीमित कला में विश्व का विस्तार
तुम मनुज के रूप में थे 'देव' के अवतार
पाँच छंदों में गए दे वह अमिट विश्वास
बुझ गई पीकर जिसे सारे जगत की प्यास
जड़ जगत को दे गए थे तुम नया जीवन

मातृभाषा की हुई सेवा सतत स्वीकार
ज़िंदगी में व्याप्त शापों से न मानी हार
धो दिया काजल बनाया माँग का सिंदूर
कर दिए हर पंथ के पाषाण चकनाचूर
विश्व के अज्ञान तम में ज्योति थे पावन

इस धरा पर तुम अमा में चाँद बन उतरे
भक्ति का सौभाग्य पहिने ज्ञान के गजरे
क्या हुआ यदि स्वर्ग मे तुम हो नहीं जग में
ध्वनि तुम्हारी तो ध्वनित है आज तक मग में
गूँजते हैं आज भी जग में वही स्वन।

ओ अमर गायक करो स्वीकार अभिनंदन।

गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रति/1950-51

मेरा यह जीवन मत बाँधो

अपनी ममता के बंधन में
मेरा यह जीवन मत बाँधो!

कब सुख के चुंबन ले पाई धरती की कुम्हलाई काया,
गया चाँद जब प्यास बुझाकर सूरज प्यास जगाने आया,
बरसो मत नयनों के संग-संग मत अधरों के संग मुस्काओ,
मत अपने आँचल में मेरे यौवन के अंगार उठाओ,

मेरे जीवन क्रम से अपने,
तुम उत्थान-पतन मत बाँधो!

पाला मुझको जिस दुनिया ने दूर न उससे रह सकता हूँ
जाने किस क्षण के दुःख पर बादल बनकर बह सकता हूँ,
मेरे युग की कातर आँखें इन आँखों से भी सुंदर हैं,

तुम अपने सिर पर धोखे में
अपने हाथ कफन मत बाँधो!

1950-51

यहाँ बटोही आते भी हैं, जाते भी हैं

यह तो पथ है, यहाँ बटोही आते भी हैं, जाते भी हैं

आकर चले गए जो पथ में प्रिय उनकी परवाह करो मत
जग-जीवन में सब सपनों के सच होने की चाह करो मत
देखो समझाती है हरदम जग-जीवन की असफलताएँ
ओ धरती के रहने वालो ऊँची अपनी बाँह करो मत

मधुबन में खिलती हैं कितनी कलियाँ सौ शृंगार सजाए
अंबर में हँसते हैं कैसे नीर भरे शुचि घन कजराए
पूर्ण न होती किंतु सदा ही चातक और भ्रमर की साधें
मिलते अगर भ्रमर को काँटे, चातक को मिलते अंगारे

यह तो पथ है, यहाँ बटोही आते भी हैं, जाते भी हैं

मन का दर्द न खोलो अपने मन-मन में विश्वास पलेगा
जिधर चलोगे तुम कि तुम्हारे हरदम कोई साथ चलेगा
करने प्यार निराश न होना तुम अपनी ही दुर्बलता पर
जब तक कुछ विश्वास रहेगा तब तक तन का दीप जलेगा।

अधूरी/1951

मेरे गीतों में कोई

मेरे गीतों मे कोई छिप-छिप गाता
मेरी मुस्कानों में कोई मुसकाता
कोई हो जाता दूर पास आ-आकर
मैं अनजाने में जब-जब हाथ बढ़ाता

कोई मेरी आशा का उद्गम होकर
मेरे मन का विश्वास छला करता है।

मेरी आँखों में किसके आँसू रोते
मेरी पलकों पर किसके सपने सोते
अपने प्राणों की पीड़ा के बंधन में
मेरे प्राणों को किसके प्राण पिरोते

किसकी जीवन-निशि का तम-तोम हटाने
मेरी साँसों का दीप जला करता है।

किसने बंधन में बाँध दिया जीवन को
मैं जग का होकर रह न सका पल छिन को
मेरा अपना क्या है सर्वस्व किसी का
जादू कर कोई छोड़ गया तन-मन को

मैं चलता हूँ किसकी राहो पर निशिदिन
मेरी राहों पर कौन चला करता है।

1951

तुम्हें हर बोल में मैंने पुकारा

चूमने को आ गया आकाश धरती का किनारा
तुम नहीं आए तुम्हें हर बोल में मैंने पुकारा

छोड़ने को साथ तन का साँस-साँस मचल रही है
प्यास की चिनगारियों में प्रीति पागल जल रही है
मैं निराश्रित पंथ पर पगचिह्न भी खोजे न मिलते
छिप रहा है बादलों की ओट में जीवन-सितारा

प्यार के संसार पर गहरा धुँधलका छा रहा है
धूप के छल से उमीदों का कमल मुरझा रहा है
प्यास मेरी सोख क्यों पाता नहीं सागर तुम्हारा
तुम नहीं आए तुम्हें हर बोल में मैंने पुकारा

किंतु मेरी साधना ने हारना सीखा नहीं है
इसलिए नैराश्य का पथ आज तक दीखा नहीं है
साज़ मेरी ज़िंदगी का आज भी फीका नहीं है
पंथ पर मैंने किसी से भी न माँगा है सहारा
तुम नहीं आए तुम्हें हर बोल में मैंने पुकारा

1951

पत्नी के प्रति

1

धन्य हो गया तुमको पाकर जीवन मेरा
संजीवन की बूँदें पाईं जीवन और मरण ने
मंज़िल की परछाईं हारे-थके चरण ने
मनवांछित पाए स्वप्नांकन नयन-नयन ने
क्षुब्ध प्राण पंछी ने पाया रैनबसेरा

दृग उत्पल रूपी सतरंगे कजरारे बादल
अधरों में मधु की गहराई, सागर का जल

वर्ण कि जैसे राका की रश्मियाँ समुज्ज्वल
संसृति व्यापी रूप तुम्हारा तन का घेरा

बोलो किन तत्त्वों से निर्मित प्राण तुम्हारा
बोलो किन तत्त्वों से निर्मित स्नेह सितारा
जो पग-पग पर प्रेयसि मुझको दिया सहारा
ज्योतिर्मय कर दिया पंथ पर घिरा अँधेरा।

परदेसी/1951

पत्नी के प्रति

2

तुम जीवन के पथ पर आई
बनकर मेरी ही परछाई
मेरी साँसों के तारों में
भरती रहती हो गति औ' लय।

मुझको पग-पग पर फूल मिले
मुझको पग-पग पर शूल मिले
तूने फूलों की गंध न ली
अपनाया शूलों का विस्मय।

सपनों की झिलमिल चादर पर
मेरी पलकों पर आ-आकर
छाया-सी नित किस्सों-सी सित
प्रतिपल करती रहती अभिनय।

तुम मेरी लौ में जलती हो
तुम मेरे संग-संग चलती हो
दोहराती मेरे गीतों को
होकर इस जगती में निर्भय।

1951

अभी तो आधा पंथ चले

पथ की बाधाओं के आगे घुटने टेक दिए
अभी तो आधा पंथ चले!

तुम्हें नाव से कहीं अधिक था बाँहों पर विश्वास,
क्यों जल के बुलबुले देखकर गति हो गई उदास,
ज्वार मिलेंगे बड़े भयंकर कुछ आगे चलकर
अभी तो सटके तले-तले!

सीमाओं से बाँध नहीं पाता कोई मन को,
सभी दिशाओं में मुड़ना पड़ता है जीवन को,
हो सकता है रेखाओं पर चलना तुम्हें पड़े
अभी तो गलियों से निकले!

शीश पटकने से कम दुःख का भार नहीं होगा,
आँसू से पीड़ा का उपसंहार नहीं होगा,
संभव है यौवन ही पानी बनकर बह जाए
अभी तो नयन-नयन पिघले!

'सन्मार्ग', 1951 में प्रकाशित

ओ मेरे आराध्य

ओ मेरे आराध्य कहाँ तक माफ करोगे
तुम मेरी भूलों को मेरा बचपन कहकर

मृदुल प्रसूनों का वह मृदुमय हास छोड़कर
तुमने मेरे लिए सिसकियों को अपनाया
मेरे ही कारण तुम जग से दूर, तुम्हारे
मुख पर मँडला रही उदासी की यह छाया

तुमने खुद गिर-गिरकर मुझको दिया सहारा
औ' अपने आँचल से मेरा पंथ बुहारा

मैंने तुमको दिए अंगारे जलते-जलते
पर तुमने दी प्रीत हृदय पर सब कुछ सहकर

वह पूजा का हार तुम्हारा मैंने सहसा
खेल-खेल में ही टुकड़े-टुकड़े कर डाला
स्वीकृत होती नहीं सभी की पूजा, तुमने
यही सोचकर अपने मन में धैर्य सँभाला

अपने हाथों तुमने अपना नाश कर लिया
मुझ पर अपने से ज़्यादा विश्वास कर लिया

मैंने अपनी मुस्कानों के दीप जलाए
प्राण तुम्हारी आहों की छाया में रहकर

1951

धरा की जलन

घन घिरे गगन में, मिटी धरा की जलन थकन की आहें
रिमझिम के स्वर में डूब गई चातक की करुण आहें
पर मेरी ऐसी प्यास न पीकर सागर का जल सूखी
मेरे अंतर में रही सुलगती मरु की भीषण ज्वाला

जलकर मिट्टी का दीप लगा जब अंधकार को पीने
निर्वाण शलभ के दल ने पाया पलकर हँसी-खुशी में
यह देख हृदय में हुलस-हुलस मैं रात-रात-भर जागा
पर मिटा सका कब दीप हृदय का दुर्निवारतम काला

अंबर ने माँगे चाँद-सितारे सूरज मन बहलाने
धरती ने माँगा अंबर का अवलंब माँग भर जाने
जीने को जीवन लिया मनुज ने, पीने मधु का घट
पर मेरी निस्पृहता ने मुझको विष पी-पीकर पाला

जब-जब दुःख लेकर काल निमंत्रण सबके घर पर आया
तब सबने उसको रोकर या खुश होकर गले लगाया

हैं क्योंकि सभी मजबूर यहाँ पर चलती नहीं किसी की
पर मैंने उसको अपने हाथों अस्वीकृत कर डाला

मैं बड़ा अभागा जग ने मेरा रोकर भार सँभाला

'सन्मार्ग' में प्रकाशित/1951

अधिकार नहीं मिलता है

जीने को तो जीते ही हैं हम लेकिन
जीने का वह अधिकार नहीं मिलता है
दो क्षण आते-जाते पथ पर मिल लेते
है प्यार यही दुनिया में जो कहलाता

मैंने जीवन में क्षणिक जवानी पाकर
तीखे अनुभव-सी तिक्त निशानी पाकर
यह जान लिया जो पथ में अथ से इति तक
चल सके साथ वह प्यार नहीं मिलता है

जीवन के अंतिम दिवसों की छाया-सी
है बढ़ती जाती पल-पल घोर उदासी,
ऐसा लगता है जैसे खुद मुझसे ही
हो गए विदा हों मेरे प्राण प्रवासी

मैं हूँ जीवित या ये भी कोरा भ्रम है
कोई न बताता सभी मौन रहते हैं
मैं समझ गया इस दुनिया में मानव की
जो होती ज़िंदा मौत, इसे कहते हैं

जलते अंगारों की सेजों पर सोकर
अपने पथ में पग-पग पर खाकर ठोकर
यह जान लिया जो पथ के अथ से इति तक
चल सके साथ आधार नहीं मिलता है

1951

जाने कैसे कातर स्वर में

जाने कैसे कातर स्वर में मुझे बुलाते हो तुम
मेरा विश्वास बिखरकर रह जाता है।

नयन फैल जाते, सतर्क बाँहें उठ जातीं
अधर फरकने लगते चरणों में गति आती
खो देती चेतना, मान पानी हो जाता
जाने कैसे कातर स्वर में मुझे बुलाते हो तुम
मेरा विश्वास बिखरकर रह जाता है।

मुस्काते हो मुझे देखकर तुम आए सुख पर
किंतु उदासी वही दौड़ जाती फिर मुख पर,
विदा कल्पना में मेरी छाती पर सिर धर
जाने कैसे बीते दिवसों की बात सुनाते हो तुम
मेरे धीरज का पर्वत ढह जाता है

मुझे रात भर नींद नही लेने देते हो
नहीं कल्पना का आँचल छूने देते हो
स्वयं जागकर सुधि के उन कड़ुए भावों को
जाने कैसे कड़ुए दर्दीले गाने गाते हो तुम
मेरा मख स्वप्न तडपकर रह जाता है।

संभावित रचनाकाल : 195.

सुधियों की समाधि पर

अब भी सुधियों की समाधि पर एक दिया जगमगा रहा है

आधी रात गई जीवन की
डूब गए आँखों के तारे,
राख जम गई, बुझने को हैं
यौवन के उज्ज्वल अंगारे

नींद नापती पंथ-गगन का फिर भी मोह न छूटा मन का

चलते हैं अरमान हृदय के
पथ पर स्वर्णिम स्वप्न सँवारे

क्योंकि एक विश्वास अधमरा अंतर में छटपटा रहा है।

मूक हो रही वाणी, भाषा
रूठ रही, भावांतर झूठा,
मुझ पर आँख तरेरी विधि ने
मेरा भाग्य सितारा टूटा

निश्चय मेरा-सा निश्चय हो, जय मेरे साहस की जय हो

चीख रहा है अंतर फिर भी
गाने का अभ्यास न छूटा

क्योंकि हृदय के संग-संग कोई गीत और गुनगुना रहा है।

बढ़ता जाता अदृश मृत्यु के
भय का कंपन मन-सरवर में,
गति है मौन शिथिलता चंचल
ऐंठन आती-जाती स्वर में,

उबल रहे मतवाले बादल, दुःख के
काले - काले बादल
किंतु अभी आशा का पंछी
अभी विरत उड़ रहा डगर में

क्योंकि प्रीति का शुचि ध्रुव तारा उसे रास्ता दिखा रहा है

1951

मत उदास हो

मत उदास हो! मत उदास हो!
अगर आँधियों का रुख सहसा इधर बदल आना संभव है
अगर तुम्हारे अरमानों के फूल कुचल जाना संभव है।
तो यह भी है नहीं असंभव फूले-फले तुम्हारा उपवन

चरण चूमने आए मलयज धूल उठाने आए सावन
हो सकता है लक्ष्य तुम्हारा इन काँटों के आसपास हो
मत उदास हो!

मत नद-नालों से घबराओ, तुम्हें पार करने हैं सागर
होकर आहत कभी कँटीली डालों से भी चलो न बचकर
बढ़ते रहो सदैव चरण धर अपराजेय निरंतर पथ पर
अपने साहस का संबल ले विश्वासों का हाथ पकड़कर
जब तक बने विहँसकर पथ के तूफ़ानों को गले लगाओ
पाँव अगर रुक गए प्रीति के सपनों का सिर झुक जाएगा
किसे पता है इसी दिवस की राह देखती मत उदास हो!

1951

अभिसार मुझे करना होगा!

ओ सखी निराशा, अब तुमसे
अभिसार मुझे करना होगा!
प्राणों की तंत्री में तेरा
ी राग मुझे भरना होगा!

जीवन की बाज़ी में मुझसे
सब कुछ पाया भी छूट गया
ममता का मधुमय बंधन भी
हाँ नादानी में टूट गया
अपनी नादानी के कारण,
यह डंड मुझे भरना होगा

अभिसार किया था एक दिवस,
नभ के इन चाँद-सितारों से
अभिसार किया था एक दिवस,
सर के नादान किनारों से
उनकी स्मृति का बोझा ले,
पग आगे ही धरना होगा

ओ सखी निराशा, अब तुमसे
अभिसार मुझे करना होगा

1951

आ गई बरसात देखो!

तुम न अब तक आ सके प्रिय
आ गई बरसात देखो!

एक युग से ताकता हूँ
राह में आँखें गड़ाए
और तुमको यों रुलाना
था, न आए थे न आए

उठ रहा है इस हृदय में
तीव्र झंझावात देखो!

दो बता प्रिय देर कितनी
कष्ट यह सहना पड़ेगा
और पावस की अँधेरी
रात में रहना पड़ेगा?

इस निराशा के तिमिर में
कौन देगा साथ देखो

नयन से बरसात जारी
आग-सी उर में लगी है
लोचनों में नींद मेरे
जाग-सी उर में जगी है

चिरविरह की ज्वाल में हा!
जल रहा है गात देखो!

जब तलक थे साथ मेरे
कट रहे थे स्वर्ग में क्षण

इस विरह से आज पल-पल
हो रहा चंचल हृदय तन

कब तलक सहता रहूँ
आघात पर आघात देखो!

1951

तुम्हारा ही रहूँगा

तुम्हारा हूँ तुम्हारा ही रहूँगा

एक दिन मैंने तुम्हारा प्यार पाया
मैं अकेला था, नया आधार पाया
बँध गया था कुछ अनोखे बंधनों में
प्राण तन-मन पर नया अधिकार पाया
मैं तुम्हें और तुम मुझे ही तट बनाकर
बह रहे थे विश्व-सागर में निरंतर

तुम मुझे मानो न मानो रुख बदल लो
मैं किनारा हूँ किनारा ही रहूँगा

एक दिन तुम पर बहुत भय छा गया था
शोक का तूफान भारी आ गया था
जगत वाले हो गए थे सब विरोधी
उस समय मैं भी तनिक घबरा गया था
अश्रु में भीगी गिरा से प्राण
जब कहा था प्राण मुझको दो सहारा

तब निकट कुछ खींच तुमसे ये कहा था
मैं सहारा हूँ सहारा ही रहूँगा

इस कविता को लिखते समय मूड ऐसा बना लेना है जो इसी में खो जाए, ऐसी एक्टिंग करना है कम्पलीट करते वक्त ताकि कोई गलती न हो जाए। 1951/कवि 'परदेसी' की टिप्पणी अपने ही लिए।

ज़िंदगी का कारवाँ

ज़िंदगी का कारवाँ है चल रहा चलता रहेगा
नींद मेरी तारकों के झुरमुटों में खो गई है
सिंधु सूखा देख मेरी प्यास पागल हो गई है
नाश के चंचल चरण पर रख दिया यदि शीश मैंने
तो न समझो तुम कि मेरी चेतना ही सो गई है
कर दिया मजबूरियों ने पस्त फिर भी यह न सोचो
आमरण ये आँसुओं का सिलसिला ढलता रहेगा

जानता हूँ सुख न छूटा एक संबल छूटने से
तार सपनों का न टूटा एक सपना टूटने से
आँधियाँ आईं सतत तूफान आए द्वार पर
स्नेह का सागर न सूखा आस का घट फूटने से
क्योंकि मेरी साधना में सत्य है अभिनय नहीं है
दीप मेरे प्यार का ये जल रहा जलता रहेगा

साँझ के पश्चात् नभ में खिल उठेंगे चाँद-तारे
आज आश्रयहीन हूँ तो कल मिलेंगे सौ सहारे
क्योंकि सबके विश्व में दिन एक-से रहते नहीं हैं
राख बनकर धूल में मिल जाएँगे अंगार सारे

विश्व है परिवर्तनों का नाम परिवर्तन नियम है
यह अटल बिश्वास मन में पल रहा पलता रहेगा

प्रयाग के दिनों की/1951

मैंने पथ के हर पत्थर को

मैंने पथ के हर पत्थर को पूजा है भगवान समझकर

मुझे अपरिचित बाधाओं ने
छला कि उल्टी राह बताई
मैंने अपनी धुन में पागल हो
हर पथ की धूल उड़ाई

भ्रम बोला, 'आवो पल-भर को
मेरी छाया में रुक जावो'

मैंने अपनाया जीवन भर शापों को वरदान समझकर

कूल कगारों की छाया के
नीचे बहना मुझे न भाया
जब भी ठानी मन में
धारा से जाकर टकराया

दुनिया बोली मुझसे, 'तूने पाँव बढ़ाया नादानी में'
बलखाती लहरों को मैंने प्यार किया जलयान समझकर

कभी निराशा और कभी मृदु
सपनों की बदली घिरती है
विजय-पराजय मेरे चरणों
के आगे-पीछे फिरती है

मैंने आदर किया सभी का घर आया मेहमान समझकर

1951

पागल प्यास

मैं किसी समय का बंदी नहीं गगन-सा
मेरा मन है आज़ाद विहग के मन-सा
मुझ-सा कोई क्या जन्मा इस धरती पर
मेरा जीवन जग में अपने जीवन-सा

जिस पथ पर जाने से दुनिया घबराती
उस पथ से होकर मेरी राहें आतीं
मैं ललचाता हूँ उसी जगह चलने को
जिस जगह पहुँचकर सबकी गति रुक जाती

मैंने जीता मेघों का नीर भरा दिल
मुझसे हारा सागर का ऊँचा साहिल
सावन ने बौछारों का जाल बिछाया
पर मेरी पागल प्यास नहीं रुक पाई

मैं किस पर करूँ भरोसा मुझको खुद पर
साहस से ज़्यादा साथी और न सुखकर
फिर तुमको ही लेकर यौवन के पथ में
क्यों करूँ आँसुओं से अपनी मंज़िल तर

तुम त्याग नहीं पातीं क्यों ममता-माया
क्यों मेरे पीछे-पीछे कदम बढ़ाया
क्यों संकेतों से मुझको दिशा बता दी
मैं तो हर पथ पर चलने का हूँ आदी

संकीर्ण घाटियों से होकर निकला हूँ
पर मेरी गर्दन तनिक न झुकने पाई
मैं किसी एक का बंधन नहीं बनूँगा
पहिले जग का फिर किसी और का हूँगा
तुम रूपवान क्षण-भर की यह तो बोलो
कब तक कुरूपता से नज़रें फेरूँगा

मन में परिवर्तन होते रहते अगणित
हो सकता है हो जाऊँ पथ से विचलित
फिर कैसे कह दूँ सीमित प्यार तुम्हीं तक
जब मेरा मन अपने में आप न सीमित

यों मेरा दिल निष्पक्ष और निश्छल है
मेरी कमज़ोरी में भी इतना बल है
जग देता रहा तृप्ति की ज्वाला मुझको
वासना सिंधु की बूँद न चुकने पाई।

1951

परिचित सीमाएँ

मेरी दुनिया की सीमाएँ कितनी परिचित

मैं रोज़ सुबह उठकर बीड़ी सुलगाता हूँ
मैं रोज़ सुबह उठकर पाखाने जाता हूँ
मुँह-हाथ साफ कर स्नान-ध्यान से फारिग हो
पुस्तक लेकर पढ़ने में चित्त लगाता हूँ

जब वी॰ डी॰ गोयल के बँगले से बजते दस
जब मेरे घर के आगे से मोटर औ' बस
रिक्शा, सायकिल, ताँगे वाले, ठेले वाले
चल देते • हैं, चल पड़ता हूँ मैं भी बरबस

चलता-चलता पढ़ता हूँ सबकी चालों को
इन जाने वालों को उन आने वालों को
वह क्लर्क और उसकी मजबूरी को पढ़ता
पढ़ता हूँ जग जीवन के जटिल सवालों को

इस समय इन्हीं लोगों का मिलता है जमघट
पथ पर इनके ही चरणों की · होती आहट
मैं सोचा करता हूँ चाँदी की चक्की में
पिसकर फिर पॉच बजे आ जाएँगे ये झट

इतने में आ जाता है यूनियन का कैफे
इतने में आ जाती है मेरी मंज़िल नित

होती है वो ही शाम-प्रात वह रोज़ाना
होते हैं वो ही दिवस-रात वह रोज़ाना
वह चॉद-सितारे-सूरज क्रम से आते हैं
होती हैं वो ही बात, बात वह रोज़ाना

होता है यदि परिवर्तन तो इतना केवल
आती ह नभ में धूप कभी छाते बादल
काली-गोरी रातें नंबर से आती हैं
गिरते हैं अंगारे तो गिरता भी है जल

जड़ जंगम गिरि पर्वत सबका है हाल वही
कोई भी अपनी हालत से संतुष्ट नहीं
मुस्कान उदासी में भीगी-भीगी जैसे
ढूँढ़े से मिल ही जाती है यों कहीं-कहीं

फिर रोज़ वही प्रोफेसर का नीरस लेक्चर
सुनना पड़ता है कानों में उँगली धरकर
ये कितने आदर्शों का ढोल बजाते हैं
जो खुद इनके जीवन से वो हैं कोसों पर

सब सड़कों गली मोहल्ले कूचे और मंदिर
सब जग देखा-भाला है इलाहाबाद का फिर-फिर
देखे-भाले 'लड़के-लड़की बूढ़े-बच्चे
प्रौढ़ा-मुग्धा, भारी-भरकम हल्के-अस्थिर

भूखे-नंगे, तगड़े-दुर्बल हँसते-गाते
मैंने देखा भिखमंगों को कर फैलाते
मैंने देखी मोटर की मौन उपेक्षा औ'
मैंने देखे हैं वे मन लौलुप मदमाते

क्या लिखूँ रोज़ की देखी-भाली बातों को
भर पेट मोटापे को औ' सूखी आँतों को
मैं अकसर सोचा करता हूँ अपने मन में
मेरी दिनचर्या हो भी तो आखिर क्या हो
कुछ मानव लगते हैं जीवन के जीवन से
कुछ लगते हैं जैसे मुर्दे ही हों जीवित

यह इलाहाबाद के विद्यार्थी-काल की जीवनीपरक कविता है, जिसमें रोज़मर्रा की दिनचर्या वर्णित है। यह कविता विवरणात्मकता भी लिए हुए है। इसमें रवानी खूब है। अधूरी/1951

कवि

तुम न बदले कवि अभी तक
युग बदलता जा रहा है।

दिन गए ऋतुएँ गईं वे
विश्व में मधुमास आया
लोचनों के अश्रु रीते
पास फिर उल्लास आया

शोक का हिमगिरि हृदय
पर से पिघलता जा रहा है

वेदना उर में
गान गीले गा रहे हो
तुम नयन के बादलों से
अश्रु कण बरसा रहे हो

क्यों निराशा में तुम्हारा
प्यार पलता जा रहा है
तुम न बदले कवि अभी तक
युग बदलता जा रहा है।

1951

असफलता के तूफान

मेरी नई-नई दुनिया पर अभी न बिगड़ो नभ के तारो
अभी न मुझ पर आँख तरेरो ओ बरबादी की बौछारो
अभी अचंचल जल परियों-सी कोमल मेरी प्रणय कहानी
अभी न सपनों की आदी हो पाई ये पलकें अभिमानी
अभी मिलन के इतिहासों का पहिला पृष्ठ न लिख पाया हूँ
नहीं कराओ अभी सत्य का बोध मुझे मेरी नादानी
अभी विरह का पाठ पढ़ाकर मत यौवन की भूल सुधारो
ओ असफलताओं के तूफानो मुझको बिना मौत मत मारो
यह सौरभ संभार सुमन में बारंबार नहीं आता है
पागलपन का ज्वार नयन में बारंबार नहीं आता है
अर्द्धोन्मीलित सुमन स्नेह से मुझको सौ-सौ बार पुकारो
ओ नभ के देवता करुण हो दया दृष्टि से दशा निहारो
अभी न आँसू के दीपों से यौवन की आरती उतारो
बूंदें बन-बनकर दुनिया की धूल उठाना सीख रहा हूँ
जान-बूझकर मैं इस पथ पर पाँव बढ़ाना सीख रहा हूँ
अपने घर में अपने हाथों आग लगाना सीख रहा हूँ

अधूरी/1951

कभी किसी दिन तुम बन जाओगे मेरे

कभी किसी दिन तुम बन जाओगे मेरे, विश्वास है

माना मेरे सब सपनों को चाँद जलाता आ रहा
मलयानिल सूने यौवन पर विष बरसाता आ रहा
उन सुधियों की लपटें मेरा तन रह-रह झुलसा रहीं
सर्वनाश की झंझाएँ मेरे तन पर मँडला रहीं
पर मुझको तो मर-मरकर भी जीने का अभ्यास है
पिया अमृत है किंतु गरल भी पीने का अभ्यास है

कभी न घबराता मेरा मन दुःख की काली रात से
आशाओं का चित्र न धुलता नयनों की बरसात से
सुख अनुभव करने मानव को दुःख की भी दरकार है
मेरे घर में एक भाव से दोनों का सत्कार है
मुझको प्यारे सुख-दुःख दोनों सबसे प्यारी प्यास है
चाँद चाँदनी दोनों से ही प्यारा वह आकाश है

माना जग में नाश बहुत है लेकिन है निर्माण भी
करते हैं जो अहित किसी का करते हैं कल्याण भी
अमा उगलता जो नभ, जग में आतप का अंगार बन
स्वयं उतर आता धरती पर बूँदों की बौछार बन
आता यदि पतझार यहाँ पर आता ही मधुमास है
कल पूनम आएगी निश्चय यदि अब तिमिर-निवास है

मधुर मिलन का पर्व न आए नियति-नियम विपरीत हो
असंदिग्ध पर विजय हमारी चाहे उल्टी रीति हो
पीड़ा का सीमा से आगे बढ़ना ही उपचार है
इस अनुकूल दशा में मुझको जीत सदृश ही हार है
इसीलिए तो मेरी आहों में गीतों का वास है
इसीलिए बुझते दीपक में जलने का उल्लास है।

कभी किसी दिन तुम बन जाओगे मेरे, विश्वास है।

1951

ओ मेरे मन मत उदास हो

तुझे कसम है ओ मेरे मन मत उदास हो

तेरे विश्वासों का दीप न झपने पाए
चाहे मारुत लाल-लाल आँखें दिखलाए
हो सकता है नई पीढ़ियों का कच्चापन
तेरी जैसी दुर्बलताओं से भर जाए
आएगा मधुमास अगर आया है पतझर
असफलताओं के आने से तू मत निराश हो

तू महान है नामुमकिन तेरी समानता
रात्रि-दिवस का भेद-भाव किंचित् न मानता
तेरी दुर्बलता भी कितनी सबल, सोच ले
यही कि तू अपनी महानता को न जानता
तेरा जीवन जग में अपना-सा जीवन हो
तेरा हर डग संस्कृति का अभिनव विकास हो

चलो वहाँ से जहाँ पंथ की इति होती है
वहाँ रहो जागते जहाँ दुनिया सोती है
गले लगाओ शूलों को भी फूलों को भी
हर बाज़ी में हार नहीं अपनी होती है
छूकर देखो दहक रहे इन अंगारों को
हो सकता है लक्ष्य इन्हीं के आसपास हो।

1951

जब-जब फूलों से शृंगार किया

काँटे बन-बन चुभे कि जब-जब फूलों से शृंगार किया

मैंने चाहा था जीवन में आदर्शों का साथ निभाना
मैंने चाहा था मिट्टी को स्वर्ण, स्वप्न को सत्य बनाना
पर ये चाहें हुई न पूरी
राहें बनी अनंत कि जिन पर चलना अंगीकार किया

कैसे कह दूँ दोष किसी का, दुर्बलता को निज अंतर की
मैंने ही खुद पाँव बढ़ाए लेने थाह प्रीति-सागर की
मेरी किस्मत की मजबूरी
मुझ पर आँख तरेरी सबने जब-जब मैंने प्यार दिया

है मुझको विश्वास तनिक भी नहीं प्रार्थना और विनय में
क्योंकि नहीं होती है सबकी पूजा स्वीकृत देवालय में
मेरी तृष्णा रही अधूरी
बरसे अंगारे मैंने जब-जब मेघों का आधार लिया।

1951

अपने दोस्तों से

इस जूते को सिर पर रखकर
इस घूँसे को अधरों से चिपका लो
इस गाली को प्यार समझकर
इन लड़ने वालों को गले लगा लो
और नीचता की बाँहों को
हार मान फूलों का हिय उकसा लो
और बैठकर मुझ जैसे शांति बघारो
शांति चाहने वालो!

शांति शांति है
यदि तुम नीचे होकर
नीचा देखो कभी न बोलो
शांति शांति है यदि विरोध में तुम जुल्मों के
कभी भूल से भी न कहीं मुँह खोलो
सबसे सीधा-सादा यही तरीका
मैंने पेश किया जो मुझको दीखा
लेकिन सोच रहा हूँ ऐसे दाल गलेगी कब तक
भीख सरीखी ये माँगे की शांति चलेगी कब तक

1951

साँस के तार

कौन छू गया साँस के तार
कि जीवन की वीणा स्वरहीन हो गई।

किसके अधरों ने मेरे अधरों पर ताला डाल
साँसों को मुँह के भीतर ही घुटने को मजबूर किया
किसने मुझको मेरे तन की सुधि-बुधि से भी दूर किया
किसकी रूप सुरा ने मुझको बना दिया बेहाल
कौन छू गया साँस के तार

था सुडौल औ' गोरी बाँहों का कैसा विस्तार
निठुर के थे कैसे भुजपाश कि मेरी देह
निबल औ' क्षीण हो गई
और नयन, क्या कहूँ देखकर हुए उन्हें निश्चेत
नहीं तनिक भी रह पाया था लोक-लाज का ध्यान मुझे
डूब गया था ज्यों जल में जलयान
वात में दीप बुझे

शायद मुझसे खफा हो गया होगा कोइ प्रेत
कि मेरी दुनिया तुरत विलीन हो गई
कौन छू गया साँस के तार
कि जीवन की वीणा स्वरहीन हो गई

1951

गीत कि जो मैंने गाया तुमने दुहराया

मेरी मुस्कानों की प्रतिध्वनि में तुमने भी
मेरे संग-संग मुस्काने का स्वाँग बनाया
अपने अभिशापित जीवन के कारागृह से
गीत कि जो मैंने गाया तुमने दुहराया

जीवन के उपवन में अरमानों की कलियाँ
खिलीं तुम्हारे, ज्यों मैंने कुचला फूलों को
और तुम्हारे दृग के सम्मुख उजड़ा उपवन
शेष रहा तो तुमने बीन लिया शूलों को

पिसते रहे सदैव समय की चट्टानों से
देते रहे सुगंधि मुझे तुम सब कुछ सहकर

यही बात है जो कि हृदय में धधक रही है
जला रही है तन को, मन को साँझ सकारे
छूट रहा है दुनिया में रातों का धीरज
छूट रहे हैं गीले नैनों से अंगारे

अब फिर क्षमा न करना मेरे देव मुझे तुम
मत मेरी मिट्टी पर अपने अश्रु बिछाना
मत उन्मन हो इन कटु सुधियों की समाधि पर
तुम गीले गीतों के प्यासे दीप जलाना

देखो मत मेरे पीछे-पीछे आ जाना'
अपनी दुर्बलता और भावुकता में बहकर।

1951

पत्नी के प्रति

गोधूली के नमित नखत से लज्जित नैन विशाल
असित साँझ के सदृश शीश पर लहरे काले बाल
गात चाँदनी का, फागुन भी जिसके सम्मुख स्याह,
जिसकी रूप राशि पर सहसा रुकती नहीं निगाह
जलपरियों-सी कोमल औ' मादक गीतों की ध्वनि-सी
हरिणी-सी सहमी-सहमी-सी और तनिक अनमन-सी
प्रथम बार मेरे अंतस की घाटी में उतरी वह
आशा की तस्वीर, कल्पनाओं की दृश्य-परी वह
मैंने अनुभव किया कि यह तो चंदन-सी काया है

लगा कि मेरा स्वप्न सत्य बन धरती पर आया है
किंतु निकट से देखी अब जब कह पाया छाया
गृह कृतित्व में अविरत मैंने उसको रत पाया
मेरी चिंता से चिंतातुर औ' स्मिति से पुलकित
मेरे पुण्य-पाप सुख-शोकों को करती अर्जित
नहीं उषा यदि किंतु उषा की परछाँही जैसी
जीवन और मरण के पथ में हमराही जैसी

नौका के संग बहने वाले एक किनारे-सी
है न लाज से बोझिल पलकें नई साँझ क्वारी
देवी नहीं अप्सरा है, उर्वशी है वह नारी।

पत्नी के प्रति/इलाहाबाद के दिनो मे लिखी गई/1951

ओ बुलबुलो!

इस पेड़ मे उस पेड़ पर जाती हुई
हँसती हुई
गाती हुई—ओ बुलबुलो!
बोलो कहाँ है प्रेरणा का स्रोत, इस संगीत का
जो गा रही भरकर स्वरों में क्षीण
चिंताहीन तुम
वह गिरि कि जिसके वक्ष पर
तरु-तारिकाओं की रंगीनियाँ
खिलते हुए वे फूल
मुस्काता पवन
हँसते हुए वे स्वप्न
गाती निर्झरी
वह प्रीतिमय संगीतमय वह देश
चाँदी के वदन धारता होगा सुनहला वेश
ओ घाटियो!
फूलों लदी ओ क्यारियो
जिनमें हो ध्वनित
पहले पहल गूँजे तुम्हारे गान

अति सुंदर
कितनी खुशनसीब
वह सितारों की वनस्थली
ओह कितनी रूपमय होगी
मैं वहाँ पर घूम पाता काश!
तो मेरा तड़पता अधमरा विश्वास फिर से जाग जाता
मेरे गीत मेरे वेदनामय छटपटाते
कामनाओं के अधूरे गीत
फिर से साँस पाते ज़िंदगी की
और मैं फिर आज के रोगी अचेतन विश्व को
भर गीत में कुछ वह पिला देता
जो उसकी चेतना झकझोर जाता
और अब है काम मेरा कि मैं
मरते हुए इंसान को दो घूँट विष के
और देता जा रहा हूँ...

इलाहाबाद के दिनों की डायरी में मुक्त छंद की पहली रचना/1951

बोलो मान लूँ क्यों ज़िंदगी से हार

बोलो मान लूँ क्यों ज़िंदगी से हार
माना मौत के आते यहाँ त्यौहार
जीने को हुआ है देह का निर्माण
मर जाना सिसककर हार का परचार
मिलती है उन्हें कठिनाइयों की छाँव
जिनके रुक गए पथ पर शिथिल हो पाँव
उनको दाब लेती वृद्धता की शान
जिनकी काल से मिलकर गई झुक आँख
मुस्कराकर जो बनाते हैं विपद गलहार
उनको, सिंधु बन जाता स्वयं पतवार
ज़िंदादिल मनुज जो हैं उन्हीं के पास
यौवन ही रहा बनकर हमेशा दास

1951

मृत्यु प्रदेश

फैला दूर तक सुनसान ये मैदान
गाती है जहाँ पर मौत सुख के गान
बस खामोशियों की आ रही आवाज़
धीमा पड़ रहा है ज़िंदगी का मान
लेकिन विश्व में वे सिरफिरे इंसान
अपने को समझते हैं बड़ा बलवान
लपटें हैं जलाती आदमी का गात
फिर भी आदमी इस बात से अनजान
मैं हूँ सिर्फ कागज़ का बनाया फूल
मेरी देह क्या है एक मुट्ठी धूल

1951

मुक्तक

मुरझा गया था जो फूल खुशबू लुटाने के लिए
कलियाँ खिलीं, उस फूल की अर्थी उठाने के लिए
पतझर बढ़ा चुपचाप, झोंका एक कलि से कह गया
तुम कर रहीं तैयारियाँ खुद को मिटाने के लिए

1951

बूँद तुम्हारी याद लिए

छा गए गगन पर मेघ अमर अवसाद लिए
गिर पड़ी नयन से बूँद तुम्हारी याद लिए

नभ की उखड़ी-उखड़ी साँसों का स्नेह तरल
सोखने धरा की अग्नि धरा पर गया मचल

मन की गलियों में और उदासी-सी आई
जीवन की घोर अवज्ञा का संवाद लिए

जब-जब भी मैंने मुस्काने का स्वाँग भरा
दुनिया ने मेरी लाचारी पर व्यंग करा
मैं सपनों से मन बहलाता तो हूँ लेकिन
मेरा आह्लाद थका सुधि का आभार लिए

युग कोल करों पर मुँह रखकर कुछ सोच रहा
अपने सम्मुख अपना जीवन बरबाद लिए

1951

बिदा वेला

जा रहा था दूर मैं जब
लोचनों में नीर भरकर
प्रेयसी! तुमने कहा था
प्राण मुझको भूलना मत

प्रश्न था अटका गले में
क्या तुम्हें विश्वास इसका
किंतु मैं कुछ कह न पाया
देखकर सूरत तुम्हारी

तुम खड़ी पाषाणवत् थी
नीर दृग से बह रहा था
या कहूँ, फिर उन क्षणों की
वेदना को कह रहा था

मैं न संयत रह सका फिर
डबडबाए नयन मेरे
प्रश्न फिर क्या याद रहता
भूल जब खुद को गया मैं

कुछ क्षणों के बाद तब फिर
कंठ में नव साँस आया
तब मुझे कर्तव्य ने
निज प्रेम का दर्शन कराया

पोंछ दो दृग कह उठा उर
किंतु मैं यों सोचता था
किस तरह से बाँध पाऊँ
हाय ये अनमोल मोती

मैं ना निश्चित कर सका कुछ,
प्रियतमे! तुम पूछ बैठी
दूर मुझसे जा रहे हो
क्या सही है देवता ये?

पूर्व मेरे बोलने के तुम
पुनः प्रिय करुण स्वर से
हिचकियों में कह रही थी
'क्यों मुझे तड़पा रहे हो?'

मैं निरुत्तर हो चुका था
सोचकर, 'अब क्या करूँ मैं'
मम हृदय में उठ रहे थे
उस समय तूफान लाखों

मैं चकित-सा हो दुखित-सा
देखता तुमको रहा था
मौन था मैं किंतु मैंने
मूक भाप' में कहा था

'यदि असंभव कुछ जगत में
तो तुम्हें प्रिय भूल जाना
भूलकर भी बात ऐसी
तुम विचारों में न लाना'

मैं तुम्हें तड़पा रहा हूँ
यह सुमुखि कैसे बताऊँ
चीर उर कैसे दिखाऊँ पीर
सम ही ढो रहा हूँ

किंतु तुम शायद न समझी
था विकल अंतर तुम्हारा
इसलिए ही तानकर प्रिय
आखिरी था वाण मारा

आर्द्र दृग में भर उपेक्षा
भाव, यों चिल्ला उठी तुम
'जानती हूँ, ओह, तुम अभिसार
के हित जा रहे हो'

मैं तड़पने-सा लगा, इस
चोट को खाकर हृदय पर
बैठ मैं सत्वर गया सिर
थामकर हो मूर्च्छित-सा

रो उठा मैं करुण स्वर में
प्रिये[1] तुम्हारा वाण खाकर
रो उठी तुम किंतु था
उन आँसुओं में हास निर्झर

हृदय दोनों तुल गए थे
नयन, चारों धुल गए थे
पुष्प उर के खिल गए थे
ओंठ चारों मिल गए थे

छंद की बेहतर जानकारी के बावजूद, लय भंग की कीमत पर भी कवि को प्रिय की जगह न जाने क्यों 'प्रिये' संबोधन प्रिय है। [सं.]/1951

मैं उदास क्यों?

बोलो रूपसि मैं क्यों उदास

मेरी बाँहों में पड़ा तुम्हारा शिथिल गात,
खिल रही चाँदनी, दूर बहुत है अभी प्रात
जीवन सपने साकार, किंतु क्या हुई बात
पाकर सागर का स्नेह नहीं बुझ सकी प्यास

है हुआ विनय का परिचय मेरा नया-नया
पर लगता है ज्यों मैं जीवन से हार गया
मुझ पर ही शायद करी नियति ने प्रथम दया
हो गया जनम से दूर मरण के बहुत पास

सोने के फूलों का उपवन मेरा यौवन
झंकृत भू में नभ में मेरे गीतों का स्वन

अधूरी/1951

वह न कवि है

वह न कवि है,
जो न युग की भूमि पर ही स्वर्ग का निर्माण कर पाए

वह न कवि है,
जो न सागर की लहर को चूमकर जलपान कर पाए

वह न कवि है,
जो न स्वर के साथ क्रंदन को मिलन का गान कर पाए

वह न कवि है,
जो न ज·। की ज्योति का नूतन नया वर दान कर पाए

1951

भय का चाँवर

दीप जलाओ चाहे घी का
लेकिन हो जाता है फीका
बात यही है सबके सिर पर
भय का चाँवर डोल रहा है

1951

मत उदास हो

शेष एक साँस और देह में
शेष एक प्यास और स्नेह में
तुम उम्मीद छोड़कर निराश हो
हाथ हाथ पर, न क्षुब्ध मन धरो
मत उदास हो हताश हो अभी

है असत्य यह कि प्रीति शाप है
शाप यह नहीं कि प्रीति पाप है

मुख्य चित्त है यही मनुष्य का
जन्म-जन्म प्यार को वरण करो
मत उदास हो हताश हो अभी

कौन साथ-साथ छटपटा रहा
कौन साथ-साथ गुनगुना रहा
तुम डरो न मृत्यु के उफान से
एक और गीत का सृजन करो

मत उदास हो हताश हो अभी

1951

जलते पथ पर

धुआँ-धुआँ-सा फैल गया है
धूमिल वातावरण
कि मेरा जैसे दम घुटता जाता है
और ये रेगिस्तान
कि जिसमें जाने कितनी दूर अभी चलना है मुझको
जीभ तालुओं में सिमटी जाती है मेरी
आग जल रही एक प्यास की
औ' मंज़िल की सोच रहा हूँ

पथ में कोई साथ न हो पर
मील-पत्थरों जैसा कोई कभी-कभी हो
आकर बतला जाए मुझको
कितनी दूर अभी चलना है
कितनी देर अभी जलना है।

है मुझको आश्चर्य
कि मेरा कौन सहारा
और कौन विश्वास
कि जो दिन-प्रतिदिन मुझको
आगे बढ़ते जाने को मजबूर कर रहा
औ' उस पर यह जुल्म
कि सहसा शाम हो गई

घोर जलन थी
जलते पथ पर चलता था मैं यही सोचकर
दूर अभी कुछ दूर फासले पर
घनी छाया वाला वह पेड़
मुझे कुछ शांति
मुझे कुछ तृप्ति
बख्श जाए जो शायद
किंतु कहाँ पर डूब गया
आखिरी सितारा आसमान का
मुझे बताने आया था जो
शाम जा रही है
अब निशि आने वाली है

मेरे उर में सुधियों के बादल घिर आए
डूब गए विहगावलियों के रव नीड़ों में
उठी धूल धरती से धरती पर आ बैठी

अंतःसंघर्ष और अंतर्द्वंद्व की यह कविता इलाहाबाद के दिनों की है। 1951 के अंतिम दिनों की।

थके बटोही

जीवन पथ के थके बटोही
मत निराश हो
मत निराश हो
देख सामने एक और भी राह
कि जिस पर गुज़र रहे हैं
रोज़ काफिले
आखिर तू ही डरता क्यों है
शायद अभी पुरानेपन की
बू बाकी है तेरे अंदर
अभी मोह के टूट नहीं पाए हैं बंधन

ओ मेरे दिल
तू जो उनकी याद बाँधकर अपनी साँसों से
दुनिया में, जीने की कोशिश करता है
ठंडे दिल से सोच
कि क्या यह
तेरा जीवन के प्रति कुछ अन्याय नहीं है

तुझे कसम है
ओ मेरे मन मत उदास हो,
तुझे कसम है
तेरे विश्वासों का दीप न झपने पाए
चाहे मारुत लाल-लाल आँखें दिखलाए
चरणों की गति की डोरी का तार न टूटे
ढील न आए
हो सकता है नई पीढ़ियों का कच्चा मन
तेरी जैसी दुर्बलताओं से भर-भर जाए
इसीलिए फिर समझाना पड़ता है तुझको
अपनी निष्ठा के छोर को न छोड़ कभी भी
थककर गलत दिशा में राह न मोड़ कभी भी
अपने पथ पर चलता चल अविराम निरंतर
चाँद पकड़ने को नन्ही बाँहें फैलाकर
सबका स्वागत कर पथ पर आएँ जो-जो भी
गले लगा ले शूलों को भी फूलों को भी

अगर ज़िंदगी की साँसों के पृष्ठ बदलते हैं
अगर माँगकर विदा प्राण भी तन से चलते हैं
जीवन-पथ के थके बटोही मत उदास हो
अगर नियति की कोप-दृष्टि का दीपक
जल सकना संभव है
अगर आँधियों का रुख तेरी ओर
बदल सकना संभव है
तो यह भी मत भूल कि जीवन की मंज़िल भी यहीं कहीं है
सदा सिंधु की लहरों पर ही तो बहता जलयान नहीं है
हो सकता है इसी दिवस की
राह देखती साँस-साँस हो।
तुझे कसम है
ओ मेरे मन मत उदास हो।

1951

शेष दुःख

औ' यहाँ रह गया
आज निपट एकाकी मैं
सुख चला गया है साथ तुम्हारे ही
दुःख शेष रहा
अब रोग मुझे लग गया सोचने का ज़्यादा
हैं शेष रही आहें, आँसू
हाँ, बहुत अधिक सोचा करता
पर अपनी गतिविधि फिर भी समझ न पाता हूँ

है कुछ अजीब-सी हालत मेरी अब तो
उन मित्रों से जिन पर तुम बिगड़ा करती थी
जिनके कारण मैं घर देरी कर आता था
पढ़ना-लिखना तो छूट गया है अब मुझसे

मोटी पुस्तक खोले बैठा रहता हूँ मैं
जिसके हर अक्षर मुझको लगते हैं प्यारे
तस्वीर तुम्हारी अंकित है मुस्काती-सी
मैं रोज़ विश्वविद्यालय जाता हूँ अब भी
पढ़ने की पुस्तक और नोट बुक को लेकर
पर कहाँ तनिक कुछ लिख-पढ़ पाता हूँ मानो
कोलाहलमय उन कमरों में बैठा-बैठा
जीवन के पथ की सहगामिनि
ममतामयी तुम
उस दूर नगर को चली गई
जिसमें तुमने
काटी शैशव की
चिंताहीन मधुर रातें
मृदु स्नेह सुवास भरीं
सपनों जैसी मीठी
जिसमें तुमने सखियों के संग झूले झूले
गाए सावन के गीत
कजलियाँ गाई हैं
मीठी-कड़ुवी घुड़कियाँ सहीं
जिसकी सड़कों से परिचित पाँव तुम्हारे हैं
जिसकी गोदी में पलकर
तुमने पाया है
नयनों में इतना रस
इतना शरमीलापन
कमनीय सुनहला
खिलता यौवन
जिसमें रहकर जागी
रूपसि अनजान तुम्हारे प्राणों में भी एक प्यास
जो कुछ-कुछ परिचित और अपरिचित जगती को
जिसमें रहकर तुमने प्रेयसि
यौवन के सब ऊँचे-नीचे अनुभव पाए
जो अनचाहे भी उर में घर कर जाते हैं।

प्रयाग के दिनों की अधूरी रचना/1951-52

है पास नहीं मेरे मेरी परछाईं

है . पास नहीं मेरे मेरी परछाई
जो नापे आँखो के जल की गहराई
कोई भी पथ आसान नहीं क्या जग का
पूछती आत्मा बार-बार घबराई
मेरे सग-संग तूफान मचलने लगे
नयन से ऑसू ढलने लगे।

इस जग का दर्शन, सत्य, कला औ' गाने
जा रहे नई ज़िंदगी खोजकर लाने
पर यत्नशील युग-युग से मेरा तन-मन
है उसी पुराने जीवन को लौटाने
मॉगकर विदा सब साथी चलने लगे
नयन से ऑसू ढलने लगे।
फिर आसमान के दीपक जलने लगे।

1951-52 की रचना

तब भी आता चाँद

तब भी आता चॉद देर से सिमट सिकुड़कर
बैठा करता घने नीम के आकर ऊपर।

पंद्रह दिन हो गए बराबर देख रहा हूँ
रोज़ देर करके थोड़ी-थोड़ी आता था
किंतु आज आने में इतनी देर लगाई
अभी न आया
ताक रहा है गगन नीम का पेड़
बहुत सहमा घबराया
बड़ी उदासी-सी ऑगन भर में छाई है
मुझको भी दुःख है ऊपर जो मेरा भाई है
काला रंग हो गया

विचार क्षीण हो गया
आन न बैठा चाँद नीम के ऊपर आकर
यह रिश्ते-नाते कितने दृढ़ कितने अस्थिर
मेरा मन दुनियादारी से घबराता है।
मनु पुत्रों का प्यार परस्पर उतना ही कम
जितना दृढ़ दोनों का धरती पर नाता है।

1952

प्राण किसलिए

प्राण किसलिए
प्राण किसलिए
यह दुनिया का कोलाहल वीरान किसलिए?

बिना सहारे हुआ
तुम्हारा मुख क्यों पीला,
कौन भला करता है
अपना आँचल गीला

तुम्हें मिला है गीतों का वरदान किसलिए?

कोई बंधन नहीं
जिसे तुम तोड़ न पाओ,
कोई पर्वत नहीं
न जिस पर तुम चढ़ जाओ

फिर जीवन है मरघट-सा सुनसान किसलिए?

गति का दुश्मन कौन
तुम्हारी ही परछाई
तुमने सिर पर आफत
अपने आप बुलाई

पैर पटकते हो पथ पर नादान किसलिए?

पार उतरने की कर
सकते हो तैयारी
यह तो कोई कार्य नहीं
जो ऐसा भारी
जीवन है किसलिए और
है ध्यान किसलिए?

1952

मैं अकसर सोचा करता हूँ

चार कदम चल पाए अब तक
तुम मछली-सी लगीं तड़पने
लेकिन चलते-चलते इक दिन
जब हम मंज़िल पर पहुँचेंगे
मैं अकसर सोचा करता हूँ
जाने तुम पर क्या गुज़रेगी

ये बरसात नहीं है कोई
यूँ ही अश्रु निकल आए हैं
पर जब बादल घिर आएँगे
और तुम्हारे घर पहुँचेंगे
मैं अकसर सोचा करता हूँ
जाने तुम पर क्या गुज़रेगी

पागल हो जाती हो सुनकर
मैं तो यूँ भी कम गाता हूँ
लेकिन कल खुद पागल होकर
तुम तक मेरे स्वर पहुँचेंगे

अब तो मैं हूँ साथ तुम्हारे
कुछ अहसास नहीं होता है
कल मेरी पाती पहुँचेगी
कल मेरे अक्षर पहुँचेंगे

प्रेयसि, तुम पर क्या गुज़रेगी!
मैं अकसर सोचा करता हूँ।

संभावित रचनाकाल : 1952-53

सहृदय

तुम समझ भले लो कविता को
कवि उर स्पंदन को क्या समझो

उद्‌गार हृदय के अधरों से
प्रस्फुटित हुए लय में बँधकर
हो विकल भाव विकसित होते
भावुकता के रंग में रँगकर
तुम परख भले लो बाह्य चमक
उसका अंतरतम क्या समझो

तुम जिसे बताते जाल-मात्र
शब्दों का, उसमें कारण है
करते संयत उनकी वाणी
हाँ, हाँ जिनका उच्चारण है
लखकर कवि की रचना हँसते
तुम मूक निवेदन क्या समझो

जीवन अनुभूति रचित कर
कविता का रूप उसे देते
संचित कर मानस की पीड़ा
कवि निज कविता में भर देते
बस गायन मात्र समझते हो
तुम कवि का क्रंदन क्या समझो।

प्रयाग/1952

मन्मथ गंध

साँस चंचल कर रहे मन्मथ जगाकर
ये सुरभि के फूल कितनी देर के हैं
यह घरौंदे
छाँह से बनते-बिगड़ते
खुशगवार दुकूल कितनी देर के हैं
यह कि जिनका संग थामे
कामना मन में सँजोए लक्ष्य की
गहरे सपन-सी यह नदी के कूल कितनी देर के हैं
तू डगर पर पाँव तो धर
आज़मा तो
बावले मन! शूल कितनी देर के हैं

1952

नई राह

सच है यह कि
नरेश, शंभु, शमशेर, अवस्थी
और भारती, गिरिधर, नेमि
भवानी, नीरज, नागार्जुन, केदार, शीतला
रंग आदि सब बहुत खूब लिखते हैं लेकिन
मेरे पद तक कोई पहुँच नहीं पाया है।
मेरी कविताओं का
अपना अलग चार्म है
नई टेकनीक
पंत, प्रसाद, निराला जी की बात न छेड़ो
पर अपनी पीढ़ी के कवियों में
मैं यह देखा करता हूँ
कोई ऐसा नहीं कि जो हिंदी कविता को

नया मोड़ दे
नया योग दे
बिखरी हुई अनेक रत्न की मालाओं
को सजा-सँवारे
और भेंट में
रत्न स्वयं का नया जोड़ दो

अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग, जो साहित्यिकों की बोलचाल में आ चुके थे/1952

आत्मविश्वास

तू भरम मन का मिटा ले
आज़मा ले शक्ति अपनी
ओ मरण के देवता
यह सत्य है
मैं ज़िंदगी के स्वप्न से अनभिज्ञ
मेरे होंठ पर खिलती नहीं मुस्कान
मैं निश्चेष्ट
जैसे सिंधु जब जाए गुज़र तूफान

मेरे लड़खड़ाते पाँव
जलती है दुपहरी साँस पर
मरु में
न कोई छाँव
मेरे संग-साथी हैं गए सब छूट
बनने के प्रथम ही
ज्यों किसी का स्वप्न जाए टूट

मेरी राह में हैं
दूर तक वीरानियाँ आबाद
बस्ती थी कहाँ मेरी
न मुझको याद
स्मरण इतना है
मैं किसी के नयन के आकाश में

सूरज सदृश ऊपर उठा
अब ढल रहा हूँ,
मौन मन

सूना भुवन मेरे लिए
संताप में
मैं जल रहा हूँ आप में
लेकिन कभी मुझसे मिली थी ज्योति भी
मैंने बिखेरा था कभी सौरभ यहाँ
जग में मुझे सम्मान भी मिलता रहा

मैं इसलिए महसूस करता हूँ
कि मेरी भी ज़रूरत
विश्व को कुछ कम नहीं है
किसको ज़रूरत कब पड़े जब
ऐसा मुझे विश्वास है
मैं भार हूँ किस पर
कि जब मेरा यहाँ आवास है।

1952

प्रतिच्छाया : 1

तू कौन है
क्यों मौन है
मेरी तरह
कुछ बात कह
यह तीर मेरे वास्ते
तू क्यों भ्रमित
क्या बंद हैं कुछ रास्ते
तेरे लिए
मुझसे न डर
तू हो मुखर
ले मैं हुआ खामोश

हिलता भी नहीं
तू बोल तो
मुख खोल तो
शायद हमारा भार
मिथ्या प्यार
कुछ-कुछ बँट सके
यह ज़िंदगी का रास्ता कुछ घट सके

1952

प्रतिच्छाया : 2

तू कौन है? जो मौन होकर
पूछती है प्रश्न
मुझसे ही स्वयं
'तू कौन है'
मैं आदमी हूँ
लाल आँखों से मुझे मत घूर
मेरी ओर तू क्या देखती है
स्नेह आँखों में नहीं तेरी अभागी...
मैं चला।

1952

मुक्तक

सोचता था गीत-सा उठकर गगन में फैल जाऊँ
किंतु मेरे शब्द इस वातावरण से खुश नहीं हैं,
जानता हूँ चैन से चलने न देंगे पाँव मुझको
रास्तों के शूल मेरे आचरण से खुश नहीं हैं।

1952

लोगों को .एतराज़ नहीं इस सलूक पर,
वो चोट है कि उनको भी आती नहीं नज़र,
गंदे बहुत हैं गोरी सियासत के तर्जुमान
हिंदी ज़ुबान लोग समझते नहीं मगर।

1952

मुक्तक

आज फिर मर्दानगी रोने न देगी रात भर
छटपटाहट में कमी होने न देगी रात भर,
और सह ले ताकि कहने में परेशानी न हो
ये ग़ज़ल वरना तुझे सोने न देगी रात भर

1952

मुक्तक

बैठा हूँ अपने कमरे में दरवाज़े भेड़कर
इस तीरगी में खुश हूँ कोई राग छेड़कर
गुज़रा हुआ ज़माना तो अब लौटता नहीं
क्या देखना है ज़ख्मों के टाँके उधेड़कर

1952

नया विहान

किसी ने मेरे द्वार पर दस्तक दी
हल्की-सी सुकुमार
एक दो तीन चार
कई बार

चौंक गई नींद मेरी
मैंने आँखें मलीं
उठा
पाँव पहिले पलंग से नीचे उतारे
चप्पल पहिनकर
सिरहाने से दबा भिंचा कुर्ता निकालकर
कंधे पर डाला
और द्वार खोल दिए

लाल-लाल भोर की पहली किरण
प्रभाती गा रही थी
'नव विहान आया है
उठो नौजवान!'

1952

चित्रकार से

चित्रकार तू
निरावरण कर मेरा तन
रंग में घोल
तूलिका सँजो मत
यही बहुत है
तूने मेरी रूप प्रशंसा सुनी, यहाँ आया
मुख देखा
स्तब्ध भाव से
कई क्षणों तक

अपलक।
मूरख!
मेरा चित्र बनाएगा क्या
अपना चित्र बना बैठेगा

1952

घुटे तिमिर में प्राण

1.
घुटे तिमिर में प्राण
ज्योति के शत्रु
उठाए ध्वजा विजय की
मुख फैलाए
धरती के विस्तार सरीखा
दिशा-दिशा में
भू-नभ गिरि-वन
सबके ऊपर इस प्रकार छा गए
कि जैसे
किसी उभरती हुई साँस के विश्वासों को
मृत्यु दबोचे सहसा
भीषण असफलता की
औ' क्षण भर को
घुटन बेबसी जलन सभी कुछ
घुटती-घुटती साँसों का अस्फुट कोलाहल
नीरव वातावरण भंग कर दे
विभीषिका का जीवन की अंतप्राय हो

यह विहगों का रव सोया
मन डूबा,
डूबे गान
घुटे तिमिर में प्राण

असमय ही घिरे
व्यथा के बादल ऐसे कड़क-कड़ककर
मन में
मेरी ध्वनि न किसी तक भी जा पाई
और यहाँ तक मैं भी जब
अधरों में शब्द अटकने लगे
स्वयं यह समझ न पाया
जैसे 'मैं' मैं नहीं
कि कोई एक अजनबी
और अपरिचित
दूर देश का वासी
जिसका नाम सुना हो
अपनी भाषा में अपने उद्‌गार प्रकट कर
राह सँभाले अपनी
स्मृति की छोड़ छाप वर्णनविहीन-सी
जैसे लहरें...
चिह्न छोड़ जाती हैं तट पर
आता जब तूफान
घुटे तिमिर में प्राण...

पर फिर भी क्या है
जो कुछ है निरावरण सब
सब ही तो मेरे अपने हैं,
भूल हुई जो कुछ होना था
अपने हित के लिए किसी के
क्या दुःख मानूँ
क्या रोऊँ
क्या अश्रु बहाऊँ
और अगर कुछ मिल सकता तो
मिल ही जाता
मैंने कितने हाथ पसारे
करी प्रार्थना
ज्योति मुझे दो ज्योतिर्दाता
जैसे किसी दहकते रक्तिम
अंगारे पर बूँद गिर पड़े

और प्रतिक्रिया
लाल रक्त की शक्ति उठे आक्रोश क्रोध बन
छन, छन, छन
जैसे प्रभु पक्ष कोई शुष्क अप्रिय से
असहनीय दुर्वचन कह दिए हों
फल जिसका प्रकट हुआ असि के
क्रंदन में
वैसी ही मेरी हरेक प्रार्थना
भीख
की गई सभी से अस्वीकृत
नियति क्या हम जो
सभी मुसाफिर हैं सच, मेरा
कर पसारना बहुत अशोभन औ' अनुचित था
और दूसरे यह कि कभी भी
माँगी भीख न कहलाती वरदान
घुटे तिमिर में प्राण

2. प्रतिकूल राह

पुस्तकें मेरी छपीं
आलोचना निकलीं
मिला सम्मान, मुझको
गीत गाए स्वर बदलकर सौ तरह के
रंग जमाने के लिए साहित्य में
मैंने अनेकों कष्ट झेले
और तब जाकर कहीं पे
आज सब कुछ है
साँस गति से चल रही है
चैन से घर बैठ रोटी मिल रही है
अब नहीं चुभते मलय के व्याग
तारे अब न मेरी नींद करते भंग
चारों ओर है साहित्य छाया
लेकिन सोचता हूँ मैं
कि मेरे भाव, मेरे गीत
मेरी साधनाओं के नहीं अनुकूल

हैं ये पेंग सारे
क्योंकि मैं महसूस जो करता, नहीं लिखता
हैं विपरीत मुझसे आज मेरे गीत
मैंने जो लिखा था गीत पहली बार
करने को हृदय की तृप्त शीतल प्यास
चाहे था न पूरा छंद
गति थी भंग चाहे
थी कला उसमें न, लेकिन था
हृदय का सत्व औ' मनुष्यत्व
है ऐसा मुझे विश्वास
मन के सत्य का ईमान, मेरा बोलता इंसान
था वह गान
पहिला गान!

यह कविता उस बुद्धि-रसवाली नई कविता धारा के विरुद्ध एक टिप्पणी के रूप में लिखी गई।/1952

मरुधर से

उनकी तस्वीर बनाओ न ए दोस्त!
तुम न बोलोगे ज़बाँ खोलोगे
रूठे हुए गूँगे-से
अपने से बात करोगे कि सदा
जैसे कोई
पानी में झाँक रहा हो नदी के।
लहरें हिला जाएँगी छाया को
किंतु तुम स्थिर अचल बैठे रहोगे!
देखो
खुद को तस्वीर न बनाओ ए दोस्त!
कौन-से रंग भरोगे
कि वह तस्वीर बने
हाँ, वह तस्वीर बनाओ न ए दोस्त!
रंग उभर आएँगे
और तुम

डूब जाओगे कहीं
यह जवानी की भरे चाँद-सी मुस्कान
मलिन पड़ जाएगी
रंग चेहरे का उतर जाएगा
उसको क्या ज़िंदगी दोगे
लाले अपनी ही ज़िंदगानी के पड़ सकते हैं
अभी तस्वीर बनाओ न ए दोस्त!

वह थिरकती हुई चपल चंचल
बोलती मुस्कराती औ' गाती
वैसे भी क्या कम है
किसी उड़ते हुए पंछी को कैद करना ठीक नहीं
क्योंकि मुसीबत होगी
तुम कहोगे फिर, बोल ए तस्वीर
पर कहीं बोलते हैं कागज़ भी
जाने दो,
उनकी तस्वीर बनाओ न ए दोस्त!

1952

अब के कवियों का चाँद

क्यों जी
तुमने चाँद ज़रूर देखा होगा
मैंने भी देखा है,
जी हाँ,
चाँद आसमान का
वही जिसके चारों तरफ बिखरे हुए तारे
एक शमा पर
अनेकों जलते-बुझते परवानों की याद दिलाते हैं
हो सकता है कि
उसे देखकर मुझे याद आ जाए
अथवा तुमको अपनी प्रेमिकाओं की

अब तक सब कवियों ने
उसका उपयोग किया है इसी रूप में
अथवा बच्चों ने उनकी बूढ़ी दादी ने
उसे बुलाया, किंतु वह न आया
पर आज के कवियों के लिए चाँद
उनके आँगन की नीम पर बैठा रहता है
कहते हैं पत्तियों के जाल में उलझ गया है
क्यों जी! क्या ऐसा भी संभव है।

समकालीन कवियों की काल्पनिक उड़ानों पर व्यंग्य/1952

आज मनादी हुई

आज मनादी हुई
स्वप्न के लोक-राज ने
कहा कि देखो
जितनी गैर ज़रूरी
चीज़ें हैं, दुनिया में
आज इसी क्षण
सभी अग्नि को करो समर्पित मेरे आगे।
और हुआ भी यही
सभी ने किया फैसला
सबने अपनी गैर ज़रूरी चीज़ें फेंकी
घर बाहर से
और गगन से
मन से लाकर
होली खेली गई सभी की

अधूरी/1952

अचम्भा

अहा, आइए श्रीमान जी
बहुत दिनों के बाद
इधर आए हैं
कहिए, स्वास्थ्य ठीक है?
जी हाँ, कुछ परिवर्तन तो मैं देख रहा हूँ
तुमको तो मैं पहिचान न पाता
कितना बदल गए हो जब से
आप दिखे तो मैंने सोचा भी था
कहिए, क्या सेवा कर सकता हूँ
सिगरेट या पान मँगाऊँ
नहीं तकल्लुफ की इसमें क्या बात
एक लेमन पी लें
कुछ हर्ज़ न होगा
क्या दिखलाऊँ कहिए
साटन, मलमल या कुछ छींट
नए फैशन की

यह कविता लिखकर काट दी गई है। इस पर कविवर भवानी मिश्र के 'गीतफरोश' की अभिव्यंजना का असर है।अधूरी 1952

चार कविताएँ

1

जो दीप बुझ गए हैं
उनका दुःख सहना क्या,
जो दीप जलाओगे तुम
उनका कहना क्या,

सुधि की हथेलियों पर
चिंतित माथा न धरो,
जो दीप जल रहे हैं
अब उनकी बात करो।

2

मैं कई मंज़िलें चल सकता था और
इसलिए नहीं रुक गया कि है अँधियारा आगे,
रुकने का कारण बना तुम्हारा साथ
टूटें न अचानक गति से कच्चे धागे,
बिखरें न हृदय में स्वप्न अभी जो जागे,
होने दो उनको बड़ा अभी पलने दो,
इतने हमको धीरे-धीरे चलने दो।

3

हर घर में कानाफूसी औ' षड्यंत्र
हर महफिल के स्वर में विद्रोही मंत्र,
क्या नारी क्या नर
क्या भू क्या अंबर
माँग रहे हैं जीने का वरदान
सब बच्चे सब निर्बल सब बलवान
सब जीवन सब प्राण
सुबह दोपहर शाम।
अब क्या होगा राम?
कुछ समझ नहीं आते हैं ऐसे राज़,
जिसके देखो अनजाने हैं अंदाज़,
दहक रहे हैं छंद
बारूद की गंध
उठती है लहराती-सी धार
टूट रही है हथकड़ियों की झंकार
आती बारंबार
जैसे सारे कारागारों का कर काम तमाम
अब क्या होगा राम?

4

हर शाम
जन-संकुल मार्गों से
सोचता हुआ गुज़र जाता हूँ।
जीवन के लिए

एक ज़बरदस्त
जोखिम उठाता हूँ
लोगों को उतना ही उदासीन
उतना ही थका हुआ पाता हूँ।

लगती दुनिया यह नई-नई

क्या मुझमें नहीं उछाह जवानी का?
या सूख गया है सोता पानी का?
या ओठों क़ो सिल दिया गया मेरे?
या कोई काली छाया है मेरे?
या आँखों में फिर कोढ़ घुल गया है?
या अंग-अंग का जोड़ खुल गया है?
या बिगड़ गया संतुलन निगाहों का?
या क्षीण हुआ बल चंचल बाँहों का?
या फिर लिखते-लिखते दिमाग फिर गया?
विश्वास धूल पर औंधे मुँह गिर गया?
या सर्दी-गर्मी व्याप गई मुझको
जो दुनिया लगती नई-नई मुझको

दुनिया मैं जिसको कभी न गाता था,
दुनिया मैं जिसमें कभी न आता था
वह दुनिया मन के हर निबंध में है,
वह दुनिया मेरे छंद-छंद में है

मैं इस दीपक पर हूँ परवाना-सा
जर्रा-जर्रा लगता पहचाना-सा

1953-54

प्यार के देवता प्यार की बात क्या?

प्यार ऐसे जनमता है जैसे सुबह
प्यार बढ़ता है जैसे लहर आग की
प्यार चलता है जैसे किरण के चरण
प्यार चढ़ता है ज्यों पेंग हो राग की

प्यार तन पर दमकता है मोती सदृश
प्यार आँखों में खिलता कमल की तरह
प्यार ऐसे गमकता है जैसे जुही
प्यार प्राणों में गंगा के जल की तरह

प्यार महफिल में बजती हुई बाँसुरी
प्यार मखमल में सोई हुई अप्सरा
प्यार परदों के पीछे छिपी रोशनी
प्यार जैसे किसी दर्द का तज़करा

प्यार बच्चों की ज़िद बाप की झिड़कियाँ
प्यार अम्मा की लोरी बहारों का गीत
प्यार टूटे दिलों के लिए ज़िंदगी
प्यार हारे-थकों को सितारों का गीत

प्यार जैसे दिवाले के जलते दिये
प्यार जैसे समुंदर की गहराइयाँ
प्यार जैसे दशहरे का त्योहार हो
प्यार जैसे बुढ़ापे की परछाइयाँ

प्यार जैसे किसी भोग की साधना
प्यार जैसे किसी पेड़ चढ़ने का खेल
प्यार जैसें किसी मसखरे की हँसी
प्यार जैसे सितारे पकड़ने का खेल

प्यार जैसे किसी युद्ध की दुंदुभी
प्यार जैसे अँधेरे में बजता सितार
प्यार जैसे कई मरुथलों की तृषा
प्यार जैसे किसी डूबते की पुकार

प्यार कितना पुराना कि कितना नया
प्यार के देवता प्यार की बात क्या?

एम. ए. (फाइनल), इलाहाबाद/1953

विरल अनुभूति

पेड़ धुएँ की रेखाओं से लगे साँझ के समय घूमने—
कुंडी देकर घर से बाहर निकला जो मैं कल
आग लगी थी पास-सिवाने के जंगल में
चिड़ियों के पर टूट गए थे
गुजरा सिर से बहता कोलाहल
मैं उनमें से नहीं कि दुःख उसके सुन जो मातम में डूबे
फिर औरों का दुःख मैं कैसे होता दुःख-विह्वल?
दृष्टि उठाई देखता रहा दृश्य अरुणाभ गगन का
फड़-फड़ करते पंख कि जैसे साइकिल के पैडल
शोर हुआ धीमा तो मैंने बैठ घास पर कलम निकाली
सोचा अब यह भाव नोट कर लूँ फिर लिखने को
लगा नोचने घास 'लिखूँ क्या?' सोचा तो सोचता रह गया
होंठ होंठ से ऐसे चिपके जैसे चंदनगो
लगा कि मैं भी कवि हूँ बस ऊपर से दिखने को
फिर आया निज मित्रों की कुछ कविताओं का ध्यान
कसती और गई मेरी प्रतिभा की तीर कमान

1953

क्योंकि मैं अकेला नहीं

सुनो! मैंने गीत लिखे, विगत वर्तमान पर
सुनो! मैंने गीत लिखे प्यार के ईमान पर,
कुछ नहीं लिखा कभी भविष्य पर
कुछ नहीं लिखा कभी 'मनुष्य पर

सुनो! मैंने कुछ नहीं लिखा कभी जहान पर!
किंतु सुनो! आज लिख रहा हूँ मैं
देखो ज़रा मेरी ओर ध्यान से
ऐसा दिख रहा हूँ मैं?
तुमने कहा, 'गलत बात, ऐसा नहीं'
अच्छा चलो ये भी सही
शायद अभी हूँ विचारमग्न,
कर रहा विचार
शायद अभी मिल की छुट्टी का है मुझे इंतज़ार
क्योंकि मैं अकेला नहीं वे भी मेरे साथ हैं
न्याय के लिए हरेक युद्ध में वे मेरे दाएँ हाथ हैं
उनको भी बता दूँ पहला मिसरा उन्हें गाना है
मैं तो लिखने वाला हूँ, स्वर उन्हें उठाना है
उनको भी बता दूँ
मैं तो लिखने वाला ही हूँ गीत उन्हें गाना है...।

1953-54

मन उदास हो गया अचानक

कुछ बादल छा गए गगन पर
कुछ ठंडक बढ़ गई हवा में
कुछ स्वर उड़ने लगे पवन पर
कुछ स्वर घुटने लगे हृदय में
सकल विश्व का दुःख ज्यों मेरे आसपास हो गया अचानक
मन उदास हो गया अचानक

दूर कहीं धुंधलाया अंबर
दूर कहीं कूकी शहनाई
दूर कहीं पर चमके तारे
दूर कहीं से भर सुधि आई
मन में खिलती हुई चेतना का विनाश हो गया अचानक
मन उदास हो गया अचानक

अधूरी/1953-54

आकांक्षा

बच्चे ने 'आकांक्षा' का अर्थ पूछा
सोचा कुछ उत्तर दूँ—
लेकिन क्या? निरुत्तर हुआ
उससे अधिक मुझको भी ज्ञात नहीं।
सोचा कहूँ 'आकांक्षा' ईश्वर ने
हर मनुष्य को दी है, सबकी दुर्बलता है।
लेकिन यह उत्तर नहीं पूरा
फिर निरुत्तर हुआ।
बच्च ने प्रश्न फिर दोहराया।
सोचा कहूँ 'आकांक्षा' कोरिया की ज़्यादतियाँ
रक्तपात, युद्ध, वध, नृशंसता
एटमबम, वायुयान, टैंकादि
लेकिन नहीं···
इनका भी अर्थ उसे ज्ञात नहीं
अतः मैं निरुत्तर रहा।
ये तो मानवीय आकांक्षा का फल है
वच्चा फिर खुद बोला
'मास्टर जी' कहते थे
'आकांक्षा' मानव के
ऊँचा उठने की एक सीढ़ी है
क्या ये सही?'
मुझको निस्तार मिल गया जैसे
मैंने कहा, 'हाँ, कुछ सही है ज़रूर
लेकिन इतना-सा और जोड़ लो
आकांक्षा मानव के ऊँचा उठने
और नीचे गिरने की एक सीढ़ी है।

1953-54

दर्द

मुझमें कुछ है
मुझे नहीं मालूम कि क्या है
लेकिन कुछ है
जो ठंडा भी है जलता भी
जो रुकता भी है चलता भी
जो है कड़वा और मधुर भी
जो सुर जैसा और असुर भी
लेकिन क्या है मुझे नहीं मालूम

मेरे होंठों पर अंतर में
मेरे प्राणों में औ' स्वर में
डोल रहा है कभी न दीखा
यह अनबोले शब्द सरीखा
जाने क्या है मुझे नहीं मालूम।
आँसू बनकर चू जाता है
मेरी नस-नस छू जाता है
इसको मैंने कभी न पाया
इसको मैंने कभी न गाया।
काँटे जैसा है यह मासूम
जाने क्या है मुझे नहीं मालूम

1953-54

ओ गुलाब के फूलो !

ओ गुलाब के फूलो !
सुंदर गंध तुम्हारी
देखो गमक रही वह क्यारी
जिसमें हो तुम
ओ गुलाब के फूलो
यह मत भूलो, भाई !

हर शहनाई में होता थोड़ा मातम है
मैंने तुमको दिया जनम है
आओ
अपनी गंध लिए
मुझमें बस जाओ।

1953-54

युग के विचार

य विचार मेरे नहीं,
हर युग के हर आदमी के हैं
किंतु ये विचार अगर मेरे नहीं,
तेरे नहीं,
युग के नहीं,
तो फिर ये विचार नहीं।
किंतु ये विचार अगर मुझको
और तुझको
और युग को
एक बाँध नहीं सकते तो विचार नहीं।
मेरे ये विचार
अगर चेतना के बंध और खोल नहीं
सकते तो विचार नहीं।
और ये विचार, मेरे लिए, तेरे लिए, आप बोल
नहीं सकते तो विचार नहीं

1953-54

नामुमकिन

वह देखो खतिया के परले तट पर
ढक्के के पेड़ों से बाएँ हट कर

कबरे घौले बर्धे धनकाता है
धरमा अपना हल हाँके जाता है

बायाँ कर हल की मुठिया पर डाले
दाएँ में चमड़े का सौंटा सँभाले

घुटनों तक धोती पिंडली तक मिट्टी
है चीर रहा वह धरती गोरी चिट्टी

खुद ही सब गड्ढे पटते जाते हैं
नस्से कल्ले सब कटते जाते हैं

लगता है जो ऐसा कर सकता है
कैसे चूहे जैसा मर सकता है

बादल कैसे ढँक लेंगे ऐसा दिन
ये नामुमकिन! नामुमकिन!! नामुमकिन्न!!

अनुमानतः यह एम. ए. कर अपने गाँव राजपुर नवादा लौटकर लिखी गई रचना है, जिसमें किसान को काव्य-विषय बनाया गया है/1954-55

एक पत्र

मैं तो तुमको भी समझता था कि तुम भी सहसा
इक इशारे पे कहीं की कहीं जा पहुँचोगी,
मंज़िलें नाम की रह जाएँगी आगे-पीछे
जिस जगह भी कहीं हिम्मत से कदम रखोगी,

मैं तुम्हें पा के बड़ा खुश था, सहारा पाया
और उठा ऐसा गुँजा डाला तरानों से चमन,
मेरी नज़रों में मुहब्बत थी जवानी थी सभी
पिछली बातें थीं औ' था इश्क का गुलज़ार वतन,

पर जो पीछे फिरा देखा तो तुम्हें पाया नहीं
दिल पे खड़का-सा हुआ टूट गया आइने-दिल
जैसे लमहों की चटख लमहों में रित जाती है
जैसे वीरान हुआ करती है अकसर महफिल

जैसे घोड़ों से गिरा करता है घोड़ों का सवार
जैसे खँडहर पे उदासी-सी उतर आती है,
जैसे दो टूक बिखर जाता है आँखों से शवाब
जैसे टूटी हुई हर शाख नज़र आती है,

इस तरह मेरी ज़मीं घूम के अंबर पे गई
और आकाश चला आया पगों के नीचे
जब ये देखा कि तुम्हीं अपनी जवानी को लिए
बेचती हो सरे-बाज़ार में आँखें मीचे,

तुमको कुछ हक तो नहीं था कि कलाकार का दिल
इस तरह बेच दो जीने के बहाने के लिए,
अपना दिल उसकी हिफाज़त में रखे जीती रहो
उसके मुर्दों से सड़े ख्वाब में आने के लिए।।[1]

1. इस कविता पर उर्दू की नज़्मों, ख़ास तौर से साहिर लुधियानवी जैसे शायरों की काव्य-भाषा और तर्जे-बयाँ का प्रभाव साफ़ देखा जा सकता है। हिंदी मे यह शैली गोपालदास नीरज भी प्रयोग में ला रहे थे।/1954

मेरा प्यार

जुए का यह अंतिम पत्ता
जीवन का आखिरी दाँव
अकेला विश्वास
आपदाओं की दोपहरी
गहरी और गहरी अगर होती गई प्राण
घटती गई यदि यह भी छाँव
तो फिर टूट जाएँगे
सारे विश्वास, स्वप्न, प्राणों के पाँव
आशाओं के बादल जाएँगे कट
झुकते हुए हाथों से
बार-बार खिसक जाएँगे बालू के तट
प्राण मैं अकेला

इस दुनिया में रहा भी तो
साँसों की बालू के पर्वत पर चढ़कर
फिर नीचे ढुलक आऊँगा
एड़ियाँ रगड़कर मर जाऊँगा।

जुए के अंतिम पत्ते-सा मेरा प्यार
हारे ना
थके हुए सपनों की गगन-चुंबिकी डोर
टूटे ना
भले बालू के हों
पर मेरे हाथों में आए तट
छूटें ना,
तुम चाहो तो मैं जी सकता हूँ,
हाँ!!

अधूरी/1954

अधूरी कविता

मेरा प्यार
शिथिल इन बंधों में
टूटे-फूटे शब्दों में
अर्थहीन शब्दों में रची हुई कविता है।

आह! इस अँधेरे को भेदते
निस्तब्धता को फोड़ते हुए
चरणों की कल्पना
इस अधूरी कविता में
भर गई!
तुमसे बात करते हुए शायद यह
बीच का समुद्र पट जाता
तुममें उतरता तो
वातावरण का महत्त्व घट जाता
शायद यह गैस का गुब्बारा फट जाता

क्योंकि इस दुनिया में
एक और दुनिया मेरी तुम हो
तुम जो मेरी मिट्टी को
मुझसे भी अधिक प्यार करती हो
तुम मेरी भाषा को
मुझसे भी कहीं अधिक जानती-समझती हो
मेरी अनगठित लयों को एक सिलसिला दो
क्रम से हों शब्द, वाक्य अर्थ से मिला हो
ओ मेरी प्रिया!
रस के लिए दुनिया तड़फती है
कविता में रस हे
किंतु मैं रसवान होकर भी
इतना रसहीन हूँ
जीना भी मरने के क्षणों में साथ-साथ आह!
ओ मेरी प्रिया!
मेरा प्यार एक अधूरी कविता है
पूरी कर दो
ज़िंदगी में रस भर दो।

1954

भीतर-बाहर

जीन कसे घोड़े-सा मचल रहा मन···
याद आ रही है वह ज्योति की किरन
ठंडा नभ गीली मिट्टी-सा बिस्तर
जिस पर मैं निष्क्रिय पड़ा हुआ
कमरे के दरवाज़े बंद
रात जाड़ों की सुधियों के तारों में जड़ा हुआ
भरा-पूरा अँधियारा जैसा बाहर वैसा भीतर भी
और डरा जाता है डरा हुआ मन
याद आ रही है वह ज्योति की किरन।

वह भी तो रात का समाँ था
जब तुमने गाया था प्रणयगान
अंधे, बहरे जंगल के सन्नाटों ने
दुहराया था वह प्रीतिगान
धुँधले गंदे कमरे की खिड़की के शीशों से
होकर आया था
वह भी तो निशि थी जब चाँद उतर
अंबर से अंक में समाया था
आज साफ शीशे हैं गा दो ना गीत प्रीत प्यार का
गूँज उठें तार और तारों के स्वन···
याद आ रही है वह ज्योति की किरन।

बार-बार दर्द के मदारी की
अश्रु बीन पर मुझसे प्रार्थना कराओ मत
एक बार आने को कह दो
कुछ जीने का ढंग सँभल जाए
फिर चाहे आओ मत
साँसों के लेप से नहीं भरता ज़ख्म
प्राण सीने का
ऐसा जीना भी कोई जीना है
रंग और होता है जीने का
जैसे हैं चारों-दिशा बियाबान वन
याद आ रही है वह ज्योति की किरन।

1954-55

नाकाम कोशिशें

दिल तुम्हें देखने को मुरझाता रहा
रोशनी पकड़ने को ललचाता रहा
जीने की आशा में मैं जीवित हूँ
जीने की आशा पर मैं जीवित हूँ

इसलिए हमेशा हाथ बढ़ाता रहा
काटता रहा बंधन के धागे को
इसलिए रहा बढ़ता मैं आगे को
पर अपने को पीछे ही पाता रहा।

गगन का गीत

गीत-सा उठकर
गगन-सा फैल जाऊँ—तुम मुझे गाओ।
भेंट कर दो
इन जनों को
प्यार के दो बोल सुनने को तरसते
जी रहे जो।

संभावित रचनाकाल : 1954-55

रुबाइयाँ

भविष्य

भूत-पूत वाली गलियों से गुज़र गिरा कुएँ में
वर्तमान फुँकता जाता है सिगरेट के धुएँ में
है भविष्य तम का कि डिग्रियाँ रखीं ताक पर शोभित
जीवन का ही दाँव लगा है जीवन के जुए में

बेरोज़गारी

जीवन में यदि कुछ है तो जड़ता ही है
यों तो पथ जड़ता का भी बढ़ता ही है
ये कविताएँ मेरी इच्छा का फल क्या
खाली होने पर लिखना पड़ता ही है

भुखमरी

जैसी टपरी वैसे ही अपने सभी के राग
धीरे-धीरे परिचित लगने लगे हृदय के दाग
यह युग है रात के दस बजे जैसा सूना शांत
सबके घर हैं मद्धिम लौ औ' बुझते हुए चिराग

पंचवर्षीय योजना

नौकरियाँ आ रही हैं नेतागण बुला रहे हैं
कल आप देखेंगे हम सब मुस्करा रहे हैं
तबीयत बहलाइए साहित्य से, क्या जल्दी है
पाँच वर्ष ये आए, ये आ रहे हैं।

समस्या

इनसे विद्रोह घृणा छिः छिः छिः पाप हैं
ये तो ऊँचाई और साधुता की माप हैं
ओ रे कमबख़्त कम्युनिस्टों भड़काते हो
इन मज़दूरों के तो ये ही माँ-बाप हैं।

संस्कृति

ऊपर उठने का हो इरादा गर पक्का
तो दो माँ-बापों को कुएँ में धक्का
उगने वाली इस तहज़ीब के करिश्मे
जग देखे होकर इकदम हक्का-बक्का।

संभावित रचनाकाल : 1954-55

गीत

जीवन की लहरों से बच-बचकर खेले हो
तट पर ही तूफान आ गया तो क्या होगा?

माना है मधुऋतु का शासन मन-उपवन में,
अगणित स्वर्ग सिमट आए हैं आलिंगन में,
भुजा पसार रहीं फूलों की आतुर पाँखें
अनुरागों की आग वासनाओं के वन में

तुम रस लूट रहे हो मधु की बरसातों का
तुम को अनुभव नहीं विपति के आघातों का

अधर-पटों पर गीत मिलन का गाते-गाते
कहीं विरह का गान आ गया तो क्या होगा?

दृग का आँगन, नाच रहीं सपनों की परियाँ,
चाह तुम्हारी ज्यों नभ-पथ भूली किन्नरियाँ,
आशाओं की धारा औ' मानस का सागर
तोड़ रहीं यौवन की सीमा लोल लहरियाँ,
तुम रस लूट रहे हो रस भीनी बातों का,
तुम को अनुभव नहीं विषम झंझावातों का

कूल कगारों की छाया में पथ बीता है
धारा में जलयान आ गया तो क्या होगा?

वर्तमान तक सीमित है विश्वास तुम्हारा
मिल सकता है मिट्टी में आकाश तुम्हारा
साफ और समतल जीवन की राहों तक ही
सीमित है प्रिय चलने का अभ्यास तुम्हारा
माना यह युग है ज्योतित-उल्कापातों का
तुमको अनुभव नहीं अभी काली रातों का

कहीं मरण के तममय भीषण बीहड़ पथ से
चलने का आह्वान आ गया तो क्या होगा?

'झंकार' के जनवरी, 1955 अंक में प्रकाशित

प्रेम कविता
(संदेश काव्य)

ओ री घटाओ
मेरे पास तक आओ
दिग्भ्रमित मत हो
यक्ष मैं नहीं हूँ

किसी पर्वत शृंग पर एकाकी
अरे,
इधर देखो तुम मानव हूँ
शहर के उत्तर में
यह जो टाट और टीनों के मकानों की बस्ती है
यहाँ मैं एक अच्छे-से कमरे में
लोहे की सलाखों के पीछे खड़ा होकर
तुम्हें बुलाता हूँ
ओ री घटाओ
ज़रा मेरे पास आओ
मुझे अपनी प्रिया के पास
एक संदेश भिजवाना है

रास्ता यों है—
रेल की पटरियों के किनारे
छह खंभों की गिनती
यहाँ से तुम
जाना पश्चिम में
मौजमपुर एक छोटा-सा स्टेशन है
उत्तर में उसके एक गाँव है नवादा
नदियों से घिरा
ऊबड़-खाबड़, सुंदर-सा
तुम वहाँ पहुँच जाना
तुम्हें रास्ते में
तपते हुए जिस्म वाले
कीचड़ में लोटते
नहाते ठंडे पानी से
बच्चे पुकारेंगे
खेतों में खड़े हुए
हाथ फैलाए हुए
पीली सूखती फसलों को
आँखों में भरे हुए
याचक-से आदमी निहारेंगे

तुम्हें उन पर तरस आ सकता है
किंतु तुम उनको भी पार कर जाना
वहाँ मत रुकना
तृषावंत हैं वे, तुमसे
उनकी तृष्णा बुझेगी नहीं
सिर्फ भड़क उठेगी
बीच-बीच में अकसर नगर मिलेंगे कई
वहाँ मत रुक जाना
व्यापारिक केंद्र
तुम्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे वे
क्योंकि तुम उनके लिए
और बड़े नगरों से 'भाव' ले जाओगे
साइकिल पर क्लर्कों की फाइलें भिगोओगे
किंतु उन्हें 'वर्षा' की छुट्टी मिलेगी नहीं
कपड़ों की किल्लत बढ़ जाएगी
अलबत्ता अध्यापक विद्यार्थी तुमको रोकेंगे
पढ़ने-पढ़ाने से ये जी चुराते हैं
वे तुम्हें उपेक्षा से हिकारत से देखेंगे
यही दृष्टिकोण है इस युग का

तुम बस चले जाना
क्योंकि मेरा संदेश तुम्हें पहुँचाना है
आज मेरे पास पोस्टकार्ड के लिए भी
तीन पैसे नहीं हैं
किंतु वहाँ जाकर यह सब मत कह देना

ओ री घटाओ
मेरे गाँव में जाना
मेरे फूस के महल में जाना
आँगन के बीच एक नीम का पौधा है
मेरा बच्चा उसकी छाँह में किलक रहा होगा
तुम वहाँ सुस्ताना,
उसके मुख पर हल्के-से चुंबन देना
उसके रेशमी बालों को धीमे सहलाना
देखो वहाँ कड़कना मत
मेरी रानी का हृदय कोमल है

बरसों से यहाँ शहर में मेरे पास आने के
स्वप्न देखा करती है
सहसा डर जाएगी
उसके सब स्वप्न बिखर जाएँगे

उससे मेरे विषय में बताना
मेरे हृदय में भी आग-सी जली है
लपटें उठती हैं
मन की सुख-शांति को जलाती हैं

चौंक-चौंक उठता हूँ मैं भी अनेक बार
मुझसे भी सहन नहीं होते हैं खाली क्षण
ज़रा हवा आती है
ज़रा द्वार बजते हैं
बाँहें अनायास उठ जाती हैं
और फिर मिथ्या का
अपनी विवशता का भास तनिक होते ही
उँगलियाँ ऐंठ-ऐंठ जाती हैं
बाँहों की नसें उभर आती हैं
सीने से माथे तक लाल हो जाता हूँ
टपक-टपक पड़ने को आँखों से
मेरे व्यक्तित्व-चिह्न व्याकुल हो उठते हैं
लेकिन बेबस-सा
फिर···
सिर पाटी से टकराता हूँ
घुटकर रह जाता हूँ
नहीं-नहीं ओ री घटाओ
ये सब मत कहना
सुनो! बहक गया था मैं
ये सब मत कहना

कहना···
सुख से हूँ। अगले महीने से
वेतन में पाँच की बढ़ोतरी हो जाएगी
मकान खोज लूँगा मैं शीघ्र

और अगले चौमासे में
उसे ले आऊँगा।

(क) यह कविता 'मेघदूत' के अनुकरण पर है और संभवतः किरतपुर इण्टर कॉलेज में पहली नौकरी हिंदी की अध्यापकी करते हुए लिखी गई।
(ख) प्रारंभिक जीवन की है। शादी हो चुकी है। मकान नहीं मिला है। पत्नी गाँव में है।
(ग) यह कविता बरसात में लिखी गई है।
(घ) यह आत्मपरक Lyrical Poem है। आवेग प्रचुरता है।

संभावित रचनाकाल : 1954-55

ये पथ टेढ़ा है

ये पथ टेढ़ा है—
हाँ, बेहद,
बड़ा कँटीला
चलते-चलते दोस्त!
सभी का साहस फीका हुआ
यहाँ अच्छे-अच्छों का
कौन ठिकाना तुम बच्चों का

इस पथ ने तो है मेरा हर छाला छीला
देखो हाँ मेरा मुख पीला
पहले वरना था मैं अद्भुत छैल-छबीला
बड़ा सजीला ज्वान कि जो देखे शरमाए
मैं तुमको देता हूँ पहले से समझाए
अरे इधर मत अपनी धारा को बहने दो
तुम कहानियाँ लिखो
ये कविताएँ बस मेरे ही लिए रहने दो
तुम कहानियाँ लिखो
शरत्चंद्र-से दिखो
गोर्की बनो और साहित्य-क्षेत्र में
नए दीप-से जलो···।

लेकिन इस मार्कंडेय के बच्चे ने
मेरी सारी सलाहों को ठुकरा दिया
और कमलेश्वर ने कहा—
वह चलता है तो चलने दो
तुम भी संग में उसके चलो।
खैर देखना है मुझको भी
अब वह क्या करके खाएगा
सच कहता हूँ पछताएगा मर जाएगा
ये कविताएँ नहीं सहल हैं

इनका लिखना
और फिर पढ़ना
और फिर गाना
है आसान नहीं इस विष की बूँद पचाना
लेकिन फिर भी नहीं मानता है
मनमानी करने दो
मरने दो···लेकिन

हुआ वही, हाँ सिवा, और होना ही क्या था
संग-संग चल सकता तो फिर रोना ही क्या था

संभावित रचनाकाल : 1954-55

रवि का साथ

जैसे बंद कमल खिल जाता पाकर रवि का साथ
उसी तरह खिल जाता तेरे आगे मेरा हाथ
एक यही कमज़ोरी इससे घृणा करो या प्यार
एक यही कमज़ोरी जिसके कारण मैं नत माथ

1956

कमलेश्वर के नाम

अगर किसी कारणवश मेरे पथ पीछे मुड़ जाएँ
संकल्पों के पंछी तन के पिंजरे से उड़ जाएँ
मरकर मेरे स्वप्न अगर दुर्गंध लगें फैलाने
दूषित होने लगें झोंपड़े महल नगर वीराने
तो फिर मेरी बाँह पकड़कर नई दिशा देना तुम
या मेरे हाथों से मेरी कलम छीन लेना तुम।[1]

1. कमलेश्वर और दुष्यंत की दोस्ती कैसी रही है, यह कविता उसका प्रमाण है। जिन दिनो यह कविता लिखी गई, दुष्यंत किरतपुर इंटर कॉलेज मे अध्यापकी कर रहे थे।/1956

स्वर-संबंध

तुमसे ज़्यादा मुझे भरोसा उन पर
मेरे दुश्मन हैं जो!
कल सितार के तार वासना के
सब ढीले हो जाएँगे
स्वर न उठेगा, पान-फूल से
पत्ते पीले हो जाएँगे।

मैं तो वह संगीत खोजने
की धुन में गुनगुना रहा हूँ
जो कि सभी का हो
पर मेरे स्वर से फूटे
जिसका रस उन्मुक्त धरा का
कण-कण लूटे।
तुम मेरी यह बाँह छोड़ दो
तुम स्वर का संबंध तोड़ दो

'कल्पना' (हैदराबाद), 1956

अंतिम क्षण तक

अंतिम क्षण तक
गा न सकूँगा
मैं तुमको बाँसुरी सदृश अधरों पर रखकर।

युग की कातर आँख तुम्हारी
इन कजरारी आँखों से ज़्यादा सुंदर है
मुझको मिला बुलावा
मैं जाऊँगा—
प्राण, तुम्हारी इन अतृप्त साधों से
मेरे युग की साध कहीं ऊपर है।
सदा नहीं रह सकती हो तुम
मेरी छाती पर फूलों की माला बनकर।

'कल्पना' (हैदराबाद) के जुलाई-अगस्त, 1956 अंक में प्रकाशित

तेरी सुधि

हवा की तरह
जो मेरे तन को छू जाती है
तृष्णा बुझाती है;
धरती की तरह
जो मेरा साहस बँधाती है
ज्योति फैलाती है;
चाँदनी की तरह
जो मुझे शीतल कर जाती है
और दुलराती है
वह तेरी सुधि है
जो रोज़-रोज़ आती है
मुझे जिलाती है।

मौन

मनों की दरारों को
मौन अनुल्लंघ्य बना देता है
दूरी बढ़ाकर…
तब फिर
शब्दों की आँच में तपकर
महासागरों में डूबकर
खंड-खंड होकर
आँखों की राह प्रगट होना पड़ता है।
जादू नहीं हैं शब्द
ऐसा भी संभव है
कभी चूक जाएँ ये
इसलिए नाता मेरे हृदय से जोड़ो
अपने मौन को तोड़ो।

हमें मिलना है

मुझे स्वीकार हैं
वे हवाएँ भी
जो तुम्हें शीत देती
और मुझे जलाती हैं।

किंतु उन हवाओं को
यह पता नहीं है
मुझमें ज्वालामुखी है
तुममें शीत का सागर है।
फूटा हूँ अनेक बार मैं
पर तुम कभी नहीं पिघली हो
अनेक अवसरों पर
मेरी आकृतियाँ बदली हैं
पर तुम्हारे माथे की

शिकनें वैसी ही रहीं—
तनी हुई!

तुम्हें जरूरत है—उस हवा की
जो गर्म है
और मुझे उसकी जो ठंडी!

दिसंबर, 1956, 'राष्ट्रवाणी' पुणे/कविता कवि के दूसरे कविता-संग्रह 'आवाज़ों के घेरे' में भिन्न पाठ के साथ प्रकाशित है।

मेरे लिए

नर्म...नाज़ुक रुएँ के दस्ताने-सी देह
मेरी ठंड में ठिठुरती हुई उँगलियाँ
धूप के प्रभाव-सी उगलती हुई तेरी हँसी
मेरी पाले से लदी दृष्टि

तेरा व्यक्तित्व एक/खुले हुए दिन-सा सहज
मैं...वर्षा से भीगा हुआ श्रम
माघ-पूस के दिनों में
तू एक और मौसम...मेरे लिए

समर्पित राह

मेरी यह राह समर्पित सूनेपन को
चुभती है यह खामोशी इस क्षण की मन में
चूड़ियाँ नहीं खनकीं मेरे आँगन में
खिड़कियाँ खुली ही नहीं, बंद दरवाज़े
आदेश दे रहे हैं मेरे जीवन को

पहले तो लगा कि अब आई तुम आकर
अब हँसी कि लहरें काँपी दीवारों पर
कुछ देर प्रतीक्षा की निढाल हो लेकिन
फिर मैंने फेंक दिया कुर्सी में तन को

अब सूना आँगन है गुमसुम साए हैं
कमरे के कोने पास खिसक आए हैं
अपने घर शायद तुमने भी सोचा हो
मेरी यह राह समर्पित सूनेपन को

1957

गीत

कितने दिन हो गए तुम्हारा कोई पत्र नहीं आया है
शायद पिछले संदर्भो से
नाते तोड़ लिए हैं तुमने
अथवा घूम गई हैं राहें
या फिर मोड़ लिए हैं तुमने

आशंकाएँ रोकूँ तो मन उत्कंठाओं से भर जाता है
सचमुच मेरी विकल प्रतीक्षाओं को तुमसे बहुत गिला है
बीत गई मोतिया सुबह वह
दिन से रात हुई है गहरी
शामें आँखों में रहती हैं
मन की राहों में दोपहरी

बदला वातावरण समूचा चारों ओर खिंचा सन्नाटा
कैसा प्यार जलाशय जिसमें खामोशी का कमल खिला है
सच है भौतिक आकर्षण भी
जिनमें जीवन ढल जाते हैं
पर क्या ऐसी आसानी से
मन के कोण बदल जाते हैं

इतनी बड़ी सच्चाई जिसने पूरे जीवन को मथ डाला
तुमको भ्रम लगती हो लेकिन मेरी तो आधारशिला है।

कहाँ रहे अब अपने
कहलाने वाले क्षण भी अब अपने
बस हर वक्त तुम्हारी बातें
सारी रात तुम्हारे सपने

वातावरण समूचा बदला लेकिन आकुलता ज्यों की त्यों
वैसा ही दर्द का कवच है, वैसा ही चाव का किला है

मैं चाहूँ तो मैं भी शायद
कुछ आकर्षण पा सकता हूँ
सुख के सपने पालूँ ऐसा
वातावरण बना सकता हूँ

लेकिन मुझसे ये कहता है मेरा अर्पित अहम् हमेशा
तेरा पूजन ही दोषी था जो ये पाहन नहीं हिला है

वे अफसाने क्या दुहराऊँ
भाग्य अलग हैं अपने-अपने
सूखे फूलों की माला है
पिछली बातें पिछले सपने

वे संदर्भ नहीं हैं लेकिन वह आकुलता ज्यों की त्यों है
वैसा ही दर्द का कवच है वैसा ही प्यार का किला है

कवि कहाँ हूँ मैं

दिवस, मासों और वर्षों के कड़ाहों में
मैं उबलता हुआ पानी हूँ
रात की मनहूस छाँहों में
बँधी अथवा खुली बाँहों में
विलग होने के लिए बेचैन अथवा
चार होने के लिए नतशिर निगाहों में
खदबदाता रहा

एक हल्की आँच ने
इस जन्म का हर पल छुआ
हर डूबता दिन छुआ
भागते कल को छुआ
प्रहर कोई भी नहीं बीता अछूता
भाप के संपर्क से

कवि कहाँ हूँ मैं
उबलता हुआ पानी हूँ
आह! मुझको मिली शीतलता न
जीवन खौलते बीता—बिना अवकाश,

सुख कहाँ
यों भाप बन-बनकर चुका, रीता
भटकता, छानता आकाश,

आह कैसा जटिल मेरा भाग
आग केवल आग, चहुँदिशि आग
नीचे आग, ऊपर आग
आग से बचकर बताओ कहाँ जाऊँ भाग

मार्च, 1957/'सूर्य का स्वागत' के बाद की रचना/इलाहाबाद

मुक्तक

और बहुत हैं उत्सुक आतुर
यहाँ शून्य को भरने वाले
भौतिक सुविधाओं पर झुकने
और विघ्नों से डरने वाले
मैंने तो माँगे कुछ बादल
अपने आँगन नहीं, जगत में
मेरी आग बढ़ाकर सारी
दुनिया का दुःख हरने वाले।

1957

इस मोड़ से तुम मुड़ गईं फिर राह सूनी हो गई!

इस मोड़ से तुम मुड़ गईं फिर राह सूनी हो गई!

मालूम था मुझको कि हर धारा नदी होती नहीं
हर वृक्ष की हर शाख फूलों से लदी होती नहीं
फिर भी लगा जब तक कदम आगे बढ़ाऊँगा नहीं,
कैसे कटेगा रास्ता यदि गुनगुनाऊँगा नहीं,
यह सोचकर सारा सफर, मैं इस कदर धीरे चला
लेकिन तुम्हारे साथ फिर रफ्तार दूनी हो गई!

तुमसे नहीं कोई गिला, हाँ, मन बहुत संतप्त है,
हर एक आँचल प्यार देने को नहीं अभिशप्त है,
हर एक की करुणा यहाँ पर काव्य की थाती नहीं
हर एक की पीड़ा यहाँ संगीत बन पाती नहीं
मैंने बहुत चाहा कि अपने आँसुओं को सोख लूँ
तड़पन मगर उस बार से इस बार दूनी हो गई!

जाने यहाँ, इस राह के, इस मोड़ पर है क्या वजह
हर स्वप्न टूटा इस जगह, हर साथ छूटा इस जगह
इस बार मेरी कल्पना ने फिर वही सपने बुने,
इस बार तो मैंने वही कलियाँ चुनी, काँटे चुने,
मैंने तो बड़ी उम्मीद से तेरी तरफ देखा मगर
जो लग रही थी ज़िंदगी दुश्वार दूनी हो गई!

इस मोड़ से तुम मुड़ गईं, फिर राह सूनी हो गई!

चाहे-अनचाहे

समझौता आदमी को तोड़ता है
कायर बनाता है
समझौता परिस्थिति से नहीं करूँगा मैं
जिस तरह जिऊँ जैसे हाल में

लेकिन जीने के लिए सिर्फ तुम्हें वरूँगा मैं
हटा दो मुझे चाहे दृष्टि पथ से
मेरे भाग्य लेख को पलट दो
कोरी तख्ती-सा रह जाऊँ मैं
कैशोर अधरों की प्रतीक्षा में
आँसुओं की बाढ़ में बह जाऊँ मैं
या कि तुम्हारी एकांत स्मृतियों के व्योम में
तारों-सा बुझूँ या कि चमकूँ
चाहे जीवन विष पिऊँ
जिस तरह जिऊँ
जैसे हाल में जिऊँ
लेकिन जीने के लिए सिर्फ तुम्हें वरूँगा मैं
किंतु जो तुम्हें दे चुका हूँ
अनुभूतियाँ वे वही रहेंगी
चाहोगी तब भी
मुझ तक लौट नहीं पाएँगी
किसी चिरप्रतीक्षित प्रिय गीत की प्रतिध्वनि-सा
सुनो! तुम्हारे निमिष/प्रहरों के आँगन में
चाहे-अनचाहे गूँज उठा करूँगा मैं

1957

कमलेश्वर के नाम : 1

यह परिस्थिति भी मुझे स्वीकार
हाँ, यह दर्द
हाँ, यह भार
यह गाढ़ी व्यथा का पर्त
मित्र! जीने के लिए
सुख नहीं कोई शर्त!

लो समर्पित तुम्हें हैं
मेरी व्यथाएँ झेलने वाली
अकुंठित शक्तियाँ
या अनुरक्ति
जो हमारे बीच
खाई हो चली थीं

मित्र!
ऐसा माँगकर देखो
तुम्हें तो दे न पाऊँ
वाग्विद होकर
सहज निस्तब्ध रह जाऊँ।

1957

माफ करना : 2

कल अगर तुम
अकारण इस ज़िंदगी को नर्म कर लो
सुमन-हासों से भरी अंजुली खोलो
कल अगर तुम
लिए खंडित आस्थाएँ यहाँ डोलो
किसी असफल बगुले की तरह
युग-कोलाहलों से दूर
निर्जन विजन में
खो जाओ
हो अचानक मूकता के कवच में आवृत्त

अर्थ-सी ध्वनियाँ न गूँजें
शब्द-सी वाणी न फूटे
स्वप्न-सा गत-स्वप्न
तुमको देखता रह जाए

प्राण! ईश्वर करे
ना ऐसी घड़ी भी आए
तब तुम्हें अहसास होगा
भूमि-अवनत दृष्टि का
बेबसी से घिरी
मेरी आज की इस अर्थ-बोझिल मूकता का
और नियमों से बँधी
इस व्यथा विरचित सृष्टि को

1957

फिर आऊँगा : 3

अवश भाव संपदा ही
तुमने दी मुझे
शून्य तरल अविदा ही
तुमने दी मुझे

आह! ये अनपेक्षित कच्चापन
गढ़कर
नया रूप देकर
फिर आऊँगा!

अभी सहज निश्छल
आत्मीय भावना से
दुःख जी कर
यही आग लेकर
फिर आऊँगा!

शंकित मत होना तुम
छोटा मत करना जी
मुझको तुमको लेकर
कहता हो कोई भी
लेकिन मैं

वक्त की तरी को
उस तट तक खेकर
फिर आऊँगा!

मैं जहाज़ का पंछी
और कहाँ जाऊँगा
लौट-लौट आऊँगा
इस सूने टापू पर

1957

तोड़ो मत : 4

मेरा अस्तित्व-बोध छेड़ो मत
रहने दो
भ्रम ही है
लेकिन यह तोड़ो मत
रहने दो
थोड़ी-सी पीड़ा ही होगी न?
कम से कम
ख़ुद को पैगंबर तो कह लूँगा!

1957

मेरा-तुम्हारा : 5

अनगिनती रूपों के
माध्यम से मेरे मन में उतरे हो
अनगिनती ध्वनियों को लेकर
बोले मुझसे
अनगिनती राहें हैं

जिनसे होकर
तुम आए हो मुझ तक

यों सहज तोड़ देना नाता
आसान नहीं
अनगिनती छवियाँ हैं कैसे चुन लोगे तुम
अनगिनती राहें हैं

मैं दिल को शीशा कहता हूँ
तो सौ क्या
चाहे सौ हज़ार
खंडों में हो जाए विभक्त
लेकिन हर टुकड़े में
प्रतिबिंबित होगे तुम

ये केवल मेरा तुम्हारा प्रश्न नहीं
जो कानाफूसी तक ही सीमित रह जाए।
आवाज़ लगाता हूँ अब
कोई उत्तर दे
आवाज़ लगाता हूँ
कोई सम्मुख आए
आवाज़ लगाता हूँ
चुप रहा नहीं जाता
अभिव्यक्ति बन गई घुटन
सहन की सीमा पर
हर पथ की रुँधी हुई भाषा से
ध्वनि आती
हर घर से उठती आवाज़ें बतलाती हैं
ये केवल मेरा और तुम्हारा प्रश्न नहीं
जो कानाफूसी तक ही सीमित रह जाए
कितनी दरार पड़ गई धरा की छाती पर
कितने ज्वालामुखियों के मस्तक विनत हुए

1957

समष्टि का ज्वार

मेरी आत्मा से निर्वासित
मेरे अहम्
उदास न हो तू

एक बूँद हूँ मैं
सागर में
मेरा कुछ अस्तित्व नहीं है
पर मेरा भी बोध जागता
जब-जब आता ज्वार कहीं है
मेरा भी मन करता अकसर
उठकर एक लहर बन जाऊँ
करके आयु समस्त संचयित
जय का एक प्रहर बन जाऊँ

आज कि ऐसे ही समष्टि में
मेरे अहम्
उदास न हो तू...

1957

कवियों के नाम : 1

मैंने तो यही कहा
कविता की पीड़ा से कहीं अधिक
गहरी पीड़ाएँ हैं जीवन
जो झेली जाती हैं बिना शर्त
बिना किसी आँसू के हर क्षण में

कविता से धर्म भला निभता है
पूरा हो पाता कर्तव्य कहीं!
कविता दस-पंद्रह को सुख देती
लेकिन दस-पंद्रह की सृष्टि नहीं
अंबर के आँचल को छोड़े .हम

धरती पर टिके हुए हाथ गहें
मैंने तो यही कहा—
लड़ें पक्षधर हो मानवता के
कवि भी औ' योद्धा भी हमीं रहें।

कवियों के नाम : 2

मुझे भली लगती है
सूरज की कभी-कभी चंदा की
कभी-कभी तारों की
अक्षय सौंदर्य राशि
लेकिन जब तेरी इस बुझी हुई प्रतिमा-सी सूरत पर
जिनमें थे कभी सूर्य
और चंद्र आलोकित
ध्यान चला जाता है।
तेरा सीमाओं में बँधा हुआ
मेघों से घिरा हुआ
धूल और अंधड़ से भरा हुआ
गगन याद आता है।
वही गगन जिसमें थे
तारे और सूर्य चाँद
वही सूर्य जिसका
अब इस तम से नाता है
माना मानवता यह
यों सोचा करता हूँ तो मन भर आता है

मैं कोई चाँद बनूँ
मैं कोई सूर्य बनूँ
मेरी ये कविताएँ
मात्र प्रतिक्रियाए हैं—ऐसे ही क्षणों की

1957

गगन : कालिख-पुता

सायकाल
फैला है नगर पर
पतंगों का जाल
नीली हरी पीली
श्वेत कबरी लाल
उलझे भाग्य जैसे पेच
इसमें जय-पराजय नहीं अपने हाथ
यह चरितार्थ होता है सभी के साथ
कटी मेरी मूल्यवान पतंग
गिरती जा रही है
व्योम में निस्संग
जैसे कह रही हो
यहाँ कौन किसके संग

मुझको इस गगन पर था बहुत विश्वास
लेकिन आह : अब क्या रहा मेरे पास
बस सांत्वना के बोल
शाम उदास...

1957

चिराग़ बालने का वक़्त हो गया

उदास हो गया गगन हवा थमी,
कि बढ़ गई अधिक ज़मीन की नमी।

नज़र कहीं मज़ार पर उलझ गई,
चिराग़ बालने का वक़्त हो गया।

सितारे आसमान में चमक उठे,
कि घर सँभालने का वक़्त हो गया।

1957

हम-आप जो कवि हैं

देखते नहीं हो यह फूलों की फसल
कब्रों पर चढ़ाने के लिए
उगाई गई।

मैं हवा के रथ पर सवार
दुनिया में घूमा हूँ
दुनिया जो चोटों के बावजूद
स्थिर है पिकासो की पेंटिंग्स की तरह

सुना कहीं बाढ़ आई है
बूँद-बूँद पानी को
तरस रहे हैं लोग

फिर भी गीत बुने जा रहे हैं
मौतों पर
गाने के लिए
(हम-आप कवि हैं।)

1957

पुतलियों पर दिनमान

जर्जर··पुरातन··विस्थापित
इस बूढ़े वृक्ष की
दूर तक फैली हुई
नंगी प्रतीक्षारत बाँहों-सी
टहनियों का विस्तार
हर क्षण तुम्हें निमंत्रण देता है

ओ मेरे मन की घाटियों में
'लुकाछिपी' खेलते हुए बच्चो
आओ··
उछलकर शाखें पकड़ लो

झूलो औ' इन्हें ज़मीन तक झुकाओ
इस दुर्दम घाटी में
आवाज़ लगाता हुआ थका
मेरे बाहुओं पर टिका
आकर डूबता दिनमान
मेरी पुतलियों पर टिका

अधूरी/1957

रात का संदेश

रात जब किसी का संदेशा ले
मेरे पास आई
तो मैंने कहा—वह घर में नहीं है!
हवा : आकर पास बोली संदेशा देना है
बतलाओ कहाँ है?
...कहीं है?
मैं : है, मैंने
उसे कहीं
घाटियों में अधूरे सपने बुनते, उलझते
जो शायद अब कभी पूरे न होंगे
ऐसी कल्पनाओं पर
सिर धुनते छोड़ा था
जो कभी किसी ने अनुभव न की होगी
हवा : कब तक लौटेगा?
मैं : जाने कब लौटे
न लौटे
इश्क का मुआमला है
संजीदा...
हवा : तो फिर हैं आप कौन
जो उसके घर में यों दखल
जमा बैठे हैं

मैं : उसकी आत्मा हूँ
चीलों-सी भटक रही हूँ
इस घर में
गलियों-चौराहों में भटक रही
मुझको सुख-चैन नहीं

वह तो कवि भी था
उसकी आकांक्षाएँ अधूरी
उसके कर्तव्य अधूरे रह गए
मरते वक्त उसकी ये इच्छा थी
कि वह अपने मुहल्ले पर एक गीत लिखे
तुम मुझे कहीं से एक कलम ला दो
ताकि उसकी''आत्मा''को शांति मिले

1957

नींद मेरी व्योम में सपने चुराकर खो गई है

नींद मेरी व्योम में सपने चुराकर खो गई है
सिंधु सूखा देख मेरी प्यास पागल हो गई है
उठ रहा है रेत का तूफान मैं खामोश लेकिन
यह न समझो आँधियों के साथ''हूँ मैं

इस समय को चीरकर जब दूर से तुमने पुकारा
हो उठा उन्मत्त हर स्वर मुड़ गई हर एक धारा
हर इरादा छोड़कर बैठा प्रतीक्षारत डगर पर
यह न समझो मैं ज़माने को बदल

अधूरी/1957

जीवित-अजीवित प्रश्न

खण्ड : 1
गेहूँ के दानों-से
धरती पर बिखर गए
जीवित-अजीवित प्रश्न
नहीं उगेंगे
अभी नहीं उगेंगे।
चित्र खिंचवाने को हँसी माँग लाए थे
ये तटस्थ मूक स्तब्ध चेहरे
इनसे नहीं मिलेगा
उत्तर···नहीं मिलेगा

ओ रे! प्रतीक्षारत सहधर्मा
अपने इन प्रश्नों को घाटी में बिखरा दे
पथरीली राहों में
फूलों पर पत्तों पर अंकित कर दे
हर जड़ में
अपनी जीवनमय ध्वनियाँ भर दे

खंड : 2
गीली नहीं हैं अभी बादलों की पलकें
भीगी नहीं हैं धरा आँसुओं के जल से
अभी विवशता की आँखों पर पट्टियाँ हैं
उत्तर अनपेक्षित है प्रश्न निष्फल से
उत्तर की करेंगे प्रतीक्षा हम कल से

1957

रकीब मित्र

वह परछाईं
जो अनायास उग आई थी

हम दोनों के बंधुत्व
अलग करने, छल थी
मेरे भाई
हम हार गए
परछाईं से।

इस मूक समय की छाती में दूर तक धँसी
हम दोनों के संबंधों की दृढ़ता
क्षणभंगुर भावों से
बिखर गई औ' टूट गई

1957

कोई तो

कोई तो सुनता होगा रुँधी हुई अकुलाती
जल, थल, नभ, वायु, अनल हर कण से आती
मेरी आवाज़ों को

इस घर का नहीं अगर उस घर का सही
किंतु मौन दुनिया में कहीं पर तो टूटेगा
ध्वनि का यह नन्हा बीज कहीं से फूटेगा
कहीं तो समुत्सुक होंगे ध्वनिग्राही कर्ण क्षेत्र
विवश मूकता के अश्रु जल से अभिसिंचित
कहीं तो समानता मिलेगी मेरे भावों को
कहीं व्यक्त होंगे ही बीज ये प्रतीक्षित
ध्वनि का यह नन्हा सा बीज यहीं कहीं फूटेगा
इस घर का नहीं अगर उस घर का सही
दुनिया में जहाँ कहीं हो मौन अवश्य टूटेगा।

1957

एक नज़्म

मैंने सोचा था सफ़ीने को ज़रा दम दे लूँ
तुमने भड़का दिया लहरों को 'तलातिम' कहकर
कुछ उमीदों के महल मैंने उठाए लेकिन
गम उठाया ही नहीं तेरा सहारा लेकर

अपनी सब उम्र उसी एक लम्हे में गई
अब रही जीस्त की ख्वाहिश न रहा मौत का डर

मुझको पहचाने भी अहबाब तो किस हालत पे
जब ज़माने में हुआ पस्त अदब में बेहतर

अपनी खामोशी का रह-रह के खयाल आता है
कौन ले जाएगा पैगामे मुहब्बत घर-घर

सितंबर 1956

बीता सपना

कोई तो सुनता होगा
मेरी आवाज़ों को

युग की समस्त मूकता को
चुनौती दे
क्षुद्र रूढ़ियों के नाग-फन
कुचलकर
मरुथल में खेता हुआ
प्यास की नौका को
आया उलाँघ कई सागर
गिरि-ज्वाल-शिखर
फिर भी सबसे नीचा स्वर!
मेरी विनम्रता है।

कोई तो सुनता होगा
यह··· ।
मन के मकड़े ने
जो जाले फैलाए थे
टूट गए
पगले विश्वासों ने
हाथों में हाथ जो थमाए थे
छूट गए
मंज़िल क्या थी पतंग
बच्चों से कुछ संभ्रम आए थे
लूट गए
वह सपना बीत गया

दंश-क्षेत्र

यहाँ से पाँच सौ मील दूर
एक छोटे-से गाँव मे
आँगन में उगे हुए नीम के तने को
अपनी छोटी-छोटी भुजाओं से घेरे
ऊपर चढ़ने की कोशिश करता हुआ
एक बच्चा मुझे याद कर रहा है
और वह बच्चा मेरा है

आज कई बार मैंने अपनी जेबें टटोलीं
कई बार स्टेशन की तरफ जाने की हिम्मत की
कई बार अपने घर का किराया पूछा
लेकिन बार-बार एक बड़ा भद्दा भारी हाथ
मेरे दिल की धड़कनों को
बेकाबू होने से रोकता रहा
बार-बार आगे-पीछे की स्थितियाँ
साँपों के फनों-सी सामने उठती रहीं
बार-बार मेरे घर का रास्ता

किसी अविजेय पर्वत शृंग-सा
उठकर ऊँचा होता गया
और मैं नहीं.गया
अब सब समझते हैं
कि उसकी आवाज़ें मुझ तक नहीं आ रहीं
जो अपनी तुतली भाषा में
किलकारी मारता हुआ
कभी चाँद पकड़ने की कोशिश करता है
कभी सूरज
और कभी पापा कहकर
जलते दीये की लौ को छू देता है
और कभी अपनी माँ के दर्द को

सच है
मेरे इस दर्द का अहसास
किसी को न हो
कोई मेरी तरह अपनी पत्नी को
धोखा न दे
(कि अगले मास मुझे नौकरी मिल जाएगी
और तुम यहीं मेरी पुतलियों में रहा करोगी)[1]

बेरोज़गारी के दिनों में इलाहाबाद में लिखी गई कविता/1957-58
1957/1. कविता के कुछ असंबद्ध अंश भी हैं—

(क) कमलेश्वर समझता है या मार्कडेय
और देशी जानती है
कि मेरा मौन भयावह हो उठा है
क्योंकि मैं पाँच सौ मील से
अपने बच्चे की आवाज़ें सुन सकता हूँ

(ख) लेकिन और कोई नहीं जानता
और कोई नहीं समझेगा
क्योंकि चाहे मै कविता अपने खून से ही लिखता हूँ
मगर अक्षरों के ज़बान नहीं है
और मैं कलात्मक दृष्टि से
बहुत कच्चा हूँ···

निष्क्रिय हम

फूल उगा रहे हैं हम
कब्रों पर चढ़ाने के लिए
गीत बुन रहे हैं हम
मौतों पर गाने के लिए
पाप कर रहे हैं हम
मंदिरों में जाने के लिए
युगों से निष्क्रिय हम बैठे
सुस्ताने के लिए

1957

असंबद्ध विचार

सच कहता हूँ मैं
एटम नहीं है
किंतु शब्द फट जाएँगे

कुंठित करो मत
मेरी संवेद्य-शक्तियों को यों
रक्त से परिचय कराकर

मेरा स्वभाव है स्वतंत्रता का
प्रेम का
विजय का

1957

कल्पान्तर

बचपन के दोस्त
अब भी
आते हैं कभी-कभी

बेतकल्लुफाना लहजे रिल गए
सोफों की गद्दियों में सिल गए
ज़िंदगी
किसी मोहब्बत के तोहफे-सी
रखता हूँ सँभालकर

घृणा नहीं प्यार किया करता हूँ
घर के दरवाज़े देखभाल कर

1957

प्रस्तरवत्

सहज सरल शब्दों की
आत्मीयता का पानी उतर गया
मेरा व्यक्तित्व हुआ
ड्राइंग रूम में रक्खी
पत्थर-सी मूर्ति सदृश
परदों की सिलवटों में
बेतकल्लुफ लहजे उलझ गए

अधूरी/1957

एक स्वप्न

गलियों सड़कों चौराहों पर
पार्कों स्टेशनों और बस अड्डों पर
फैक्टरियों कारखानों में
ऊपर उठी हुई अनगिन बाँहें
किसी विजयवाहिनी की पताकाओं सदृश
लहरा रही हैं

हँसते-मुस्कराते हुए चेहरे
चाँदनी रात का ताजमहल
अथवा संगम का नौका विहार
अथवा किसी अपूर्ण आकांक्षा
का फलवती होना शोभित कर रहे हैं
झूमते हुए पाँवों
तैरती हुई नज़रों का एक मेला
सुखद दृश्य, दुकानें
बहुरंगी हाट-बाट
फूल गाँव-घर-उपवन
सपनों-से गुब्बारे तिरते हैं
और मैं अपने महल की अटारी पर
खड़ा होकर जो
(झोंपड़ी से यकायक महल बन जाता है)
देख रहा हूँ लोगों के मुँह पर उल्लास
और कंठों से निकलती हुई संगीत की लहरियाँ

सुनता हूँ, सुनता हूँ, तो मुझे लगता है
मैं भी अनुभव करूँ...
मैं भी नाचूँ-हँसूँ
रस-भरे संगीत की परिधियों को चूमूँ
और उठा देता हूँ
अपनी दोनों बाँहें मैं भी
कि कुछ सुगंधित रूमाल
उलझ जाते हैं मेरी भी उँगलियों में
तभी पीछे से आहट-सी होती है
साड़ी के पल्लू-सी सरसराहट
इत्र-बसी लैवंडर की गंध
और एक प्याला मेरे होंठों के पास
प्रार्थना के लहजे में सरक-सा आता है
मगर मेरी उँगलियों में रूमाल है
उसकी अकल्पित गंध
पीना चाहता हूँ मैं
शराब नहीं

मैं चाहता हूँ
इत्र-बसे रूमाल की रसभीनी गंध में
अपनी ज़िंदगी क़े तल्ख
सब दुर्गंध भरे क्षण डुबा दूँ
भूल जाऊँ
कि मैं और मेरे भाई···
ऊँचे पहाड़ों की घाटियों के परिंदे थे
जिनकी खुशी मौसम की दया थी
कि मेरी आकांक्षाएँ
सिर्फ दो वक्त की रोटी थी
और आज महल की अटारी पर
खड़ा होकर शराब का यह प्याला
मेरे लिए महत्त्वहीन है
इसलिए मैं इंकार कर देता हूँ
इत्र-बसे उस रूमाल की धुन में।

अहसास की ज़िद!
मुट्ठियाँ बँध जाती हैं
और रूमाल उँगलियों के बीच,
चुरमुरा उठता है
वह रूमाल तो कागज़ का है
जिसमें पसीने की खुशबू बसी है
आँखें खोलकर सजग हो
भ्रम का निवारण करता हूँ
कि कुछ धुँधले-से अक्षर
उभर आते हैं
पढ़ रहा हूँ—चेतावनी
ओ परिंदो—सावधान
चारों ओर जाल
सावधान—हम नहीं ईश्वर हैं
मधु नहीं ज़हर हैं
और चौंक उठता हूँ

अक्षर-अक्षर मेरे आगे उठ आता है
आकृति पा लेता है
सावधान''फिर पढ़ता हूँ
और सहम जाता हूँ
महल की अटारी से
झूमती हुई नीचे अनगिनती बाँहों को
सहसा संबोधित कर उठता हूँ
लोग जो नशे में हैं
स्तब्ध हो जाते हैं
और देखते हैं मेरी ओर।

महल की अटारी पर
तभी चीख उठता हूँ—धोखा है। धोखा है। धोखा है।
तभी एक झटके से आँख खुल जाती है
मुझको झँझोड़ रही होती पत्नी
कहती है—कॉपी पर सिर धरकर सो गए
दिवास्वप्न देखने लगे हो बहुत
तुम तो कहते थे—कविता लिखूँगा
अब कहते हो धोखा है।

1957

विश्वासयुक्त

चमगादड़ हम नहीं
गगन के गिर जाने से आशंकित हो
उलटे लटक रहे हैं हम
छज्जों छत की कड़ियों से
पंखों पर आकाश ठहर पाएगा?
हमने कभी न सोचा
एक सुबह विश्वासयुक्त
भावना लपेटे हुए शॉल-सी
ठंडे झोंके अविश्वास के रोक रही है।

1957

ओ मेरे मन

जैसे अब तक जिए
व्यथा का यह क्षण भी जी लो
ओ मेरे मन
कड़वी दवा समझकर विष पी लो
तुम ही तो शंकर हो मुझमें
मेरे सगे तुम्हीं तो हो
तुमने

अधूरी/1957

मैं गली सुनसान

अभी होगा भग्न
दैत्याकार इस वातावरण का मौन
बस्तियों से
राजपथ की ओर कोई आ रहा है
एक···दो···दस नहीं
अनगिन पगों की एक जैसी आहटें
शब्द-स्वर को तरसते मेरे हृदय के लिए
संजीवन नहीं तो क्या
मैं गली सुनसान
राजपथ से उतरकर फैली हुई हूँ
दूर छोटी बस्तियों तक
दृष्टियों का व्यंग्य पीती हुई और अपमान

1957

बालू के टीलों से

जो धरती पाँवों के नीचे थी धसक गई
पर धरती थी...
उसका कुछ दोष नहीं
अपना ही था शायद
हम मज़बूती से खड़े नहीं थे
बिखर गए
धरती का मान नहीं कर पाए
हम दोनों

हम दोस्त
सिर्फ कहने भर को रह गए आज
छोटी-सी एक लहर आई
मामूली-सी
अंजुलि में भरकर पी सकते थे
हम दोनों या
जिसको जी सकते थे साँसों में लेकर
वह बाँध गई हमको अपनी सीमाओं में
जैसे हम दोनों की भरसक
है राह पृथक, है नियति पृथक!

बालू के टीलों से बिखरे हम दोनों ही
इस मरु में हम दुःख के भोक्ता हैं
जो समभोक्ता होते तो शायद कम होता
दुःख का बोझ उठाए
जो साथ-साथ होते
तो शायद कम लगता

जाने अब हम कब चेतेंगे
जाने कब अपनी सीमाओं को उलाँघ
वह हवा पकड़ लाएँगे
जो फिर बहे इधर
हम तीनों द्वीपों का यह पृथकत्व मिटाकर
एक रूप कर जाए फिर

मरु के बालू में फूँक मार
मध्यस्थ शून्य भर जाए फिर
जो हमें बताए लहरें तो आती ही हैं
उनको अंजुलि में ले
होंठों की तृष्णा को अर्पित कर दो
इनमें अंतर की प्यास नहीं बुझती
केवल ये ज्वाला भड़का देती हैं
फिर भी इनसे घबराने की कुछ बात नहीं

1957

ध्वनियाँ अंतिम क्षण तक

मैं भी यही चाहता हूँ
सफर तय हो
ऊँचा किए मस्तक!

चाहे दुहरानी पड़े
अथवा बनानी
राहें धोखा न दें भरसक।
पलकों पर धूल जम जाए
सपने न हों,
हाथों में शून्य रह जाए
अपने न हों

भीतर धुआँ हो केवल
धड़कन न हो,
पाँवों में कुछ हो लेकिन
कंपन न हो
चलूँ, चाहे कहीं तक।

काँच की तरह बिखरूँ
और बनूँ गल-गलकर
कुंदन हो जाऊँ;

फूटती रहें ध्वनियाँ मेरे अंतिम क्षण तक
ओ विषम परिस्थितियो, बल दो
योद्धा का धर्म प्रतिपालूँ
अपने तुम्हारे मरण तक
दुःख के साँचों में ढल-ढलकर
जैसे भी बने किंतु शक्तियाँ
घिसटती हुई सारी
पहुँचा दूँ इस रण तक

केवल यही कामना है
सफर तय हो
ऊँचा किए मस्तक
कोंचती रहे मुझको
पल-छिन

ये जगती धरती
बार-बार उत्तेजित करती यौवन को
रक्त में लगी आग मेरे
जलती रहे निशदिन
आयु गर्म पानी-सी खौलती-उबलती रहे
चाहे दुहरानी पड़े अथवा बनानी राहें
धोखा न दे भरसक।
सुनते हैं
मरती हुई ज़िंदगी
क्या न करती।

1957

न जाने तुम कहाँ

कब तलक इस भीड़ में मैं गुनगुनाऊँगा
एक कोलाहल भयंकर और भी तो है
छटपटाता हूँ अकेला खो न जाऊँ मैं
दर्द बाहर और भीतर और भी तो है

गुनगुनाऊँ और कब तक
और कब तक भीड़ में होकर खड़ा
मैं तुम्हारा नाम ले-लेकर पुकारूँगा
तुम कहाँ होगे न जाने तुम कहाँ होगे।

अधूरी/1957

जीवन भर तेरी आग जलेगी और दहूँगा मैं

मैं चाहे कितना ही अशक्त हो जाऊँ तेरे लिए
या अनगिनती खंडों में विभक्त हो जाऊँ तेरे लिए
दुनिया में ठहरा हुआ वक्त हो जाऊँ तेरे लिए
पर इन अधरों से कातर होकर 'उफ' न कहूँगा मैं

मेरी भौतिक सुविधाएँ चाहें तुझ पर व्यंग्य करें
आँखों में आँसू आएँ या लोहू के कण उभरें
जिन राहों पर तेरी गतियाँ पग रखती हुई डरें
पथ के पत्थर-सा उन राहों पर खड़ा रहूँगा मैं

अपने हर सुख हर पीड़ा पर ऐसा रंग लगाऊँगा
जब गाऊँगा, नाम तुम्हारा ही दुहराऊँगा
मर्यादाओं के व्योम उलँघ कर तुझ तक आऊँगा
आँसू अंधड़ तूफाँ कुछ हो, हर दर्द सहूँगा मैं

जीवन भर तेरी आग जलेगी और दहूँगा मैं

1957

दो भुजाओं की प्रतीक्षा

अब कहीं से दो भुजाएँ उठें, आएँ
और मेरी वेदना का भार ले लें
सकल अर्जित ज्ञान मान विचार ले लें
चेतना ले लें
कि इनको फिर नए संदर्भ, नूतन अर्थ हों उपलब्ध
जिनको पढ़ा जाए, सुना जाए
और यों वह ज़िंदगी फिर प्रतिष्ठा पाए।

आज ज्यों-ज्यों समय का पथ घट रहा है
और आगे बढ़ रहा हूँ मैं
उसी अनुपात में
कुछ क्लांति-सी महसूस होती है
सफर की धूल-सी कुछ चीज़ आँखों में उतरती
दृष्टि को निस्तेज करती है
और लगता है कि अब यह ज़िंदगी
कागज़ों की एक मोटी बड़ी फाइल-सी
नहीं पढ़ सकूँगा मैं
अब नहीं खुल सकेंगे वे अर्थ
जो पहले मिले थे
अब इसे अखबार-सा पढ़ना असंभव

आज चारों ओर मेरे
सघन तम
सर्प-सी कुंडली मारे
शून्य में किसको पुकारूँ
यहाँ ऐसी जगह कोई नहीं
इसको जहाँ रख दूँ
दो भुजाओं की प्रतीक्षा में खड़ा मैं सोचता हूँ
कहाँ रख दूँ
ज़िंदगी आखिर कहाँ पर फेंक दूँ?

संभावित रचनाकाल : 1957-5

दूसरा प्रारूप

प्रतीक्षा

कागज़ों की एक मोटी बड़ी फाइल-सी
ज़िंदगी अब पढ़ी जाती नहीं प्यारे
अब नहीं खुलते पुराने अर्थ
जब अख़बार-सा पढ़ लिया करता था उसे आद्यंत
सिगरेट के सहारे।

सोचता हूँ—
भार है यह ज़िंदगी
कहाँ रख दूँ
आखिर कहाँ पर फेंक दूँ?
दृष्टि के पथ पर महाजन-सा तिमिर है
हृदय में संशय निकट भय और निराशा
और कोई जगह ऐसी नहीं इसको जहाँ रख दूँ

1957

सहचरी ओ!

'सहचरी ओ!
तू प्रखर हो और
लाख मैं जलता उबलता रहूँ
पर तू तेज़तर हो और।'

बंधुओ! यों उबलने मे सुख नहीं कोई
उबलता हूँ क्योंकि है मुझको बड़ी उम्मीद
कभी मेरी भाप यह ढकना उलट देगी
(देगची से व्यक्तित्व को ढाँके हुए है जो)
करेगी आकृष्ट अपनी ओर
किसी 'न्यूटन' को
जो पुनः गति के नए प्रतिमान लेकर अवतरित होगा

(आज की मेरी और सहधर्मा अनेकों लेखकों की
बेबसी को अर्थ देगा।)

'सूर्य का स्वागत' प्रकाशित होने के बाद और रेडियो में नौकरी पाने से पूर्व की रचना। इलाहाबाद के दिनों की/1957

ज़िन्दगी का अर्थ

आज फिर ऐसा लगा
मुझमें बड़ी सामर्थ्य है
जी रहा हूँ जो कि मैं
उस ज़िंदगी का अर्थ है।

कल्पना ऐसी लगी जैसे
कि वह सपना नहीं,
सामने ठहरा हुआ
दुर्भाग्य ही अपना नहीं।

खिल उठे शैवाल के-से
फूल सूखी झील में
पंछियों के झुंड
मँडलाने लगे नभ नील में।

बिजलियाँ कौंधी नयन में
मन गगन-सा खिल गया
मौन का पर्वत हुआ मुखरित
हवा से हिल गया।

मुसकराने लग गई
मायाविनी-सी ज़िंदगी
एक तंद्रिल स्वप्नशीला
मोह-निद्रा से जगी

आज फिर ऐसा लगा
बाँहें बढ़ा दूँ सामने
शून्य में उत्सुक खड़ा
कोई सहारा थामने।

1957-58

मर्यादा-महल

यह मर्यादा का महल छलावा लगता है

आओ हम खोलें नए घरों के दरवाज़े
जो धरती पक्की है उस पर बुनियाद धरें
बस इतना साहस करें कि केवल डरें नहीं
जो हवा इधर आए उसको स्वीकार करें
जो छेड़े उसको माफ करें
हर परिवर्तन को विश्व अनैतिक कहता है
आओ हम अपने संबंधों को साफ करें
सँकरी सामाजिक गलियों में
ओढ़कर लबादा चलने से भय लगता है

'राष्ट्रवाणी' के नवंबर, 1957 अंक में प्रकाशित

दूसरा प्रारूप

आओ जो करना है होकर निर्द्वंद्व करें
कोई कुछ बोला—'क्या बोला?'
यह आत्म-वर्जना सबसे बड़ी दहाई है
हम व्यर्थ इकाई अपनी खंडित क्यों जानें
क्यों लोगों के भय से पार्थक्य सही मानें
क्यों घुलें मरें
वह सत्य नहीं जो हमें समझते हैं असत्य
सच है मेरी प्रेयसि अपनी आत्मा की ध्वनि
अपनी आस्था जो गुंजित होती है मन में
तन की भाषा का सत्य उतरता है तन में
भीतर का सत्य हमें बल देगा जीवन में
आओ मिलकर हम तुम निःशंक हवाओं में
अपना यह स्वर तैरा दें, 'हम हैं विलग नहीं'
आओ ये कवच उतारें हलके हो जाएँ

खुद को खुद छलते जाने का क्रम बंद करें
मिलकर जो कुछ भी करना है निर्विघ्न करें
यह मर्यादा महज़ छलावा लगता है
यह वर्तमान व्यक्तित्व हमारा क्या है
इस पर सोचो तो

मैंने सोचा जब कभी अकेले में पड़कर
चेतन की बंद पिटारी से
सर्प-सा जाग वास्तविक रूप आगे बढ़कर
मेरे प्रश्नों का उत्तर अपना फन फैला कर देता है
मेरे पौरुष के प्रति खुद मेरा मन मैला कर देता है

पुंसत्वहीन, कायर जाने क्या कुछ कहकर
संकोचों के पर्वत उलाँघ जाने कितने
जाने कितने मंतव्यों की हत्या सहकर
फिर भी प्रस्ताव तुम्हारे सम्मुख लाया हूँ जाने कितने
तुम अपने मन की खुद जानो
लेकिन मुझको नाते-रिश्ते आंदोलित करते नहीं ज़रा
अब ये भौतिक मर्यादाएँ
उस तीन शब्द का उच्चारण
उल्टा कचोटता है मुझको
अब छोड़ो भी उन बातों में कुछ नहीं धरा
वह मर्यादा का महल छलावा लगता है।

1957

आभार-प्रकाशन

पेट को भोजन
इच्छा को साधन
देने वाले ने क्या कम दिया!
प्रिये, जन तो हर हालत में असंतुष्ट!
कहते हैं तुमने सुख-चैन हरा मेरा
मुझको गमन दिया!

किंतु मैं किससे कहूँ—
हृदय, जिसने सहा दुःख, सहना सिखाया
और अभिव्यक्ति की नई काव्य-शैलियों को
जनम दिया—
मेरे पास कहाँ से आया

'कल्पना', मार्च, 1958 में प्रकाशित

ज़िंदगी कहाँ?

ज़िंदगी दिखाई देती है
कब्रों में या दरगाहों में
मंदिरों में या श्मशानों में
मिट्टी से दबी हुई
मिट्टी में मिली हुई
पूजा के बोलों पर काँपती
या घुटनों के बल झुकी हुई

'कल्पना', मार्च, 1958 में प्रकाशित

मापदंड बदलो

मेरी प्रगति या अगति का
यह मापदंड बदलो तुम,
जुए के पत्ते-सा
मैं अभी अनिश्चित हूँ।
मुझ पर हर ओर से चोटें पड़ रही हैं,
कोपलें उग रही हैं,
पत्तियाँ झड़ रही हैं,
मैं नया बनने के लिए खराद पर चढ़ रहा हूँ,
लड़ता हुआ
नई राह गढ़ता हुआ आगे बढ़ रहा हूँ।

अगर इस लड़ाई में मेरी साँसें उखड़ गईं,
मेरे बाजू टूट गए,
मेरे चरणों में आँधियों के समूह ठहर गए,
मेरे अधरों पर तरंगाकुल संगीत जम गया,
या मेरे माथे पर शर्म की लकीरें खिंच गईं,
तो मुझे पराजित मत मानना,
समझना—
तब और भी बड़े पैमाने पर,
मेरे हृदय में असंतोष उबल रहा होगा,
मेरी उम्मीदों के सैनिकों की पराजित पंक्तियाँ
एक बार और
शक्ति आज़माने को
धूल में खो जाने या कुछ हो जाने को
मचल रही होंगी।
एक और अवसर की प्रतीक्षा में
मन की कंदीलें जल रही होंगी।

ये जो चाँद-से फफोले तलुओं में दीख रहे हैं
ये मुझको उकसाते हैं।
पिंडलियों की उभरी हुई नसें
मुझ पर व्यंग्य करती हैं।
मुँह पर पड़ी हुई यौवन की झुर्रियाँ
कसम देती हैं।
कुछ हो अब, तय है—
मुझको आशंकाओं पर काबू पाना है,
पत्थरों के सीने में
प्रतिध्वनि जगाते हुए
परिचित उन राहों में एक बार
विजय-गीत गाते हुए जाना है…
जिनमें मैं हार चुका हूँ।

मेरी प्रगति या अगति का
यह मापदंड बदलो तुम
मैं अभी अनिश्चित हूँ।

रचनाकाल : 1955-56 'सूर्य का स्वागत' से

मेरी कुंठा
रेशम के कीड़ों-सी
ताने-बाने बुनती,
तड़फ-तड़फकर
बाहर आने को सिर धुनती,
स्वर से
शब्दों से
भावों से
औ' वीणा से कहती-सुनती,
गर्भवती है
मेरी कुंठा—क्वारी कुंती!

बाहर आने दूँ
तो लोक-लाज मर्यादा
भीतर रहने दूँ
तो घुटन, सहन से ज़्यादा,
मेरा यह व्यक्तित्व
सिमटने पर आमादा।

प्रसव-काल है
सघन वेदना!
मन की चट्टानों कुछ खिसको
राह बना लूँ;
ओ स्वर-निर्झर बहो कि तुममें
गर्भवती अपनी कुंठा का कर्ण बहा लूँ,
मुझको इससे मोह नहीं है
इसे विदा दूँ।

यह कुंठा का पुत्र अभागी!
मंगल-नाशक!
इसे उठाकर जो भी पालेगा
इसके हित कष्ट सहेगा

बुरा करेगा
द्रोही! घातक!!

प्राप्य-सत्य के लिए
महाभारत-सा जब-जब युद्ध छिड़ेगा,
यह कुंठा का पुत्र हमेशा
कौरव-दल की ओर रहेगा,
और लड़ेगा।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

एक स्थिति

हर घर में कानाफूसी औ' षड्यंत्र,
हर महफिल के स्वर में विद्रोही मंत्र,
क्या नारी क्या नर
क्या भू क्या अंबर
माँग रहे हैं जीने का वरदान,
सब बच्चे, सब निर्बल, सब बलवान,
सब जीवन सब प्राण,
सुबह दोपहर शाम।
'अब क्या होगा राम?'

कुछ नहीं समझ में आते हैं ऐसे राज़,
जिसके देखो अनजाने हैं अंदाज़,
दहक रहे हैं छंद,
बारूदों की गंध
अँगड़ाती-सी उठती है हर द्वार,
टूट रही हथकड़ियों की झंकार
आती बारंबार
जैसे सारे कारागारों का कर काम तमाम।
'अब क्या होगा राम?'

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

पराङ्मुखी प्रिया से

ओ पराङ्मुखी प्रिया!
कोरे कागज़ों को रँगने बैठा हूँ
असत्य क्यों कहूँगा
तुमने कुछ जादू कर दिया।

खुद से लड़ते
खुद को तोड़ते हुए
दिन बीता करते हैं,
बदली हैं आकृतियाँ
मेरे अस्तित्व की इकाई को
तुमने ही
एक से अनेक कर दिया!

उँगलियों में मोड़कर लपेटे हुए
कुंतलों-से
मेरे विश्वासों की
रूपरेखा यही थी?

रह-रहकर
मन में उमड़ते हुए
वात्याचक्रों के बीच
एकाकी
जीर्ण-पीत पत्तों-से
नाचते-भटकते मेरे निश्चय
क्या ऐसे थे?

ज्योतिषी के आगे
फैले हुए हाथ-सी
प्रश्न पर प्रश्न पूछती हुई—
मेरी ज़िंदगी,
क्या यही थी?

नहीं...
नहीं थी यह गति!
मेरे व्यक्तित्व की ऐसी अंधी परिणति!!

शिलाखंड था मैं कभी,
ओ पराङ्मुखी प्रिया!
सच, इस समझौते ने बुरा किया,
बहुत बड़ा धक्का दिया है मुझे
कायर बनाया है।

फिर भी मैं किस्मत को
दोष नहीं देता हूँ,
घुलता हूँ खुश होकर
चीखकर, उठाकर हाथ
आत्म-वंचना के इस दुर्ग पर खड़े होकर
तुमसे ही कहता हूँ—
मुझमें पूर्णत्व प्राप्त करती है
जीने की कला;
खंड-खंड होकर जिसने
जीवन-विष पिया नहीं,
सुखमय, संपन्न मर गया, जो जग में आकर
रिस-रिसकर जिया नहीं,
उसकी मौलिकता का दंभ निरा मिथ्या है
निष्फल सारा कृतित्व
उसने कुछ किया नहीं।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

अनुरक्ति

जब-जब श्लथ मस्तक उठाऊँगा
इसी विह्वलता से गाऊँगा।

इस जन्म की सीमा-रेखा से लेकर
बाल-रवि के दूसरे उदय तक
हतप्रभ आँखों के इसी दायरे में खींच लाना
तुम्हें मैं बार-बार चाहूँगा!

सुख का होता होगा स्खलन
दुःख का नहीं,
अधर-पुष्प होते होंगे—
गंध-हीन, निष्प्रभाव, छूछे···खोखले···अश्रु नहीं;
गेय मेरा रहेगा यही गर्व;
युग-युगांतरों तक मैं तो
इन्हीं शब्दों में कराहूँगा।

कैसे बतलाऊँ तुम्हें प्राण!
छूटा हूँ तुमसे तो क्या?
बाण छोड़ा हुआ
भटका नहीं करता!
लगूँगा किसी तट तो—
कहीं तो कचोटूँगा!
ठहरूँगा जहाँ भी—प्रतिध्वनि जगाऊँगा।
तुम्हें मैं बार-बार चाहूँगा!

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

कैद परिंदे का बयान

तुमको अचरज है—मैं जीवित हूँ!
उनको अचरज है—मैं जीवित हूँ!
मुझको अचरज है—मैं जीवित हूँ!

लेकिन मैं इसीलिए जीवित नहीं हूँ—
मुझे मृत्यु से दुराव था,
यह जीवन जीने का चाव था,
या कुछ मधु-स्मृतियाँ जीवन-मरण के हिंडोले पर
संतुलन साधे रहीं,
मिथ्या की कच्ची-सूती डोरियाँ
साँसों को जीवन से बाँधे रहीं;
नहीं—
नहीं!
ऐसा नहीं!!

बल्कि मैं ज़िंदा हूँ
क्योंकि मैं पिंजड़े में कैद वह परिंदा हूँ
जो कभी स्वतंत्र रहा है
जिसको सत्य के अतिरिक्त,
और कुछ दिखा नहीं,
तोते की तरह जिसने
तनिक खिड़की खुलते ही,
आँखें बचाकर,
भाग जाना सीखा नहीं;
अब मैं जिऊँगा
और यों ही जिऊँगा,
मुझमें प्रेरणा नई या बल आए न आए,
शूलों की शय्या पर पड़ा-पड़ा कसकूँ
एक पल को भी
कल आए न आए,

नई सूचना का मौर बाँधे हुए
चेतना ये, होकर सफल आए न आए,
पर मैं जिऊँगा नई फसल के लिए
कभी ये नई फसल आए न आए।

हाँ! जिस दिन पिंजड़े की
सलाखें मोड़ लूँगा मैं,
उस दिन सहर्ष
जीर्ण देह छोड़ दूँगा मैं!

रचनाकाल : 1955-56

धर्म

तेज़ी से एक दर्द
मन में जागा
मैंने पी लिया,
छोटी-सी एक खुशी

अधरों में आई
मैंने उसको फैला दिया,
मुझको संतोष हुआ
और लगा—
हर छोटे को
बड़ा करना धर्म है।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

ओ मेरी ज़िंदगी

मैं जो अनवरत
तुम्हारा हाथ पकड़े
स्त्री-परायण पति-सा
इस वन की पगडंडियों पर
भूलता-भटकता आगे बढ़ता जा रहा हूँ,
सो इसलिए नहीं
कि मुझे दैवी चमत्कारों पर विश्वास है,
या तुम्हारे बिना मैं अपूर्ण हूँ,
बल्कि इसलिए कि मैं पुरुष हूँ
और तुम चाहे परंपरा से बँधी मेरी पत्नी न हो,
पर एक ऐसी शर्त ज़रूर है,
जो मुझे संस्कारों से प्राप्त हुई,
कि मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता।

पहले
जब पहला सपना टूटा था,
तब मेरे हाथ की पकड़
तुम्हें ढीली महसूस हुई होगी।
सच,
वही तुम्हारे बिलगाव का मुकाम हो सकता था।
पर उसके बाद तो
कुछ टूटने की इतनी आवाज़ें हुईं

कि आज तक उन्हें ही सुनता रहता हूँ।
आवाज़ें और कुछ नहीं सुनने देतीं!
तुम जो हर घड़ी की साथिन हो,
तुमसे झूठ क्या बोलूँ?
खुद तुम्हारा स्पंदन अनुभव किए भी
मुझे अरसा गुज़र गया!
लेकिन तुम्हारे हाथों को हाथों में लिए
मैं उस समय तक चलूँगा
जब तक उँगलियाँ गलकर न गिर जाएँ।
तुम फिर भी अपनी हो,
वह फिर भी गैर थी जो छूट गई;
और उसके सामने कभी मैं
यह प्रगट न होने दूँगा
कि मेरी उँगलियाँ दगाबाज़ हैं,
या मेरी पकड़ कमज़ोर है,
मैं चाहे कलम पकड़ूँ या कलाई।

मगर ओ मेरी ज़िंदगी!
मुझे यह तो बता
तू मुझे क्यों निभा रही है?
मेरे साथ चलते हुए
क्या तुझे कभी ये अहसास होता है
कि तू अकेली नहीं?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

मैं और मेरा दुःख

दुःख :
किसी चिड़िया के अभी जन्मे बच्चे-सा;
किंतु सुख :
तमंचे की गोली जैसा
मुझको लगा है।

आप ही बताएँ
कभी आपने चलती हुई गोली को चलते,
या अभी जन्मे बच्चे को उड़ते हुए देखा है?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

शब्दों की पुकार

एक बार फिर
हारी हुई शब्द-सेना ने
मेरी कविता को आवाज़ लगाई—
"ओ माँ! हमें सँवारो!

थके हुए हम
बिखरे-बिखरे क्षीण हो गए,
कई परत आ गईं धूल की,
धुँधला-सा अस्तित्व पड़ गया,
संज्ञाएँ खो चुके…!

लेकिन फिर भी
अंश तुम्हारे ही हैं
तुमसे पृथक कहाँ हैं?
अलग-अलग अधरों में घुटते
अलग-अलग हम क्या हैं?
(कंकर, पत्थर, राजमार्ग पर!)
ठोकर खाते हुए जनों की
उम्र गुज़र जाएगी,
हसरत मर जाएगी यह—
'काश हम किसी नींव में काम आ सके होते,
हम पर भी उठ पाती बड़ी इमारत।'

ओ कविता माँ!
लो हमको अब
किसी गीत में गूँथो .

नश्वरता के तट से पार उतारो
और उबारो—
एकरूप शृंखलाबद्ध कर
अकर्मण्यता के दलदल से।
आत्मसात् होने को तुममें
आतुर हैं हम
क्योंकि तुम्हीं वह नींव
इमारत की बुनियाद पड़ेगी जिस पर।

शब्द नामधारी
सारे के सारे युवक, प्रौढ़ औ' बालक,
एक तुम्हारे इंगित की कर रहे प्रतीक्षा,
चाहे जिधर मोड़ दो
कोई उज़र नहीं है—
ऊँची-नीची राहों में
या उन गलियों में
जहाँ खुशी का गुज़र नहीं है—
लेकिन मंज़िल तक पहुँचा दो, ओ कविता माँ!
किसी छंद में बाँध
विजय का कवच पिन्हा दो, ओ कविता माँ!

धूल-धूसरित
हम कि तुम्हारे ही बालक हैं
हमें निहारो!
अंक बिठाओ,
पंक्ति सजाओ, ओ कविता माँ!"

एक बार फिर
मृत विश्वासों ने करवट ली,
सूने आँगन में कुछ स्वर शिशुओं-से दौड़े,
जाग उठी चेतनता सोई;
होने लगे खड़े वे सारे आहत सपने
जिन्हें धरा पर बिछा गया था झोंका कोई!

1956, 'सूर्य का स्वागत' से

दिग्विजय का अश्व

"—आह, ओ नादान बच्चो!
दिग्विजय का अश्व है यह,
गले में इसके बँधा है जो सुनहला पत्र
मत खोलो,
छोड़ दो इसको।

बिना समझे, बिना बूझे, पकड़ लाए
मूँज की इन रस्सियों में बाँधकर
क्यों जकड़ लाए?
क्या करोगे?

धनुर्धारी, भीम औ' सहदेव
या खुद धर्मराज नकुल वगैरा
साज सेना
अभी अपने गाँव में आ जाएँगे,
महाभारत का बनेगा केंद्र यह,
हाथियों से
और अश्वों के खुरों से,
धूल में मिल जाएँगे ये घर,
अनगिन लाल
ग्रास होंगे काल के,
मृत्यु खामोशी बिछा देगी,
भरी-पूरी फसल-सा यह गाँव
सब वीरान होगा।

आह! इसका करोगे क्या?
छोड़ दो!
बाग इसकी किसी अनजानी दिशा में मोड़ दो।
क्या नहीं मालूम तुमको
आप ही भगवान उनके सारथी हैं?"

"—नहीं, बापू, नहीं!
इसे कैसे छोड़ दें हम?

इसे कैसे छोड़ सकते हैं!!
हम कि जो ढोते रहे हैं ज़िंदगी का बोझ अब तक
पीठ पर इसकी चढ़ेंगे,
हवा खाएँगे,
गाड़ियों में इसे जोतेंगे,
लादकर बोरे उपज के
बेचने बाज़ार जाएँगे।

हम कि इसको नई ताज़ी घास देंगे।
घूमने को हरा सब मैदान देंगे।
प्यार देंगे, मान देंगे;
हम कि इसको रोकने के लिए अपने प्राण देंगे।

अस्तबल में बँधा यह निर्वाक् प्राणी!
उस 'चमेली' गाय के बछड़े सरीखा
आज बंधनहीन होकर
यहाँ कितना रम गया है!
यह कि जैसे यहीं जन्मा हो, पला हो।
आज हैं कटिबद्ध हम सब
फावड़े लाठी सँभाले।
कृष्ण, अर्जुन इधर आएँ
हम उन्हें आने न देंगे।
अश्व ले जाने न देंगे।"

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

चार मुक्तक

1

सँभल-सँभल के बहुत पाँव धर रहा हूँ मैं
पहाड़ी ढाल से जैसे उतर रहा हूँ मैं
कदम-कदम पे मुझे टोकता है दिल ऐसे
गुनाह कोई बड़ा जैसे कर रहा हूँ मैं।

2

तरस रहा है मन फूलों की नई गंध पाने को
खिली धूप में, खुली हवा में, गाने-मुसकाने को
तुम अपने जिस तिमिरपाश में मुझको कैद किए हो
वह बंधन ही उकसाता है बाहर आ जाने को।

3

गीत गाकर चेतना को वर दिया मैंने
आँसुओं से दर्द को आदर दिया मैंने
प्रीत मेरी आत्मा की भूख थी, सहकर
ज़िंदगी का चित्र पूरा कर दिया मैंने।

4

जो कुछ भी दिया अनश्वर दिया मुझे
नीचे से ऊपर तक भर दिया मुझे
ये स्वर सकुचाते हैं लेकिन तुमने
अपने तक ही सीमित कर दिया मुझे।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

दिन निकलने से पहले

''मनुष्यों जैसी
पक्षियों की चीखें और कराहें गूँज रही हैं,
टीन के कनस्तरों की बस्ती में
हृदय की शक्ल जैसी अँगीठियों से
धुआँ निकलने लगा है,
आटा पीसने की चक्कियाँ
जनता के सम्मिलित नारों की-सी आवाज़ में
गड़गड़ाने लगी हैं,
सुनो प्यारे! मेरा दिल बैठ रहा है।''

''अपने को सँभालो मित्र!
अभी ये कराहें और तीखी;

ये धुआँ और कड़ुआ,
ये गड़गड़ाहट और तेज़ होगी,
मगर इनसे भयभीत होने की ज़रूरत नहीं,
दिन निकलने से पहले ऐसा ही हुआ करता है।"

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

परिणति

आत्मसिद्ध थीं तुम कभी!
स्वयं में समोने को भविष्यत् के स्वप्न
नयनों से वेगवान सुषमा उमड़ती थी,
आश्वस्त अंतस की प्रतिज्ञा की तरह
तन से स्निग्ध मांसलता फूटी पड़ती थी
जिसमें रस था :

पर अब तो
बच्चों ने जैसे
चाकू से खोद-खोदकर
विकृत कर दिया हो किसी आम के तने को
गोंद पाने के लिए :

सपनों के उद्वेलन
बचपन के खेल बनकर रह गए;

शुष्क सरिता का अंतहीन मरुस्थल!
स्थिर··नियत··पूर्वनिर्धारित-सा जीवन-क्रम
तोष-असंतोष-हीन,

शब्द गए
केवल अधर रह गए;
सुख-दुःख की परिधि हुई सीमित
गीले-सूखे ईंधन तक,
अनुभूतियों का कर्मठ ओज बना
राँधना-खिलाना

यौवन के झनझनाते स्वरों की परिणति
लोरियाँ गुनगुनाना
(मुन्ने को चुपाने के लिए!)

किसी प्रेम-पत्र सदृश
आज वह भविष्यत्!
फर्श पर टुकड़ों में बिखरा पड़ा है
क्षत-विक्षत।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

वासना का ज्वार

क्या भरोसा
लहर कब आए?
किनारे डूब जाएँ?
तोड़कर सारे नियंत्रण
इस अगम गतिशील जल की धार—
कब डुबो दे क्षीण जर्जर यान?
(मैं जिसे संयम बताता हूँ)

आह! ये क्षण।
ये चढ़े तूफान के क्षण।
क्षुद्र इस व्यक्तित्व को मथ डालने वाले
नए निर्माण के क्षण!
यही तो हैं—
मैं कि जिनमें
लुटा, खोया, खड़ा खाली हाथ रह जाता,
तुम्हारी ओर अपलक ताकता-सा!

यह तुम्हारी सहज स्वाभाविक सरल मुस्कान!
कैद इसमें बिलबिलाते अनगिनत तूफान
इसे रोको प्राण।...
अपना यान मुझको बहुत प्यारा है!
पर सदा तूफान के सामने हारा है!

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

एक पत्र का अंश

मुझे लिखना
वह नदी जो बही थी इस ओर!
छिन्न करती चेतना की राख के स्तूप,
क्या अब भी वहीं है?
बह रही है?
—या गई है सूख वह
पाकर समय की धूप?

प्राण! कौतूहल बड़ा है,
मुझे लिखना,
श्वास देकर खाद
परती कड़ी धरती चीर
वृक्ष जो हमने उगाया था नदी के तीर
क्या अब भी खड़ा है?
—या बहाकर ले गई उसको नदी की धार
अपने साथ, परली पार?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

गीत तेरा

गीत तेरा मन कँपाता है।
शक्ति मेरी आज़माता है।

न गा यह गीत,
जैसे सर्प की आँखें
कि जिनका मौन सम्मोहन
सभी को बाँध लेता है,
कि तेरी तान जैसे एक जादू-सी
मुझे बेहोश करती है,
कि तेरे शब्द

जिनमें हू-ब-हू तस्वीर
मेरी ज़िंदगी की ही उतरती है;
न गा यह ज़िंदगी मेरी न गा,
प्राण का सूना भवन हर स्वर गुँजाता है,
न गा यह गीत मेरी लहरियों में ज्वार आता है।

हमारे बीच का व्यवधान कम लगने लगा
मैं सोचती अनजान तेरी रागिनी में
दर्द मेरे हृदय का जगने लगा;
भावना की मधुर स्वप्निल राह—
'इकली नहीं हूँ मैं आह!'
सोचती हूँ जब, तभी मन धीर खोता है,
कि कहती हूँ न जाने क्या
कि क्या कुछ अर्थ होता है,
न जाने दर्द इतना किस तरह मन झेल पाता है?
न जाने किस तरह का गीत यौवन तड़फड़ाता है?
न गा यह गीत मुझको दूर खींचे लिए जाता है।

गीत तेरा मन कँपाता है।
हृदय मेरा हार जाता है।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

जभी तो

नफरत औ' भेद-भाव
केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं रह गया है अब
मैंने महसूस किया है
मेरे घर में ही
बिजली का सुंदर औ' भड़कदार लट्टू—
कुरसी के टूटे हुए बेंत पर,
खस्ता तिपाई पर,
फटे हुए बिस्तर पर, छिन्न चारपाई पर,

कुम्हलाए बच्चों पर,
अधनंगी बीवी पर—
रोज़ व्यंग्य करता है,
जैसे वह कोई 'मिल-ओनर' हो।

जभी तो—मेरी नसों में यह खून खौल उट्ठा है,
बंकिम हुई हैं भौंह,
मैंने कुछ तेज़-सा कहा है;
यों मुझे क्या पड़ी थी
जो अपनी कलम को खड्ग बनाता मैं?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

मोम का घोड़ा

मैंने यह मोम का घोड़ा,
बड़े जतन से जोड़ा,
रक्त की बूँदों से पालकर
सपनों में ढालकर
बड़ा किया,
फिर इसमें प्यास और स्पंदन
गायन और क्रंदन
सब कुछ भर दिया,
औ' जब विश्वास हो गया पूरा
अपने सृजन पर,
तब इसे लाकर
आँगन में खड़ा किया!

माँ ने देखा—बिगड़ीं
बाबूजी गरम हुए;
किंतु समय गुज़रा
फिर नरम हुए।
सोचा होगा—लड़का है,
ऐसे ही स्वाँग रचा करता है।

मुझे भरोसा था मेरा है;
मेरे काम आएगा।
बिगड़ी बनाएगा।
किंतु यह घोड़ा!
कायर था थोड़ा
लोगों को देखकर बिदका, चौंका
मैंने बड़ी मुश्किल से रोका।

और फिर हुआ यह
समय गुज़रा, वर्ष बीते
सोचकर मन में—हारे या जीते,
मैंने यह मोम का घोड़ा,
तुम्हें बुलाने को
अग्नि की दिशाओं में छोड़ा।

किंतु जैसे ये बढ़ा
इसकी पीठ पर पड़ा
आकर
लपलपाती लपटों का कोड़ा,
तब पिघल गया घोड़ा
और मोम मेरे सब सपनों पर फैल गया।

रचनाकाल · 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

यह क्यों

हर उभरी नस मलने का अभ्यास
रुक-रुककर चलने का अभ्यास
छाया में थमने की आदत
यह क्यों?

जब देखो दिल में एक जलन
उल्टे-उल्टे-से चाल-चलन
सिर से पाँवों तक क्षत-विक्षत
यह क्यों?

जीवन के दर्शन पर दिन-रात
पंडित-विद्वानों जैसी बात
लेकिन मूर्खों जैसी हरकत
यह क्यों?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

मंत्र हूँ

मंत्र हूँ तुम्हारे अधरों में मैं!
एक बूँद आँसू में पढ़कर फेंको मुझको
ऊसर मैदानों पर
खेतों-खलिहानों पर
काली चट्टानों पर...
मंत्र हूँ तुम्हारे अधरों में मैं

आज अगर चुप हूँ
धूल भरी बाँसुरी सरीखा स्वरहीन, मौन;
तो मैं नहीं
तुम ही हो उत्तरदायी इसके।
तुमने ही मुझे कभी
ध्यान से निहारा नहीं,
छुआ या पुकारा नहीं,
छिद्रों में फूँक नहीं दी तुमने,
तुमने ही वर्षों से
अपनी पीड़ाओं को, क्रंदन को,
मूक, भावहीन बने रहने की स्वीकृति दी;
मुझको भी विवश किया
तुमने अभिव्यक्तिहीन होकर खुद!

लेकिन मैं अब भी गा सकता हूँ
अब भी यदि
होंठों पर रख लो तुम

देकर मुझको अपनी आत्मा
सुख-दुःख सहने दो,
मेरे स्वर को अपने भावों की सलिला में
अपनी कुंठाओं की धारा में बहने दो।

प्राणहीन है वैसे मेरा तन
तुमको ही पाकर पूर्णत्व प्राप्त करता है
मुझको पहचानो तुम
पृथक नहीं सत्ता है!
तुम ही हो जो मेरे माध्यम से
विविध रूप धरकर प्रतिफलित हुआ करते हो!

मुझको उच्चरित करो
चाहे जिन भावों में गढ़कर!
मंत्र हूँ तुम्हारे अधरों में मैं,
फेंको मुझको एक बूँद आँसू में पढ़कर।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

स्वप्न और परिस्थितियाँ

सिगरेट के बादलों का घेरा :
बीच में जिसके वह स्वप्न-चित्र मेरा—
जिसमें उग रहा सवेरा साँस लेता है,
छिन्न कर जाते हैं निर्मम हवाओं के झोंके;
आह : है कोई माई का लाल?
जो इन्हें रोके,
सामने आकर सीना ठोंके।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

अभिव्यक्ति का प्रश्न

प्रश्न अभिव्यक्ति का है,
मित्र!
किसी मर्मस्पर्शी शब्द से
या क्रिया से,
मेरे भावों, अभावों को भेदो
प्रेरणा दो!

यह जो नीला
ज़हरीला धुआँ भीतर से उठ रहा है,
यह जो जैसे मेरी आत्मा का गला घुट रहा है,
यह जो सद्य-जात शिशु-सा
कुछ छटपटा रहा है,
यह क्या है?
क्या है मित्र,
मेरे भीतर झाँककर देखो।
छेदो! मर्यादा की इस लौह-चादर को,
मुझे ढँके बैठी जो,
उठने मुस्कराने नहीं देती,
दुनिया में आने नहीं देती।

मैं जो समुद्र-सा
सैकड़ों सीपियों-को छिपाए बैठा हूँ,
सैकड़ों लाल मोती खपाए बैठा हूँ,
कितना विवश हूँ!
मित्र, मेरे हृदय का यह मंथन
यह सुरों और असुरों का द्वंद्व
कब चुकेगा?
कब जागेगी शंकर की गरल पान करने वाली करुणा?
कब मुझे हक मिलेगा
इस मंथन के फल को प्रगट करने का?

मूक!
असहाय!!
अभिव्यक्तिहीन!!!
मैं जो कवि हूँ
भावों-अभावों के पाटों में पड़ा हुआ
एकाकी दाने-सा
कब तक जीता रहूँगा?
कब तक कमरे के बाहर पड़े हुए गर्दखोरे-सा
जीवन का यह क्रम चलेगा?
कब तक ज़िंदगी की गर्द पीता रहूँगा?

प्रश्न अभिव्यक्ति का है मित्र!
ऐसा करो कुछ
जो मेरे मन में कुलबुलाता है
बाहर आ जाए।
भीतर शांति छा जाए।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

दीवार

दीवार, दरारें पड़ती जाती हैं इसमें
दीवार, दरारें बढ़ती जाती हैं इसमें
तुम कितना प्लास्टर औ' सीमेंट लगाओगे
कब तक इंजीनियरों की दवा पिलाओगे
गिरने वाला क्षण-दो क्षण में गिर जाता है,
दीवार भला कब तक रह पाएगी रक्षित
यह पानी नभ से नहीं धरा से आता है।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

आत्म-वर्जना

अब हम इस पथ पर कभी नहीं आएँगे।
तुम अपने घर के पीछे
जिन ऊँची-ऊँची दीवारों के नीचे
मिलती थीं, उनके साए
अब तक मुझ पर मँडलाए,
अब कभी न मँडलाएँगे।

दुःख ने झिझक खोल दी
वे बिनबोले अक्षर
जो मन की अभिलाषाओं को रूप न देकर
अधरों में ही घुट जाते थे
अब गूँजेंगे, कविता कहलाएँगे,
पर हम इस पथ पर कभी नहीं आएँगे।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

दो पोज़

सद्यस्नात तुम
जब आती हो
मुख कुंतलों से ढँका रहता है
बहुत बुरे लगते हैं वे क्षण जब
राहू से चाँद ग्रसा रहता है।

पर जब तुम
केश झटक देती हो अनायास
तारों-सी बूँदें
बिखर जाती हैं आसपास
मुक्त हो जाता है चाँद
तब बहुत भला लगता है।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

एक मनःस्थिति का चित्र

मानसरोवर की
गहराइयों में बैठे
हंसों ने पाँखें दीं खोल

शांत, मूक अंबर में
हलचल मच गई
गूँज उठे त्रस्त विविध-बोल

शीष टिका हाथों पर
आँख झपीं; शंका से
बोधहीन हृदय उठा डोल।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

पुनःस्मरण

आह-सी धूल उड़ रही है आज
चाह-सा काफिला खड़ा है कहीं
और सामान सारा बेतरतीब
दर्द-सा बिन-बँधे पड़ा है कहीं
कष्ट-सा कुछ अटक गया होगा
मन-सा राहें भटक गया होगा
आज तारों तले बिचारे को
काटनी ही पड़ेगी सारी रात

बात पर याद आ गई है बात

स्वप्न थे तेरे प्यार के सब खेल
स्वप्न की कुछ नहीं बिसात कहीं
मैं सुबह जो गया बगीचे में
बदहवास होके ,जो नसीम बही

पात पर एक बूँद थी, ढलकी,
आँख मेरी मगर नहीं छलकी
हाँ, बिदाई तमाम रात आई—
याद रह-रह के, कँपकँपाया गात

बात पर याद आ गई है बात

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

सूर्यास्त : एक इम्प्रेशन

सूरज जब
किरणों के बीज-रत्न
धरती के प्रांगण में
बोकर
हारा-थका
स्वेद-युक्त
रक्त-वदन
सिंधु के किनारे
निज थकन मिटाने को
नए गीत पाने को
आया,
तब निर्मम उस सिंधु ने डुबो दिया,
ऊपर से लहरों की अँधियाली चादर ली ढाँप
और शांत हो रहा।

लज्जा से अरुण हुई
तरुण दिशाओं ने
आवरण हटाकर निहारा दृश्य निर्मम यह!
क्रोध से हिमालय के वंश-वर्तियों ने
मुख लाल कुछ उठाया
फिर मौन सिर झुकाया
ज्यों—'क्या मतलब?'
एक बार सहमी

ले कंपन, रोमांच वायु
फिर गति से बही
जैसे कुछ नहीं हुआ!

मैं तटस्थ था, लेकिन
ईश्वर की शपथ!
सूरज के साथ
हृदय डूब गया मेरा।
अनगिन क्षणों तक
स्तब्ध खड़ा रहा वहीं
क्षुब्ध हृदय लिए।
औ' मैं स्वयं डूबने को था
स्वयं डूब जाता मैं
यदि मुझको विश्वास यह न होता-
'मैं कल फिर देखूँगा यही सूर्य
ज्योति-किरणों से भरा-पूरा
धरती के उर्वर-अनुर्वर प्रांगण को
जोतता-बोता हुआ,
हँसता, खुश होता हुआ।'

ईश्वर की शपथ!
इस अँधेरे में
उसी सूरज के दर्शन के लिए
जी रहा हूँ मैं
कल से अब तक!

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

सत्य

दूर तक फैली हुई है ज़िंदगी की राह
ये नहीं तो और कोई वृक्ष देगा छाँह
गुलमोहर, इस साल खिल पाए नहीं तो क्या!
सत्य, यदि तुम मुझे मिल पाए नहीं तो क्या!

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

क्षमा

"आह!
मेरा पाप-प्यासा तन
किसी अनजान, अनचाहे, अकथ-से बंधनों में
बँध गया चुपचाप।
मेरा प्यार पावन
हो गया कितना अपावन आज!
आह! मन की ग्लानि का यह धूम्र
मेरी घुट रही आवाज़!
कैसे पी सका
विष से भरे वे घूँट···?
जंगली फूल-सी सुकुमार औ' निष्पाप
मेरी आत्मा पर बोझ बढ़ता जा रहा है प्राण!
मुझको त्राण दो···
दो···त्राण···"

और आगे कह सका कुछ भी न मैं
टूटे-सिसकते अश्रु-भीगे बोल में
सब बह गए स्वर हिचकियों के साथ
औ' अधूरी रह गई अपराध की वह बात
जो इक रात···।
बाकी रहे स्वप्न भी
मूक तलुओं में चिपककर रह गए।
और फिर
बाँहें उठीं दो बिजलियों-सी
नर्म तलुओं से सटा मुख-नम
आया वक्ष पर उद्भ्रांत;
हल्की-सी 'टपऽटप' ध्वनि
सिसकियाँ
और फिर सब शांत···
नीरव···शांत···।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

कागज़ की डोंगियाँ

यह समंदर है।
यहाँ जल है बहुत गहरा।
यहाँ हर एक का दम फूल_आता है।
यहाँ पर तैरने की चेष्टा भी व्यर्थ लगती है।

हम जो स्वयं को तैराक कहते हैं,
किनारों की परिधि से कब गए आगे?
इसी इतिवृत्त में हम घूमते हैं,
चूमते हैं पर कभी क्या छोर तट का?
(किंतु यह तट और है)

समंदर है कि अपने गीत गाए जा रहा है,
पर हमें फुरसत कहाँ, जो सुन सकें कुछ!
क्योंकि अपने स्वार्थ की
संकुचित सीमा में बँधे हम,
देख-सुन पाते नहीं हैं
और का दुःख
और का सुख।

वस्तुतः हम हैं नहीं तैराक,
खुद को छल रहे हैं,
क्योंकि चारों ओर से तैराक रहता है सजग।

हम हैं नाव कागज़ की!
जिन्हें दो-चार क्षण उन्मत्त लहरों पर
मचलते देखते हैं सब,
हमें वह तट नहीं मिलता
(कि पाना चाहिए जो)
न उसको खोजते हैं हम।
तनिक-सा तैरकर
तैराक खुद को मान लेते हैं,
कि गलकर अंततोगत्वा
यहाँ उस ओर

मिलता है समंदर से जहाँ नीलाभ नभ,
नीला धुआँ उठता जहाँ,
हम जा पहुँचते हैं;
(मगर यह भी नहीं है ठीक से मालूम।)

कल अगर कोई
हमारी डोंगियों को ढूँढ़ना चाहे...
....?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

पर जाने क्यों

माना इस बस्ती में धुआँ है,
खाई है,
खंदक है,
कुआँ है :
पर जाने क्यों?
कभी-कभी धुआँ पीने को भी मन करता है;
खाई-खंदकों में जीने को भी मन करता है;
यह भी मन करता है—
यहीं कहीं झर जाएँ,
यहीं किसी भूखे को देह-दान कर जाएँ
यहीं किसी नंगे को खाल खींचकर दे दें
प्यासे को रक्त आँख मीच-मीचकर दे दें
सब उलीचकर दे दें
यहीं कहीं—!
माना यहाँ धुआँ है
खाई है, खंदक है, कुआँ है :
पर जाने क्यों?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

इनसे मिलिए

(नख-शिख वर्णन)

पाँवों से सिर तक जैसे एक जनून
बेतरतीबी से बढ़े हुए नाख़ून
कुछ टेढ़े-मेढ़े बैंगे दागिल पाँव
जैसे कोई एटम से उजड़ा गाँव
टखने ज्यों मिले हुए रक्खे हों बाँस
पिंडलियाँ कि जैसे हिलती-डुलती काँस
कुछ ऐसे लगते हैं घुटनों के जोड़
जैसे ऊबड़-खाबड़ राहों के मोड़
गट्टों-सी जंघाएँ निष्प्राण मलीन
कटि, रीतिकाल की सुधियों से भी क्षीण
छाती के नाम महज़ हड्डी दस-बीस
जिस पर गिन-चुनकर बाल खड़े इक्कीस
पुट्ठे हों जैसे सूख गए अमरूद
चुकता करते-करते जीवन का सूद
बाँहें ढीली-ढाली ज्यों टूटी डाल
अंगुलियाँ जैसे सूखी हुई पुआल
छोटी-सी गरदन रंग बेहद बदरंग
हर वक्त पसीने का बदबू का संग
पिचकी अमियों-से गाल लटे-से कान
आँखें जैसे तरकश के खुट्टल बान
माथे पर चिंताओं का एक समूह
भौंहों पर बैठी हरदम यम की रूह
तिनकों-से उड़ते रहने वाले बाल
विद्युत परिचालित मखनातीसी चाल
बैठे तो फिर घंटों जाते हैं बीत
सोचते प्यार की रीत भविष्य अतीत

कितने अजीब हैं इनके भी व्यापार
इनसे मिलिए ये हैं दुष्यंत कुमार।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

माया

दूध के कटोरे-सा चाँद उग आया
बालकों सरीखा यह मन ललचाया।
(आह री माया!
इतना कहाँ है मेरे पास सरमाया?
जीवन गँवाया!)

यह कवि कालिदास की तरह उपमाओं का मास्टर है।
रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

संधिस्थल

साँझ।
दो दिशाओं से
दो गाड़ियाँ आईं
रुकीं।

'यह कौन?'
देखा कुछ झिझक संकोच से
पर मौन।

'तुमुल कोलाहल भरा यह संधिस्थल धन्य!'
दोनों एक-दूजे के हृदय की धड़कनों को
सुन रहे थे शांत,
जैसे ऐंद्रजालिक-चेतना के लोक में
उद्‌भ्रांत।

चल पड़ी फिर ट्रेन।
मुख पर सद्यनिर्मित झुर्रियाँ
स्पष्ट-सी हो गईं दोनों ओर दुःख की।
फड़फड़ाते रह गए स्वन पीत अधरों में।
व्यग्र उत्कंठा सभी कुछ जानने की,
पूछने की घुट गई।

आँसू भरी नयनों की अकृत्रिम कोर,
दोनों ओर :
देखा दूर तक चुपचाप, रोके साँस,
लेकिन आ गया व्यवधान बन
सहसा क्षितिज का छोर—
मानव-शक्ति के सीमान का आभास,
और दिन बुझ गया।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

संतोष

ये अंगुलियों में फँसा-सा स्वप्न
चाहे बिखर जाए,
ये मुरझकर झर रहे - से फूल
चाहे छूट जाएँ
सब अधूरे स्वप्न चाहे अधूरे रह जाएँ
लेकिन दाह थोड़ी और सहने को मिले

और राहें भी कहाँ तक साथ देती हैं
अगर पथ अवरुद्ध होता है यहीं
तो हो रहे;
सुख कहाँ है ज़िंदगी में
अगर इतना भोग्य था
तो क्या बुरा?
किंतु बेघरबार भी जीवन जिया जाता नहीं हमसे
एक घर तो कहीं रहने को मिले।

हाथ में मोती न आएँ भले
आएँ कीट - कंकर - धूल
यदि अभावों का किनारा मिले
तो भी कुछ नहीं प्रतिकूल
कुछ संतोष तो हो

नहीं कुछ भी नहीं अपना दाय
अपना प्राप्य हमको यही कहने को मिले।

संभावित रचनाकाल : 1956-58

प्रेरणा के नाम

तुम्हें याद होगा प्रिय
जब तुमने आँख का इशारा किया था
तब
मैंने हवाओं की बागडोर मोड़ी थी,
खाक में मिलाया था पहाड़ों को,
शीस पर बनाया था एक नया आसमान,
जल के बहावों को मनचाही गति दी थी…
किंतु—वह प्रताप और पौरुष तुम्हारा था—
मेरा तो नहीं था सिर्फ़!

जैसे बिजली का स्विच दबे
औ' मशीन चल निकले,
वैसे ही मैं था बस,
मूक…विवश…,
कर्मशील इच्छा के सम्मुख
परिचालक थे जिसके तुम।

आज फिर हवाएँ प्रतिकूल चल निकली हैं,
शीष फिर उठाए हैं पहाड़ों ने,
बस्तियों की ओर रुख फिरा है बहावों का,
काला हुआ है व्योम,
किंतु मैं करूँ तो क्या?
मन करता है—उठूँ,
दिल बैठ जाता है,
पाँव चलते हैं
गति पास नहीं आती है,

तपती इस धरती पर
लगता है समय बहुत विश्वासघाती है,
हौसले, मरीज़ों की तरह छटपटाते हैं,
सपने सफलता के,
हाथ से कबूतरों की तरह उड़ जाते हैं
क्योंकि मैं अकेला हूँ
और परिचालक वे अंगुलियाँ नहीं हैं पास
जिनसे स्विच दबे
ज्योति फैले या मशीन चले।

आज ये पहाड़!
ये बहाव!
ये हवा!
ये गगन!
मुझको ही नहीं सिर्फ
सबको चुनौती हैं,
उनको भी जगे हैं जो
सोए हुओं को भी—
और प्रिय तुमको भी
तुम जो अब बहुत दूर
बहुत दूर रहकर सताते हो!

नींद ने मेरी तुम्हें व्योम तक खोजा है
दृष्टि ने किया है अवगाहन कण-कण में
कविताएँ मेरी बंदनवार हैं प्रतीक्षा की
अब तुम आ जाओ प्रिय
मेरी प्रतिष्ठा का तुम्हें हवाला है!

परवा नहीं है मुझे ऐसे मुहीमों की
शांत बैठ जाता बस—देखतें रहना
फिर मैं अँधेरे पर ताकत से वार करूँगा
बहावों के सामने सीना तानूँगा,
आँधी की बागडोर
नामुराद हाथों में सौंपूँगा।
देखते रहना तुम,

मेरे शब्दों ने हार जाना नहीं सीखा
क्योंकि भावना इनकी माँ है,
इन्होंने बकरी का दूध नहीं पिया
ये दिल के उस कोने में जन्मे हैं
जहाँ सिवाय दर्द के और कोई नहीं रहा।

कभी इन्हीं शब्दों ने
ज़िंदा किया था मुझे
कितनी बढ़ी है इनकी शक्ति
अब देखूँगा
कितने मनुष्यों को और जिला सकते हैं?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

सूचना

कल माँ ने यह कहा—
कि उसकी शादी तय हो गई कहीं पर,
मैं मुसकाया वहाँ मौन
रो दिया किंतु कमरे में आकर
जैसे दो दुनिया हों मुझको
मेरा कमरा औ' मेरा घर।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

समय

नहीं!
अभी रहने दो!
अभी यह पुकार मत उठाओ!
नगर ऐसे नहीं हैं शून्य! शब्दहीन!
भूला-भटका कोई स्वर

अब भी उठता है—आता है!
निस्वन हवा में तैर जाता है!

रोशनी भी है कहीं?
मद्धिम-सी लौ अभी बुझी नहीं,
नभ में एक तारा टिमटिमाता है!

अभी और सब्र करो!
जल नहीं, रहने दो!
अभी यह पुकार मत उठाओ!
अभी एक बूँद बाकी है!
सोतों में पतली-सी धार प्रवहमान है!
कहीं-कहीं मानसून उड़ते हैं!
और हरियाली भी दिखाई दे जाती है!
ऐसा नहीं है बंधु!
सब कहीं सूखा हो!
गंध नहीं :
शक्ति नहीं :
तप नहीं :
त्याग नहीं :
कुछ नहीं—
न हो बंधु! रहने दो
अभी यह पुकार मत उठाओ!
और कष्ट सहो।

फसलें यदि पीली हो रही हैं तो होने दो
बच्चे यदि प्यासे रो रहे हैं तो रोने दो
भट्ठी-सी धरती की छाती सुलगने दो
मन के अलावों में और आग जगने दो
कार्य का कारण सिर्फ इच्छा नहीं होती...!
फल के हेतु कृषक भूमि धूप में निरोता है
हर एक बदली यूँ ही नहीं बरस जाती है!
बल्कि समय होता है!

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

आँधी और आग

अब तक ग्रह कुछ बिगड़े-बिगड़े-से थे इस मंगल-तारे पर
नई सुबह की नई रोशनी हावी होगी अँधियारे पर
उलझ गया था कहीं हवा का आँचल जो अब छूट गया है
एक परत से ज़्यादा राख नहीं है युग के अंगारे पर।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

अनुभव-दान

"खँडहरों-सी भावशून्य आँखें
नभ से किसी नियंता की बाट जोहती हैं।
बीमार बच्चों-से सपने उचाट हैं;
टूटी हई ज़िंदगी
आँगन में दीवार से पीठ लगाए खड़ी है;
कटी हुई पतंगों से हम सब
छत की मुँडेरों पर पड़े हैं।"

बस! बस!! बहुत सुन लिया है।
नया नहीं है ये सब मैंने भी किया है!
अब वे दिन चले गए,
बालबुद्धि के वे कच्चे दिन भले गए!
आज हँसी आती है!

व्यक्ति की आँखों में
कैद कर लेने की आदत पर,
रूप को बाँहों में भर लेने की कल्पना पर,
हँसने-रोने की रातों पर,
पिछली बातों पर,
आज हँसी आती है!

तुम सबकी ऐसी बातें सुनने पर,
रुई के तकियों में सिर धुनने पर,
अपने हृदयों को भग्न घोषित कर देने की आदत पर,
गीतों से कॉपियाँ भर देने की आदत पर,
आज हँसी आती है!

इस सबसे दर्द अगर मिटता
तो रुई का भाव तेज़ हो जाता।
तकियों के गिलाफों को कपड़े नहीं मिलते।
भग्न-हृदयों की दवा दर्जी सिलते।
गीतों से गलियाँ ठस जातीं।

लेकिन,
कहाँ वह उदासी अभी मिट पाई!
गलियों में सूनापन अब भी पहरा देता है,
पर अभी वह घड़ी कहाँ आई!

चाँद को देखकर काँपो
तारों से घबराओ
भला कहीं यूँ भी दर्द घटता है!
मन की कमज़ोरी में बहकर
खड़े-खड़े गिर जाओ
खुली हवा में न आओ
भला कहीं यूँ भी पथ कटता है!

झुकी हुई पीठ,
टूटी हुई बाँहों वाले बालक-बालिकाओ सुनो!
खुली हवा में खेलो।
चाँद को चमकने दो, हँसने दो।

देखो तो
ज्योति के धब्बों को मिलाती हुई
रेखा आ रही है,
कलियों में नए-नए रंग खिल रहे हैं,
भौंरों ने नए गीत छेड़े हैं,
आज बाग-बगीचे, गलियाँ खूबसूरत हैं।
उठो तुम भी

हँसी की कीमत पहचानो
हवाएँ निराश न लौटें।

उदास बालक-बालिकाओ सुनो!
समय के सामने सीना तानो,
झुकी हुई पीठ
टूटी हुई बाँहों वाले बालको आओ
मेरी बात मानो।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

उबाल

गाओ...!
काई किनारे से लग जाए
अपने अस्तित्व की शुद्ध चेतना जग जाए
जल में
ऐसा उबाल लाओ...!

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

सत्य बतलाना

सत्य बतलाना
तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका?
क्यों नहीं बताई राह?

क्या उनका किसी देशद्रोही से वादा था?
क्या उनकी आँखों में घृणा का इरादा था?
क्या उनके माथे पर द्वेष-भाव ज़्यादा था?
क्या उनमें कोई ऐसा था जो कायर हो?

या उनके फटे वस्त्र तुमको भरमा गए?
पाँवों की बिवाई से तुम धोखा खा गए?
जो उनको ऐसा गलत रास्ता सुझा गए!
जो वे खता खा गए।
सत्य बतलाना
तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका?
क्यों नहीं बताई राह?
वे जो हमसे पहले इन राहों पर आए थे,
वे जो पसीने से दूध से नहाए थे,
वे जो सचाई का झंडा उठाए थे,
वे जो लौटे तो पराजित कहाए थे,
क्या वे पराए थे?
सत्य बतलाना
तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका?
क्यों नहीं बताई राह?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

फूल ये कमल के

मालिक हैं जल के
फूल ये कमल के

किरनें उतरीं तो पहले इनके घर आईं
इंद्रधनुष के रंगों की छवि इन पर छाई
पहले ये जागे फिर भौंरे रस पागे
गुन-गुन स्वर छलके
फूल ये कमल के

यह चाँदी जैसा जल जाना-पहचाना

कलियों का फूलों के संग रहना-खाना
गाते हैं संग-संग फिर हँसते

सिर धुनते शोक में मचल के
फूल ये कमल के

चाहे जो चूमे इनको प्यार करे
सूँघे इनको या गलहार करे
एक साथ खिलते हैं
थमते फिर हिलते हैं
लहरों के बीच कहीं रहते सम्हल के
फूल ये कमल के

1955-56

तीन दोस्त

सब बियाबान, सुनसान अँधेरी राहों में
खंदकों, खाइयों में
रेगिस्तानों में, चीख-कराहों में
उजड़ी गलियों में
थकी हुई सड़कों में, टूटी बाँहों में
हर गिर जाने की जगह
बिखर जाने की आशंकाओं में
लोहे की सख्त शिलाओं से
दृढ़ औ' गतिमय
हम तीन दोस्त
रोशनी जगाते हुए अँधेरी राहों पर
संगीत बिछाते हुए उदास कराहों पर
प्रेरणा-स्नेह उन निर्बल टूटी बाँहों पर
विजयी होने को सारी आशंकाओं पर
पगडंडी गढ़ते
आगे बढ़ते जाते हैं
हम तीन दोस्त पाँवों में गति-सत्वर बाँधे
आँखों में मंज़िल का विश्वास अमर बाँधे।

हम तीन दोस्त
आत्मा के जैसे तीन रूप,
अविभाज्य—भिंन्न।
ठंडी, सम अथवा गर्म धूप
ये त्रय प्रतीक
जीवन-जीवन का स्तर भेदकर
एकरूपता को सटीक कर देते हैं।
हम झुकते हैं
रुकते हैं चुकते हैं लेकिन
हर हालत में उत्तर पर उत्तर देते हैं।

हम बंद पड़े तालों से डरते नहीं कभी
असफलताओं पर गुस्सा करते नहीं कभी
लेकिन विपदाओं में घिर जाने वालों को
आधे पथ से वापस फिर जाने वालों को
हम अपना यौवन अपनी बाँहें देते हैं
हम अपनी साँसें और निगाहें देते हैं
देखें—जो तम के अंधड़ में घिर जाते हैं
वे सबसे पहले दिन के दर्शन पाते हैं।
देखें—जिनकी किस्मत पर किस्मत रोती है
मंज़िल भी आखिरकार उन्हीं की होती है।

जिस जगह भूलकर गीत न आया करते हैं
उस जगह बैठ हम तीनों गाया करते हैं
देने के लिए सहारा गिरने वालों को
सूने पथ पर आवारा फिरने वालों को
हम अपने शब्दों में समझाया करते हैं
स्वर-संकेतों से उन्हें बताया करते हैं—
'तुम आज अगर रोते हो तो कल गा लोगे
तुम बोझ उठाते हो, तूफान उठा लोगे
पहचानो धरती करवट बदला करती है
देखो कि तुम्हारे पाँव तले भी धरती है।'

हम तीन दोस्त इस धरती के संरक्षण में
हम तीन दोस्त जीवित मिट्टी के कण-कण में

हर उस पथ पर मौजूद जहाँ पग चलते हैं
तम भाग रहा दे पीठ दीप-नव जलते हैं
आँसू केवल हमदर्दी में ही ढलते हैं
सपने अनगिन निर्माण लिए ही पलते हैं।

हम हर उस जगह जहाँ पर मानव रोता है
अत्याचारों का नंगा नर्तन होता है
आस्तीनों को ऊपर कर निज मुट्ठी ताने
बेधड़क चले जाते हैं लड़ने मर जाने
हम जो दरार पड़ चुकी साँस से सीते हैं
हम मानवता के लिए ज़िंदगी जीते हैं।

ये बाग बुज़ुर्गों ने आँसू औ' श्रम देकर
पाले से रक्षा कर पाला है गम देकर
हर साल कोई इसकी भी फसलें ले खरीद
कोई लकड़ी, कोई पत्तों का हो मुरीद
किस तरह गवारा हो सकता है यह हमको
ये फसल नहीं बिक सकती है निश्चय समझो।
...हम देख रहे हैं चिड़ियों की लोलुप पाँखें
इस ओर लगीं बच्चों की वे अनगिन आँखें
जिनको रस अब तक मिला नहीं है एक बार
जिनका बस अब तक चला नहीं है एक बार
हम उनको कभी निराश नहीं होने देंगे
जो होता आया अब न कभी होने देंगे

ओ नई चेतना की प्रतिमाओ, धीर धरो
दिन दूर नहीं है वह कि लक्ष्य तक पहुँचेंगे
स्वर भू से लेकर आसमान तक गूँजेगा
सूखी गलियों में रस के सोते फूटेंगे।

हम अपने लाल रक्त को पिघला रहे और
यह लाली धीरे-धीरे बढ़ती जाएगी
मानव की मूर्ति अभी निर्मित जो कालिख से
इस लाली की परतों में मढ़ती जाएगी
यह मौन
शीघ्र ही टूटेगा

जो उबल-उबल-सा पड़ता है मन के भीतर
वह फूटेगा,
आता ही निशि के बाद
सुबह का गायक है,
तुम अपनी सब सुंदर अनुभूति सँजो रखो
वह बीज उगेगा ही
जो उगने लायक है।

हम तीन बीज
उगने के लिए पड़े हैं हर चौराहे पर
जाने कब वर्षा हो कब अंकुर फूट पड़े,
हम तीन दोस्त घुटते हैं केवल इसीलिए
इस ऊब घुटन से जाने कब सुर फूट पड़े।

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

उसे क्या कहूँ

किंतु जो तिमिर-पान
औ' ज्योति-दान
करता-करता बह गया
उसे क्या कहूँ
कि वह सस्पंद नहीं था?

और जो मन की मूक कराह
ज़ख्म की आह
कठिन निर्वाह
व्यक्त करता-करता रह गया
उसे क्या कहूँ
गीत का छंद नहीं था?

पगों की संज्ञा में है
गति का दृढ़ आभास,
किंतु जो कभी नहीं चल सका

दीप-सा कभी नहीं जल सका
कि यूँ ही खड़ा-खड़ा ढह गया
उसे क्या कहूँ
जेल में बंद नहीं था?

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

सत्यान्वेषी

फेनिल आवर्तों के मध्य
अजगरों से घिरा हुआ
विष-बुझी फुंकारें
सुनता-सहता,
अगम, नीलवर्णी,
इस जल के कालियादह में
दहता,
सुनो, कृष्ण हूँ मैं,
भूल से साथियों ने
इधर फेंक दी थी जो गेंद,
उसे लेने आया हूँ
        (आया था
        आऊँगा)
लेकर ही जाऊँगा!

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

नई पीढ़ी का गीत

जो मरुस्थल आज अश्रु भिगो रहे हैं,
भावना के बीज जिस पर बो रहे हैं,
सिर्फ मृग-छलना नहीं वह चमचमाती रेत!

क्या हुआ जो युग हमारे आगमन पर मौन?
सूर्य की पहली किरण पहचानता है कौन?
अर्थ कल लेंगे हमारे आज के संकेत।

तुम न मानो शब्द कोई है न नामुमकिन
कल उगेंगे चाँद-तारे, कल उगेगा दिन,
कल फसल देंगे समय को, यही 'बंजर खेत'

रचनाकाल : 1955-56, 'सूर्य का स्वागत' से

सूर्य का स्वागत

आँगन में काई है,
दीवारें चिकनी हैं, काली हैं,
धूप से चढ़ा नहीं जाता है,
ओ भाई सूरज! मैं क्या करूँ?
मेरा नसीबा ही ऐसा है!

खुली हुई खिड़की देखकर
तुम तो चले आए,
पर मैं अँधेरे का आदी,
अकर्मण्य···निराश···
तुम्हारे आने का खो चुका था विश्वास।

पर तुम आए हो—स्वागत है!
स्वागत!···घर की इन काली दीवारों पर!
और कहाँ?
हाँ, मेरे बच्चे ने
खेल-खेल में ही यहाँ काई खुरच दी थी
आओ—यहाँ बैठो,
और मुझे अपने अभद्र सत्कार के लिए क्षमा करो।
देखो! मेरा बच्चा
तुम्हारा स्वागत करना सीख रहा है।

'निकष-2' में प्रकाशित/रचनाकाल : 1956, 'सूर्य का स्वागत' से

साँप आस्तीनों में

1

हमने पाले साँप आस्तीनों में
दूध पिलाया
खुले हुए आँगन में छोड़ा
पक्का फर्श उखाड़
बनाए उनके लिए रास्ते
उनको अपना माना
पर ये साँप रहे
उनके दाँतों से विष न गया
हमने तोड़े नहीं
इन्होंने उन्हें प्रयोग किया

आज नसों में व्याप गया जो
वह अपनी उदारता का विष है
इसे उतारो कड़ुवे-कड़ुवे
घूँट पियो

2

साँप पालेंगे
सुनो हम साँप पालेंगे
उसे मारो मत
घर के सहन में छोड़ दो
बड़ा होने दो
बालकों के साथ
वे इसे अपनत्व दें
आगे कभी जब ज़िंदगी में
उन्हें साँप मिलें परायापन न मानें
डरें-झिझकें नहीं
उचककर हाथ में ले लें
तोड़ दें विष के अनिष्टकारी दाँत
और यों साँप पालेंगे।

1957

अंततोगत्वा

आह! जब मैं सोचता हूँ
देखता महसूस करता हूँ
वे व्यथाएँ
पूर्णतः छंदित नहीं जो हो सकीं

वह तड़फ जो नसों में
सौ बिजलियों-सी कौंधती है
एक कविता में नहीं छाई
वह घुटन जो
आत्मा से प्राण तक पीड़ित किए है
किसी भी उपमान में बिंबित नहीं
वह जिसे मैं जी रहा हूँ
तेज़ होती हुई आँधी का
समूचे साहित्य में इंगित नहीं
और लगता है कि मैं कवि नहीं
मुझमें काकगत कौशल नहीं है
क्योंकि मैं यह मानता हूँ
किसी साहित्य में भी
सचाई से अधिक तो बल नहीं है

सोचता हूँ मै अगर कुछ छंद
जिनमें शुद्ध यति-गति ही जुटा लूँ
अलंकारों को पुरानी
किसी पुस्तक से उठा लूँ
और उनको जोड़कर रख दूँ
किसी के सामने तो
क्या उसे कविता कहेंगे?

इसलिए मैं सच कहूँ तो
कुछ विरत हूँ
हाँ! मुझे दुःख जिस जगह भी दीखता है
दफ्तरों में काम करते
या कि सड़कों पर विचरते
नौकरी की खोज में अथवा

किसी की बुझी आँखों की
अखंडित मौनता में
उसे अपने क्षुब्ध मन को शांति देने के लिए लिखता रहा हूँ
इस प्रकाशन से भले ही क्षणिक भार-विहीन हो लूँ
किंतु फिर भी यही लगता है कि
मेरे पास सुनने को समस्याएँ बहुत हैं
हल नहीं है
है अकृत्रिम वेश
धनपतियों का मायागत कौशल नहीं है

1956-57

कवि

ज़िंदगी का शिखर
जिसका बहुत खड़ा ढलान
थी फिसलती आ रही
तूफान-सी चट्टान।

सोचकर यह—हो न जाएँ
ये नगर वीरान
इसलिए मैंने किया अवरोध
सीना तान।

बोझ इतना आ पड़ा सहसा
कि निकलें प्राण
लोग समझे मुझे
प्रतिमा का मिला वरदान।

सह रहा हूँ आज तक
वह भार मैं चुपचाप
एक दिन खुल जाएगा
यह सत्य अपने आप।

1957

गीत

सीमाओं में बँधा नहीं हूँ धरती मेरा देश है।
मेरे कवि का धर्म जागरण है औ' जन-उन्मेष है।

मुझसे पूछ रहे हो—'ओ कवि!
हर सिंगार के फूल क्या हुए
और हुआ क्या मधु गीतों को?'
मेरा उत्तर है कि—'बंधुओ!
तृप्ति नहीं दी जा सकती है
प्रणय-गीत गा-गाकर इन भूखों-रीतों को!'
रूमालों की परिधि बहुत छोटी होती है
संघर्षों का स्वर मेरा संदेश है!

देशकाल की सीमाओं से परे
समय के लिए
लिखी हैं ये कविताएँ,
इस दुनियाँ में रहने वाले
अवशेषों की ओर फेरकर मुँह
भविष्य को भूल न जाएँ,
स्वप्न नहीं टक्कर सह सकते तूफानों की
कारणवश ही मेरी कविताओं का बदला वेश है।

कदम-कदम पर सुनता हूँ
बजती खतरे की घंटी
आगत बोल रहा है,
प्रगति-पंथ की हर सीढ़ी पर
बैठा है ज़हरीला विषधर
अपना जबड़ा खोल रहा है,
मैं इससे संत्रस्त, सजग करता हूँ युग को
ये चाहे 'इजिप्ट' में काटे, होता मुझको क्लेश है!

1956-57

किंतु तुम

कितनी भी घटा घेर ले चाहे
दिनकर को
दिन फिर भी दिन ही कहलाता है
रात नहीं।
थोड़ी-सी उमस
और थोड़ा-सा धुआँ
आँधी-तूफ़ान, गर्म साँसें औ' आहें
अनगिन सदमें, असफलताएँ
सब मुझ तक आए
कितनी बड़ी हैं मेरी प्रतिमा की बाँहें
कल क्या कहेंगे लोग

सोचा होता तुमने
मेरा क्या?
यों भी धर्म है जीना
निबाहूँगा जब तक चाहूँगा

किंतु तुम?
भारमुक्त समझती हो जिसको
वह यौवन
बार-बार आँखों से उफन-उफनकर
आड़े न आएगा राहों में
प्रश्नचिह्न बनकर
पूछेगा नहीं क्या
लोग क्या कहेंगे
राहें बना लीं तुमने
राहें मिटा दीं तुमने

किंतु व्यथा दान करते समय
कृपण क्यों हुई तुम प्राण

1957

शिलालेख

मैं हूँ वह शिलालेख
विस्फोटातुर ज्वालामुखी पर्वत के अंतर में
बोझ की तहों के तले दबा हुआ
जिस पर इस युग की परिभाषाएँ
इच्छाएँ, आशाएँ
कुंठाएँ, घुटन, वेदनाएँ
सब अंकित हैं।

कल जब यह ज्वालामुखी उबल पड़ेगा।
तब मैं प्रगट हूँगा
लोगों को मेरा अस्तित्व बोध होगा तब
बोझ की तहों के तले दबा हुआ
मैं हूँ शिलालेख केवल
मेरा प्रगट होना
वक्त का तकाज़ा है,
काल का नियम है।

मुझ पर रक्ताभ चमचमाते हुए शब्दों में
लिखा है भविष्य
लिखा है कि मानव
अंततोगत्वा मानव है

शब्दावली कार्यशाला

मात्र अस्थियों का खिलौना नहीं,
गति औ' तूफानों की गर्दनों में बाँहें डाले
शक्ति का स्वामी है,
चाट का दोना नहीं,

लिखा है कि युग-सत्य
एक दिन विलुप्त हुई शक्ति पहचानेगा''फहरेगा

लिखा है कि झुके हुए माथे उठेंगे कभी
आसमान से चलकर सूरज यहीं ठहरेगा।

यह कविता किसी पत्र के उत्तर में अशर्फी कुँवर, चौमुखा पुल, मुरादाबाद को लक्ष्य कर लिखी गई है/1957

ये कविताएँ

सोचा करता हूँ
ये कविताएँ
क्या मैंने स्वयं रची हैं

क्या मेरा ही सोचा-समझा
इनमें व्यक्त हुआ है

क्या मेरा ही दिल-दिमाग था
क्या मेरी ही यह थी वाणी
क्या मेरी ही पीड़ाओं से,
छंद-बोध संपृक्त हुआ है?

यों विश्वास नहीं होता है
पर लगता है कुछ था जिसने
मेरी चेतनता को गहरे
झटके से झकझोर दिया था
आँखों में तिर आई दुनिया
प्राणों में तुम, तुमने मेरी?

पीली डायरी/अधूरी/1957-58

फिर भी व्यथा

तुम कैसे लिखं पाते हो ऐसी कविताएँ
मैंने तो सोचा नहीं कभी
शायद मेरे दाएँ-बाएँ
जो कुछ है वही उजागर होगा इनमें भी
ये कविताएँ!
इनमें कोई जादू-टोना या कोई कारीगरी नहीं
ये अलंकार या शब्द-बिंब और उपमाओं से भरी
तुमने देखा होगा घर में
या अपने घर के आस-पास
कुछ चेहरे फिरते हैं उदास
उन पर ममत्व मन में आ जाया करता हे
जो दिन भर छाया रहता है
बस वही उजागर होता होगा इनमें भी
जीवन में मेरी अपनी कोई व्यथा नहीं
मैं छंदों में तड़फूँ या कागज़ रँग डालूँ
फिर भी तो व्यथा छलकती है कविताओं में
वह मेरी नहीं तुम्हारी है
तुम लोगों के ही क्षण मैं भी तो जीता हूँ
मत समझो तुम अपने को एकाकी हरगिज़
मैं भी तुम लोगों के समान ही जीता हूँ
मैंने कोशिश की नहीं कभी बस यों ही
ये फूट पड़ी है जलसोते-सी अनायास
बालिका समझकर कलम अंगुली पकड़ा दी
अब अपने पाँवों चलने लगी समझती है
हँसती-रोती है देख-देखकर आस-पास
मालूम नहीं इसका भविष्य अब कैसा हो
इनमें कोई जादू या कारीगरी नहीं
सच पूछो तो
कोई भी लिख सकता है ऐसी कविताएँ
जिसका दिल मेरे जैसा हो।

1957

एक बिंदु जिस पर हम

प्रिय, इस उदासी का अर्थ क्या है?
आँखों में तैरता रहे आकाश
मन में आकांक्षाएँ,
बाँहों में अनचीन्ही बिजलियाँ
सपने दाएँ-बाएँ
प्रिय, इस उदासी का अर्थ क्या है?

धरती पर जलते रहें पाँव
वन में कलियाँ
हड्डियों से तापती रहें अलाव ठंडी गलियाँ
प्रिय, इस उदासी का अर्थ क्या है?

एक बिंदु जिस पर हम तुम मिलते हैं इन दिनों
अपने अहम् के तुंग-शृंग से उबरकर
मौन की अभेद्य दीवारें लाँघ
ये गली का नल है
लोहे की कल है
हमारे प्यार का केंद्र

अधूरी/1957

मर्मस्पर्शी

ओ मेरे प्रश्नातुर मन
देख यह निर्जन घाटी
गहन वन
प्रश्नों को बिखरा दे यहाँ
कंठ के पूरे बल से
उत्तर मिलेगा नहीं कोई
जब गूँजेंगे
प्रश्नों पर प्रश्न
मर्मस्पर्शी सरल

अपूर्ण/1957

प्रस्तुतकर्ता : 1

मैं, संस्कृत ज्ञानहीन
विश्रुत किसी श्लोक की पंक्ति सदृश
अनबूझे अर्थ और कल के अविज्ञात नाम दोहराता
वाकशून्य हतसंज्ञा
निद्रित, अचेतन के स्तर पर
खड़ा होकर
अंकित करने में तुम्हारा नाम
क्या से क्या लिख जाता बार-बार
वरना जहाँ खड़ा हूँ
वहाँ सतह नहीं
जहाँ पहुँच जाता हूँ
छंद नहीं मेरे लक्ष्य
दृष्ट नहीं है मेरा दाय
मुझे मिलता जो (कवि-यश)
असंतुष्ट
मेरी इतनी आत्मज
औ' नितांत वैयक्तिक
काम-भावनाओं की परिणति कहलाती है
मुझे हँसी आती है।

जैसा हूँ—पूर्ण या अपूर्ण
सफल-असफल
तुम्हारा हूँ—सब कुछ तुम्हारे ही लिए किया है

कविताएँ मैंने लिखीं
न खुद को कवि माना
मैं तो संबंधवाचक कारक हूँ
मेरी मौलिकता का दंभ निरा मिथ्या है
प्रस्तुतकर्ता हूँ महज़
सच है तुम्हारी ही कथा
जिसने अभिव्यक्ति को, शैलियों को
जनम दिया है

कल जब इस हँसी को सुनेंगे लोग
चौंकेंगे
कहेंगे—'व्यक्तिवादी असामाजिक था'
लेकिन मैं अपने को गलत नहीं मानूँगा

किंतु यदि तुम्हें
उत्तेजित वह न करती
तुम आत्मवर्जनाओं से भग्न हो, दमित हो
तो क्या करूँ बताओ?
ये चारों दिशाएँ
खड़ी हैं बाँहें फैलाए
छिपाए हुए अभागिन, कौतूहल कोलाहल
रहस्य, स्वप्न, अनजाने
जो चाहे आए, समझे, माने
घुल-मिल जाए
किंतु यदि शून्य सालता है तुम्हें
तुम दिग्भ्रमित हो
तो क्या करूँ बताओ?

1957-58 की डायरी से

प्रस्तुतकर्ता : 2

धरती है पाँवों के तले
तुम्हारे भी
उठते हैं जिसमें ज़लज़ले
जीते, हारे भी
यदि वह तुम्हें उत्तेजित नहीं करती

कवि हूँ अवश्य
लेकिन मेरी संवेदना यहीं तक है (संकेतों तक)
तुम्हारे साथ
यदि तुम चाहो
आँखों पर पट्टियाँ बाँधकर

भ्रमजाल में उलझकर
तुम्हें सांत्वना दूँ
तो बस का नहीं है मेरे
चारों दिशाओं का
कोलाहल
छूता नहीं
अंतर का शून्य तुम्हें सालता है
ज्योति का अभाव
मन में लावे-सा उबलता है
जब-तब कोई
तमग्रस्त घर में बोलता है
तो मैं क्या कर सकता हूँ।

व्यक्तिवाद

चारों दिशाओं में व्याप्त
दुःख-भरे कलापों की आकृतियाँ
तुम्हारी पुतलियों में नहीं सिहरती हैं
अंतर का शून्य तुम्हें सालता है।
पैरों के तले बिछी
रौंदी हुई घास-सी धरती
पग-पग पर तुम्हें हुलहुलाती है
यही दर्द मुझको इस सीमा के
बाहर निकालता है

हम तुम जीने वाले
जीवन को चाहे जहाँ ले जाएँ
हर जीवन
जीने के लिए तरसता है जीवन समूह से
नए-नए स्वप्न पालता है
बँधा नहीं है जीवन वादों से
सच है

1957-58

गीत विवश

गीत विवश
भाषा दीवानी
मन खोया-खोया रहता है
सोचा करती हूँ मैं कैसे
निर्मोही के हाथ बिकानी

संभावित रचनाकाल : 1957

घाटियों के परिंदे

घाटियों के महल की अट्टालिकाएँ
सज रही हैं
तरु-पहरुए
खड़े हैं आदेशवत्
चुपचाप—
ये दीपावली का महोत्सव
चुक जाए, बस सब सोचते
निर्विघ्न औ' सामोद
फिर ऋतु-वधू खड़ी शृंगार-रत
निकल बाहर घाटियों से
चीड़-घन में
पहुँचकर पिय को पुकारेगी
मिलन की बाँहें पसारे
और हिम-सी धवल
शीतल
दमकती निज छाँह में
हर पेड़ पत्ता बीज भूतल
सकल वन में खोजती
पिय को पुकारेगी।

हम वहीं रहते चले आए
बढ़े जनमे पले
एक जंगल झाड़ियों का
है पहाड़ों के तले
जीव अनगिन हिंस्र औ' कुछ घोंसले

ओ तपेदिक के मरीजो!
तुम अगर आए न हो
तो कभी आओ
यहाँ आकर पहाड़ों में रहो

ये विपुल सौंदर्य इसको स्वर्ग
या कुछ भी कहो
पौ फटे घर छोड़ हम देते हमेशा
फड़फड़ाते पंख कंपित आस्था लेकर
चार दाने जोड़
हँस-विहँसकर खा लिया
कभी यदि झगड़े-लड़े
तो सौ सुनाई गालियाँ
हम परिंदे शून्य हैं इंसानियत के नाम पर
तड़फता सच ज़िंदगी का
बालकों ने पा लिया

इन पहाड़ियों की बर्फीली चट्टानों का
शीत हिम शिलाओं का बालपन
माता-पिता की उत्ताप दाहों कठिनाइयों
डैनों की ऊष्मा में सिमट-सटकर बिताया

यौवन आया
हमने हवाओं में पंख जब चलाए
फड़फड़ पंखों पर
आप उभर आए अनगिन दायित्वों के चिह्न
सूरज की किरणों ने हमें बुलाया
हम उनके साथ-साथ
पृथ्वी पर जीने के आश्रय और संबल
खोजते फिरने लगे

चार दानों और तिनकों की परिस्थितियों में
काली-सफेद छायाओं के बीच घिरने लगे
बरसाती काली संध्या का असहयोग
ऊँची-नीची धरती
कंकरीली-पथरीली
बिजली से जले हुए तने
पेड़ औ' पत्ते
फूलों के गुच्छ
और चीखते हुए विहंग
हंसों का नाद
आज अगर पूछे कोई भूतकाल की स्मृतियाँ
और आज इन्हीं स्मृतियों से तो केवल यही याद
फिर भी हम घाटी को छोड़ नहीं पाते
ममता के मारे
दूर-दूर जाकर लौट-लौट आते हैं
हम पंछी हुए कितने विवश आज
हम पंछी—पर झुलसों का समाज

1957-58

एक और दुष्यन्त

जैसे कोई ज़िद्दी बच्चा
सलेट पर लिखे गलत जवाब को काटकर
नए सिरे से उसी सवाल का हल
खोजने में जुट गया हो
वैसे ही
अपनी असफलताओं से इस दौरान मैं हूँ
कष्टों की प्रसव-वेदना से
दुबारा जन्म ले रहा हूँ।

वह दुष्यन्त तो कभी का मर गया
जो चाँदनी देखकर काँप उठता था

पत्तों की आहट पर उदास हो जाता था
और विरह-गीतों की कड़ियाँ सुनकर पिघल जाता था

मैं तो नया हूँ
तुम्हारे लिए सर्वथा अपरिचित
मेरे हाथों में नई कलम है
और मैं नए कोरे पृष्ठों पर
उन सवालों के जवाब अंकित कर रहा हूँ
जिन्हें मरने वाला दुष्यंत
और भी पेचीदा बनाकर छोड़ गया है।
इन जवाबों को
गलत कहकर हँस भी दो तो मुझे परवाह नहीं
मैं समझता हूँ मेरे हल गलत नहीं
बल्कि तुमने इनसे जो निष्कर्ष निकाले
वे ही गलत हैं
यह समय
मेरी ईमानदारी का साक्षी है
जिसके रंगमंच पर मेरे दर्द की मुहर है
आने वाली पीढ़ियाँ इसे देखेंगी

मार्च-अप्रैल, 1957

सुख नहीं

सुख नहीं
यों उबलने में
सुख नहीं कोई
दिवस-मासों
और वर्षों के कड़ाहों में
मैं उबलता रहा
चलता हुआ राहों में
नहीं जागा किंतु सोया भाग्य
सच कि मैं यों
भाप बन-बनकर चुका रीता

•

1957

प्रतीक्षित प्रतिध्वनियाँ

अपने दृष्टि पंथ से हटा दो मुझे
चाहे
मेरे अभिव्यक्त भाग्य-लेख को पलट दो
कोरी तख्ती-सा रह जाऊँ मैं
नए कैशोर अक्षरों की प्रतीक्षा में
आँसुओं की बाढ़ बह जाऊँ मैं
तारों से बुझूँ
या कि चमकूँ
जैसे भी जिऊँ जिस हाल में जिऊँ
लेकिन कभी एकांत स्मृतियों के व्योम से
किसी प्रतीक्षित प्रिय गीत की
प्रतिध्वनियाँ
सूने तुम्हारे निमिष प्रहरों के आँगन में
चाहे-अनचाहे
गूँज उठा करूँगा ''मैं

1957

परंपरा

कब तब जिएगा
काव्य बनकर तुम्हारा दर्द
मेरे पास?
कब तक रहेगी
प्रश्न बनकर तुम्हारी याद
मेरे साथ?
कब तक चलेगा
खेल रूठना, मना लेना
फिर हो जाना उदास?

आँधी पकड़ मेरा हाथ
लोगों के बीच लिए जाती है
दर्द बह जाएगा।

भौतिक समस्याएँ
उत्तर बन आती हैं
मेरी तुम्हारी समस्या का
प्रश्न रह जाएगा

एक मर्यादा का हाथ
बढ़ा आता है
मुझे गुदगुदाता है
मन उदास होने न पाएगा।

ऐसी परिस्थिति को
मेरे मनोबल
भला कब तक सहेंगे
लगता है होगा
इस बार भी वही केवल
प्रश्न मिट जाएँगे उत्तर रहेंगे।

1957

मेरी आवाज़

अगर किसी चौराहे पर बेकार पड़ा
गड़ा खड़ा हूँ
तो भी मैं वही हूँ
कोई और नहीं
मेरे अंदर न ही दिल है, न ही आत्मा
न ही विचार सिद्धांत आदर्श
इसलिए मेरे इन बंधनों को देखकर
मुझसे नफरत मत करो
मुझे दुत्कारो मत
मुझे सहानुभूति की दृष्टि से देखो

मैं तुम्हारा गायक हूँ
मेरे स्वर में तुम्हारा ही दर्द है
और मेरा भी दर्द तुम्हारा ही है
जिससे तुम नफरत करते हो
क्योंकि तुम इस पीड़ा को पाना नहीं चाहते
जैसे बच्चा किसी छोटे-से चिड़िया के बच्चे को
मारकर हमें देता है
क्योंकि वह उसकी पीड़ा का भाग नहीं भोग सकता
लेकिन सुनो मुझे अस्वीकारो मत

मैं भी तो तुम्हारा ही गायक हूँ
ये जो घुटी-घुटी-सी आवाज़ सुनकर
तुम लोग पागल हो जाते हो
ये आवाज़ मेरी ही है
ये जो तड़प-तड़पकर हथौड़ों-सी दिशाओं में
बज रही है यह आवाज़ मेरी ही है
ये जिसे तुम साफ-साफ नहीं सुन पा रहे हो
ये आवाज़ मेरी ही है

और सुनो
ये मेरी ही आवाज़ है जिसे घोंटा जा रहा है
जिसे दबाया और कुचला जा रहा है
जिस पर प्रतिबंध लगाया जा रहा है
और कल अगर ये दब गई
तो तुम फिर क्या सुनोगे?
खामोशी? सहोगे?

आज भी ये घुटे-घुटे स्वर तुम कुछ लोगों तक आते हैं।
क्या तुम ये नहीं चाहते कि सब पंछी आज़ाद हों
कि ये स्वर दूर तक फैलें, नभ चूमें
सब इन्हें सुनें
सब पंछी आज़ाद हों
और जगत में यहाँ से वहाँ तक गाते घूमें
अगर हाँ तो मुझे आज़ाद करो
चाहे मैं कहीं हूँ
चाहे मैं कैसा हूँ

1957 के आसपास

मित्र को एक पत्र

मित्र, तुम्हारे सम्मेलन में नहीं आ सका
कुछ कारण है—
ये साहित्य
व्यक्ति की निजी संपदा होती
या कि हमारे लेखन का क्रम
बच्चों से माँ-बापों की
कायिक भौतिक सुविधाओं से
संबंधित होता तो मैं आता।

फिर भी सिर्फ तुम्हारे नाते
आने की इच्छा रखते भी नहीं आ सका
और जो आए उन्हें
बुलाकर क्या फल पाया
कौन समस्या सुलझी
कितने मतवादों की बाढ़ हट गई
कितने भूखों को मिल गए
अन्न के दाने
कितने नंगों के शरीर पर वस्त्र आ गए
कितने नेताआ के आडंबर टूटे
कितने जीवन
जीने की यंत्रणा-व्यथा से त्राण पा गए

मुझे ज्ञात है इनका उत्तर तुम मत देना
क्योंकि तुम्हारे औ' मेरे संबंधों में
कुछ सच्चाई है

अगर कहो ये मित्र!
तीन दिन काफी रौनक रही
नई मित्रता हो गई
नए मित्र मिल गए
बहुत पुरानी कुछ रचनाएँ चल जाएँगी
कई नए संपादक
उलझा लिए जाल में

तो वह सच है
मैं उसका आदर करता हूँ
क्योंकि सच्चाई सिर्फ यही है

लेकिन मित्र
सृजन सम्मेलन नहीं
स्वयं लेखक करता है
और चेतना सदा हुई है
आत्मज्ञान मंथन से विकसित

उसे और उलझा जाते हैं
मित्र, व्यथा का एक भाग
जो मुझमें तुझमें हर प्राणी में
जीवित है
उसकी ही अभिव्यक्ति
सृजन का मुख्य अंग है
जो जितना सामाजिक होकर
वह सहता है
निजी व्यथा से अधिक विलग रहता है
वह उतना ही बड़ा कृती साहित्यकार है

यह अलगाव
और यह दूरी निज से
और निकटता जन से
बड़े हृदय वाले करते हैं
सहनशीलता मन की
औ' अभिव्यक्ति समय की

मित्र, समय का धन का
इतना दुरुपयोग करना था
तो तुम उन्हें बुलाते
जिनसे सीधे संबंधित हम
जो कि हमारी रचना से
सीधे संबंधित

सम्मेलन में नहीं आ सका
तो तुम बुरा न लेना मन में
मेरे लिए दुखी मत होना
मैं सम्मेलन नहीं
समूहों में जाता हूँ
मेरे चारों ओर बस्तियाँ
शोर-शराबा कोलाहल है
औ' वह कल है
जिसे मनाने को मैं अपना दुःख जीता हूँ

1957

बेरोज़गारी : एक अनुभूति

उस दिन ऐसी कड़क धूप थी।
पलक मुँद गई
आसमान आँखों के आगे लगा घूमने
सुस्ताने के लिए एक खंभे को पकड़ा
पीठ टिका ली
तभी एक रिक्शे वाले ने पूछा—'बाबू, कहाँ चलेंगे?'
मैंने पहले अपनी जेब टटोली
फिर खाली मन!
अनायास मुँह में आई मोटी-सी गाली
अपनी किस्मत को दे डाली
उससे बोला—'कहाँ चलेंगे, पता नहीं है'
उसको अखरा होगा कुछ
पर मुझको अखरा

सिर पर छाया का अभाव
सुख का जीवन में
आँख मुँद गई
संज्ञाएँ कुछ क्षीण हो चलीं
किंतु गगन में

पहले अनगिनती पथभ्रष्ट
थके-हारों की आकृतियाँ-सी उभरीं
औ' फिर गूँज उठे स्वर—
कहाँ चलेंगे? कहाँ चलेंगे?
कहाँ चलेंगे?

उन ध्वनियों में मेरी भी ध्वनि थी
मैं सहसा सजग हो गया जैसे
फिर कुछ क्षण पश्चात्
एक जर्जर औ' पीला हाथ उठा
निज मुट्ठी ताने
फिर वह मुट्ठी खुली युग्म अधरों की शक्ल में
पेट दिया जिसने वह भोजन भी देता है
इच्छा के साथ पूर्ति-साधन भी देता है।

1957

रेडियो में काम

रेडियो में काम कुछ मत करो
सिर्फ घुटो
बहुत घुटकर चाय को
फिर फोन करने उठो

चाय के कप में जगा दो
भाप का तूफान
घोल दो अपनी अधूरी
आकांक्षा—अरमान
लिखो कुछ न पढ़ो
और हर-हर घूँट के संग
नई खबर गढ़ो
अफसरों को गालियाँ दो
लिखो कुछ न पढ़ो

साथियों को
ईर्ष्या की दृष्टि से देखो

हाथ अपने दूसरों की आग में सेंको
इस हवा के कहकहे पर
खूब गुस्सा कर....

अधूरी/1957 की पीली डायरी के अंतिम पन्नों पर/1958

स्पष्टीकरण

मैं संस्कृत-हीन-ज्ञान
विश्रुत किसी श्लोक की पंक्ति सदृश
—अर्थ और फल से अनभिज्ञ—
तुम्हारा नाम दोहराता बार-बार।

वाक-शून्य, आत्मचकित
मन के अचेतन स्तर पर खड़ा होकर
अंकित करने में तुम्हें
क्या से क्या लिख जाता बार-बार।

मैं पागल, संज्ञाहत
जहाँ पहुँच जाता हूँ
छंद नहीं वे मेरे लक्ष्य
इष्ट नहीं है मेरा दाय
मुझे मिलता जो—(कवियश)
मेरी इतनी आत्मज
और नितांत वैयक्तिक
भाव-भावनाओं की परिणति
कविता कहलाती है,
मुझे हँसी आती है।

कल जब इस हँसी को सुनेंगे लोग
चौंकेंगे,
कहेंगे—व्यक्तिवादी असामाजिक था।
लेकिन मैं तो खुद को गलत नहीं मानूँगा।

'कल्पना' (हैदराबाद), मार्च, 1958

थोड़ी दाह

अगर इतना भोग्य था तो क्या बुरा
किंतु बेघर-बार भी तो रहा जाता नहीं
हमसे कहीं रहने को मिले
हाथ में मोती न आए भले
आएँ कीट कंकर धूल
यह अभावों का नगर भी मिले
तो कुछ नहीं है प्रतिकूल

किंतु अपना प्राप्य कुछ भी नहीं
तो फिर यही कहने को मिले
नहीं, कुछ भी नहीं अपना दाम
थोड़ी दाह हमको और दहने को मिले

1958

दोस्त मेरे!

दोस्त मेरे
आज तू ही नहीं
हम भी
इसी सत्ता की चुनौती के तले हैं
हमारे सपने निपट
बंधन नियत होने चले हैं।

पर नहीं
तूने कि जैसे सिर उठाया
और सहसा चुनौती के सामने आया
लेखनी अपनी पराई तो नहीं
हम चुनौती की दिशा में मोड़ देंगे
उस तरह हम भी

खनकती हुई ज़ंजीरें
दमन की तोड़ देंगे
दुखी मत हो
तू हमारा दोस्त· भी है
देवता भी।

1957-58

ओ अपरिचित मित्र!

ओ अपरिचित मित्र!
मेरे हाथ में जो कलम है वह
अब तुझे हर शब्द में पूछती है
हर एक अक्षर शेषवाचक प्रश्न-सा
हर एक कविता मुक्ति की प्रार्थना-सी···
हर एक लय बेचैन ममता-सी
हृदय खंडित किए

ओ अपरिचित मित्र!
तुझे क्या मालूम
मेरे देश में कितनी कलम
बेचैन हैं तेरे लिए!

देश : केवल भूमि का सीमा-विभाजन
झूठ है
कवि की तड़फती धड़कनों के लिए
जो कि संवेदना के तीखे क्षणों में

रूस, अमरीका, अरब, जापान, बर्मा, चीन
यानी
भूमि के हर भाग तक
अपनत्व का पन मानती है
इसलिए तुझको निकट महसूस करता हूँ
क्योंकि मेरी दृष्टि भी तेरी तरह

वातावरण में व्याप्त
पीड़ाएँ सँजोतीं घूमती है
चूँकि वह भी प्यार देकर उपेक्षा पाती रही
औ' गलत ही समझी गई है

किंतु जन की वेदना के मित्र
गायक चुप नहीं रहते
पास्टर्नक! गलत मैं भी नहीं, तू भी नहीं
गलत कोई नहीं
जिसने हाथ में ले लेखनी
अभिव्यक्ति के वैचित्र्यवश
कौतुक समझ
जन का सहज विश्वास
गुब्बारे सरीखा फोड़ देना नहीं चाहा
या कि अपने देश में बनते हुए
निर्माण के इतिहास को
उल्लेख की आकांक्षा से
तोड़ देना नहीं चाहा!

अगर इसके बाद भी
यह ख्याति पीड़ा बचे
दमन औ' आतंक-मिश्रित मान
तुझको मिला
तो तू सह
इन अनेकों गालियों का ज़हर पी ले

हिरन-सी सहमी हुई इस दृष्टि से
मत देख युग की ओर
तुझे क्या मालूम
कितने स्नेह
कितने दर्द
कितनी आस्था से
विश्व तुझको देखता है आज
जो तू सुन रहा अपमान-सूचक
गलत है वह शोर-मात्र प्रचार

कभी सुनना
अगर सुनने दिए जाएँ
तुम्हें मेरे और मेरे साथियों के
स्नेहमय उद्गार!

दोस्त मेरे
नया कोई भी नहीं व्यवहार तेरे साथ
यही तो होता रहा है
जिस किसी ने भी सचाई को छुआ
खोला
कुरेदा
सदा उसके अधर सिलने के लिए
सत्ता उठी
मज़बूत लेकर हाथ
और यों अभिव्यक्ति को कुचला गया

दोस्त मेरे
आज तू ही नहीं
हम भी
इसी सत्ता की चुनौती के तले हैं
हमारे सपने निपट
बंधन-विवश होने चले हैं
पर नहीं
तूने कि जैसे सिर उठाया
और सहसा चुनौती के सामने आया
उस तरह हम भी खनकती हुई ज़ंजीरें
दमन की तोड़ देंगे!
लेखनी अपनी पराई तो नहीं
इस चुनौती की दिशा में
मोड़ देंगे।

पास्तरनाक के लिए एक कविता/1958

नए कवि से

मैंने ही बीड़ा उठाया है
कालिदह का
मैं ही लड़ूँगा कंदुक लाऊँगा
पीठ पर अजगर की चढ़ूँगा मैं ही।

सूने इस जमुना के तट पर
खेल फिर जमेगा
तटवर्ती उत्सुकतापूर्ण दृष्टि मत डूबे
शीघ्र लौट आऊँगा

जीवनमय कोलाहल इन हताश आँखों में उगेगा
ठहरो! अभी मत लौटो
ओ मेरे बंधुओ
द्वंद्व के साक्ष्य रहना तुम
हारा नहीं था
पीठ मैंने दिखाई नहीं थी
कल कहना तुम...
मुझमें समाया नहीं था भय
किसी तरह का
जब मैंने उठाया था
बीड़ा कालिदह का

1958/मुरादाबाद

काल-दहन

कूद पड़ा अनायास
इस अथाह जमुना के जल में
लहरों की क्रोधित सेनाएँ
दल बाँध-बाँध
सर्पों-सी बढ़ती हैं

मेरे साहस के हर चप्पे पर
टकराकर पड़ती हैं
पर मेरे मित्रो, यही तलक नहीं
अभी मुझे और और
आगे जाना होगा—जाऊँगा
वहाँ नील धारा में
फेनिल आवर्तों के मध्य व्यूह रचना कर
जहाँ एक अजगर रहता है
वहीं तो पड़ी है गेंद
जाकर उसे लाऊँगा
अजगर के जबड़े से जूझूँगा
आतुर मत हो
अधीर मत हो
शीघ्र लौट जाऊँगा
खड़े रहो तुम केवल तट पर
घबराओ मत
मत निराश हो
वापस जाओ मत
मेरी आवाज़ों को सुनते
मुझे दिशा ज्ञान देते रहो

1958/मुरादाबाद

आह कितनी देर

शाम घिर आई न किश्ती दी दिखाई
आह कितनी देर
कितनी देर तट पर खड़ा होकर राह देखूँ
छटपटाऊँ और कितनी देर
अंगुलियों से फिसल बालू-सा गया दिन
गगन निस्पंद
छाप-सी हैं प्रतिध्वनियाँ गूँजतीं चुपचाप

कामना के जलचरों का श्राप
जो फिरते रहे इस तरंगायित नयन गंगा में
मैं उपेक्षित किसी बालक-सा
पराए खिलौने को देखकर चुप हो गया
फिर व्यथित हो लौट आता हूँ

कल फिर सुबह होगी
नदी का तीर होगा प्रतीक्षारत
और मैं हूँगा

1958/मुरादाबाद

महत्त्वाकांक्षी

ज़िंदगी जो सीता-सी बैठी है इस वन में
चारों ओर खिंची हुई रेखाओं के बीच
जहाँ संभावनाओं के रावण
या आशाओं के राक्षस
आते ही भस्म हो जाते हैं
बड़े-बड़े संकल्पों-सपनों को लेकर चली थी
मगर उफ उसके रथ के पहिए
पथ के रेले में धँसकर
गति खो बैठे हैं—जड़ता··निश्चलता
यही ज़िंदगी है आज
यह जो चोला बदलकर नई स्थितियाँ आई हैं
इस ज़िंदगी को हरने
या उसका सतीत्व नष्ट करने महत्त्वाकांक्षाएँ
ये रावण से कहीं अधिक पतित हैं
उसने तो सीता का अपहरण वायुयान में बिठाकर किया था
और ये महत्त्वाकांक्षाएँ
घसीटती हुई ले जा रही हैं ज़िंदगी को
स्वार्थसिद्ध कर जाने किस वन में छोड़ने के लिए।
मैं अपनी ज़िंदगी की सीता का राम

मायावी हिरन के सींगों से
क्षत-विक्षत होकर—कुछ करने की शक्ति खो बैठा हूँ
मेरा पुरुषार्थ भ्रांत लक्ष्मण
मेरे उपचार में लगा है···

1958/मुरादाबाद

इन चंद साँसों के लिए

इन चंद साँसों के लिए
हर वह सच्चाई गैर है जो थी कभी अपने लिए
अब मोर्चे ही मोर्च मंज़िल नहीं अपने लिए
क्या एक पन्ना एक अक्षर भी नहीं इतिहास
मैं खोजता फिरता जगह थोड़ी कहीं अपने लिए

वह कौन-सा क्षण है जिसे आवाज़ दूँ अपना कहूँ?

यह ज़िंदगी जो कठिनतर होती रही हर मोड़ पर
जो हर जगह सहमी यकायक हाथ मेरा छोड़कर
बोली अगर तो प्रश्न-से चारों तरफ छितरा गए
मेरे कृती व्यक्तित्व से संबंध सारे तोड़कर
जैसे कि वह भी प्रश्न हों जैसे कि मैं भी प्रश्न हूँ

1958/मुरादाबाद

समय की फसल

अर्थ लेंगे कल हमारे आज के संकेत
जो मरुस्थल आज अश्रु भिगो रहे हैं
भावना के बीज जिस पर बो रहे हैं
सिर्फ मृगछलना नहीं वह चमचमाती रेत
अर्थ लेंगे कल हमारे आज के संकेत

सूर्य की पहली किरन पहचानता है कौन
क्या हुआ जो युग हमारे आगमन पर मौन
अर्थ लेंगे कल हमारे आज के संकेत
तुम न मानो शब्द कोई है न 'नामुमकिन'
कल उगेंगे चाँद-तारे कल उगेगा दिन
कल फसल देंगे समय को यही बंजर खेत

1958

मुक्तक

हारे हुए सिपाही जैसे प्रेयसि मेरे गीत बिचारे
इस अंधड़ में टूट-टूटकर बिखर गए सारे के सारे
मैं ही टूट नहीं पाया हूँ और न बिखरूँगा संग रहना
मेरे ज़ख्मी दिल पर मरहम के फाहों-से शब्द तुम्हारे।

1958

मुक्तक

अब तक ग्रह कुछ बिगड़े-बिगड़े-से थे इस मंगल तारे पर
नई सुबह की नई रोशनी हावी होगी अँधियारे पर
उलझ गया था कहीं हवा का आँचल, जो अब छूट गया है
एक परत से ज़्यादा राख नहीं है युग के अंगारे पर।

1958

कल जब...

बचपन में फोटो खिंचवाने को
हँसी माँग लाए थे
ये उदास चेहरे
इनसे नहीं मिलेगा
उत्तर नहीं मिलेगा

कल का इतिहास लिखा जाएगा
उसके हर पन्ने पर
अंकित होने वाले
अनगिनत प्रश्नों का समाधान
मुझमें पाओगे
केवल मैं हूँ या यह छोटा-सा अहम्

कल जब विस्फोटों के मुँह पर रक्खे
पर्वत फूटेंगे
मैं नहीं रहूँगा अपनी आँखों
यह दृश्य देखने को
फिर भी गूँजें मेरी
जो इनके सीनों को चीरकर
चट्टानों पर बैठ गई
स्वयं एक लिपि बनकर
उभरेंगी
जिसमें हम युग की आकांक्षाएँ
कुंठाएँ घुटन वेदनाएँ सब
पाओगे
तब मेरी पीड़ा अनुमानोगे
जानोगे
यह पर्वत ये पहाड़
आज नहीं फूटे हैं
ये लिपि जो वेद की ऋचाओं-सी
पावन संगीतमयी
उपजी है आप नहीं।

1958 की डायरी से

क्या कहूँ कैसा लगा है यहाँ आकर

जिस तरह पथ भूल कोई शाहज़ादा
किसी दानव के महल के गर्भगृह में
किसी सुकुमारी दुलारी राजकन्या के लिए
अंतःगर्भगृह में आ फँसा हो कष्ट सहकर
उस तरह मैं फँस गया हूँ
गर्भगृह से उठ रहीं चीखें-कराहें
बेधती हैं कान के परदे निरंतर
हर तरफ से शक्ति औ' सामर्थ्य को देती चुनौती
चीख उठती
और मैं उस तक पहुँच पाता नहीं हूँ
चाहकर भी

कभी लगता है
महल का दायरा
संकीर्ण होता हुआ चारों ओर से अब लील लेगा
कभी लगता है
महल का दैत्य मेरा वध करेगा

कभी दानव की
महल से उठ रही आवाज़ आती है
चीखती है राजकन्या कभी
कभी मेरी आस्था ही लड़खड़ाती है

1958/आकाशवाणी, दिल्ली

आह! यह दिल्ली!

पाँच बजते टूट पड़ती
एक भीड़ अपार
अनगिन लोग—कारें बसें बाइसिकलें
राजमार्गों पर उतरती दौड़ती हैं

मुझे लगता है कि क्रोधित भनभनाती भीड़
उन मधुमक्खियों की
जिन्हें बचपन में कुतूहलवश
अचानक एक दिन मैं छेड़ बैठा था
राजमार्गों पर लपकते हुए
अगणित बाबुओं को
काटने के लिए पीछा कर रही है।
अभी थोड़ी देर पहले
पाँच के घंटे बजे हैं
याद आता है कि वर्षों पूर्व
पाँच ही ढेले उठाकर
साधकर मधुमक्खियों का एक छत्ता लक्ष्य में
मैंने बगेले थे और जैसे तिलमिलाकर
मक्खियों का झुंड मेरी ओर लपका था
और मैं भयभीत घर की ओर भागा था
भागता ही गया था बस
दूर तक पीछे न देखा एक क्षण मुड़कर
गो कि इन मधुमक्खियों का झुंड
थोड़ी देर उड़कर रुक गया था
किंतु मैं फिर भी निरंतर
गाँव की ओर भागता ही गया था
और जाकर ओसारे में फिर
थका दमहीन
कटे तरु-सा गिर पड़ा था

गया मन से नहीं
शैशवकाल का वह भय
अभी भी जब पाँच बजते हैं
बाबुओं की भीड़ ऑफिस से निकलती है
मुझे लगता है कि ये अनजान
पाँचवाँ ढेला उठाकर
छेड़कर मधुमक्खियों को आ रहे हैं
और अब मधुमक्खियों के डंक से तड़फती
ज़िंदगी असहाय इनकी मुँह छिपाती हुई

घर की ओर भागती ही जाएगी अनवरत
जाकर ओसारे में पड़ेगी गिर
कटे तरु की भाँति

आह! यह दिल्ली!
यहाँ रहते हुए
मधुमक्खियों का भय सताता है
पाँच बजते मन हमेशा उचट जाता है
इलाहाबाद का घर याद आता है

आकाशवाणी, दिल्ली की पहली नौकरी के वक्त की कविता स्टाफ-आर्टिस्ट के रूप में/1958

तीन मनःस्थितियाँ

इन क्षणों में ज़िंदगी का अर्थ लगता है
इस अकारथ जन्म के प्रति मोह जगता है
एक मीठा ज्वार आँखों से उमगता है

सामने खिलती नए आलोक की-सी रेख
मैं कि जिसकी चाह में सारी व्यथाएँ फेंक
एक युग के लिए जीता एक क्षण को देख
वही पीड़ित हास्य बनकर अश्रु ढलने को
मुझे उकसाता परिस्थितियाँ बदलने को

2
जी लूँगा
कागज़ के पृष्ठों में भी मैं तो
तुम्हारे हृदय के नंदन वन से उखड़कर
प्राण!
छोटा-सा बिरवा ये
जी लेगा
फिर भी जी लेगा
कागज़ के पृष्ठों में

3

अक्षरों के बियाबान-वन में
मैं चुप हो जाऊँगा
ओ री परिस्थितियो!
गूँगों की बस्ती में
भेजकर मुझे तुमने
ऐसा क्यों समझ लिया
कौतुकवश ज़ंजीरें लिए हुए
यहाँ तक चला आया मैं अजान
तो तुमने ऐसा क्यों समझ लिया
अब सब कुछ सह लूँगा नियति मान

ओ री परिस्थितियो!
मेरी उत्सुकता को निष्क्रियता
नहीं कहते मौन हो जाने को
उड़ते हैं शून्य में अनेक गीत

औ' इन ज़ंजीरों की खन-खन में
अपना अस्तित्वबोध पाता हूँ
केवल उत्सुक वही नहीं
उड़ते हैं शून्य में अनेक गीत
मैं जिनको गाता हूँ
तुम्हें क्या पता
मैं किस दुनिया से आता हूँ

मौन नहीं
बल्कि मुखर करने के लिए
जीता हूँ।
मेरी ये ज़िंदगी निरर्थक हो तुम्हें भले
लेकिन मैं ज़िंदगी नहीं समाज जीता हूँ
जब तक भी जिऊँगा
अधरों पर भले धूल जम जाए
(सपने न हों)
हाथों में सिर्फ शून्य रह जाए

(सपने नहीं)
अंतर में सिर्फ धुआँ रह जाए
(धड़कन नहीं)
पाँवों में केवल पथ रह जाएँ
(कंपन न हो)
तब भी मैं गाऊँगा
ओ री परिस्थितियो!
मेरी खामोशी को कायरता
वही लोग कहते हैं
जो अपनी ज़िंदगी नहीं सहते
छंदों की दुनिया में रहते हैं।

1958

इन दिनों

इन दिनों लगता है कि 'हाँ'
चाँदनी छिटकी है कहीं,

इन खिड़कियों के पार
भूरे बादलों के देश में
औ' पर्वतों के वेश में
पाषाण है जड़, मैं नहीं।

इन दिनों लगता है कि ये
आकाश फैली बाँह है
जिस पर रुई-से गाल पर
बैठी हुई हो तुम कहीं

इन दिनों लगता है कि मैं
बाँहें बढ़ा दूँ सामने
तुम शून्य में उत्सुक खड़ी
मेरा सहारा थामने

मुझे छोड़कर

ओ मेरी कविताओ
मुझे छोड़कर मत जाओ

और बहुत हैं
यहाँ शून्य को भरने वाले
उत्सुक आतुर
और बहुत हैं
भौतिक विघ्नों से घबराने डरने वाले
मैं तो नहीं

ओ मेरी कविताओ
मुझे छोड़ मत जाओ
जैसे तुम मुझमें जीती हो
वैसे ही मैं भी तो
ये सुविधाएँ बहुत

अधूरी/1958

एक शहज़ादा अवध का

एक शहज़ादा अवध का
और तुम्हारा मित्र
जिसका भाल गर्वोन्नत हमेशा रहा
औ' नयन
जीवन की हरित स्वर-वीथिकाओं में
विलमकर जिए,
जिसके शब्द
मित्रों के समूहों में सुरक्षित
वेदना के एक क्षण के लिए तरसा किए
वही शहज़ादा तुम्हारा मित्र
इस बहुत अनुदार सँकरी-सी गली में

फँस गया है
एक सँकरी-सी गली दिल्ली नहीं
तो और क्या है?

जिन्हें तुम कल्पना कहते थे
ज़िंदगी के महल के वे सब झरोखे
यहाँ आकर रुँध गए हैं
चंद सिक्कों की क्षणिक संयोग वाली
चाह उन पर छा गई
सब सुराखें
सब किवाड़ों की दराज़ें बंद
ज़िंदगी में कभी ताज़ी हवा की गति मंद
अपरिचित मासूम शहज़ादा तुम्हारा
औ' रक्तरंजित रूढ़ियों के शवों से चिपटी
सदा की स्वार्थी दिल्ली
मेरे इस निडर व्यक्तित्व का रस
सोख लेने के लिए
बेचैन आतुर हो रही है।
मैं कि जैसे
किसी दानव के महल के गर्भगृह में कैद
सुकुमारी दुलारी राजकन्या के लिए
निष्कृति जुटाते आ फँसा है नागफाँसों में।

हर तरफ से इस नगर का दायरा
संकीर्ण होता हुआ उसको कस रहा है
किंतु कृतसंकल्प मन उसका
महल के गर्भगृह में कैद
सुकुमारी दुलारी राजकन्या के लिए
निष्कृति जुटाने में लगा है

आह! शहज़ादा बिचारा गर्भगृह में
शत्रुओं के व्यूह में निःशस्त्र!
हर दिशा, हर मोड़, औ' हर बात
शत्रु ही के साथ
जैसे सब नगर मिलकर प्रहारेगा!

एक तिनका आँधियों में खड़ा है
पर देखना तुम
कौन हारेगा?

1958

मैं कौन हूँ

चप्पलों-सी ज़िंदगी को
सड़क पर घिसता हुआ
किसी छत-सा गाँव की
चूता हुआ, रिसता हुआ
उँगलियों में पिस रहे
रूमाल-सा मैं कौन हूँ?

बुलबुलों-सी जागती-बुझती
नसों मे बिजलियाँ
नभ-नयन में तैरता जैसे
नदी में तख्तियाँ
गर्म लेकिन छि॰ पूरित
शाल-सा मैं कौन हूँ?

सोचता हूँ पास आए लोग
मेरी आह पर
रोक लें बढ़कर गुज़रते रथ
जो नभ की राह पर
काश ये गुमराह राही
लौट आएँ राह पर
संशयों में जन्मते भूचाल-सा
मैं कौन हूँ

अधूरी/1958

कथा और श्रोता

बाबा बोले—सुनो कहानी
एक था राजा एक थी रानी
बच्चे बैठे थे सुनने को
सहसा कर बैठे नादानी

बोले बाबा—क्या हम में से
कोई राजा कोई रानी
कुछ सुरखी आँखों में झलकी
बाबा ने वह कथा बदल दी
बोले—एक पथिक घर भूला
उलटी राह गही जंगल की
बच्चे बोले—हमें बताओ
क्या हम सब हैं ठीक राह पर

बाबा बोले—यों शैतानी
अगर करी सुन चुके कहानी
सुनो बहुत थी एक ताल में
मछली लेकिन सूखा पानी

बच्चे बोले—हम सब भी हैं
सूखे जल में अनगिन मछली
बाबा को सूझी शैतानी
या अपनी कमज़ोर कहानी
जाने किस पर गुस्सा आया
बोले भर आँखों में पानी
मैं क्या जानूँ तुम सब क्या हो

अपूर्ण/1958

गीत

फिर किसी ने चेतंना के तार पर उँगली धरी है
ज़िंदगी के गीत का पहला चरण पूरा हुआ है
आज तुम अपनी भुजाओं को ज़रा-सा और कस लो
मुद्दतों के बाद ये वातावरण पूरा हुआ है

सिर उठाते हैं हवा में फूल अँखुवे पेड़-पौधे
बालकों के हाथ छूते हैं गगन का छोर बढ़कर
उड़ रही है गंध आँचल-सी हवा में सोचता हूँ
ओंठ भूमा ने लिए हैं चूम नभ की ओर बढ़कर

फिर लगा है क्यों न मैं दुर्भाग्य ही को आज़माऊँ
क्यों न ये अपनी विवश बाँहें बढ़ा दूँ सामने को
कुछ तड़फ-सी तो अँधेरे में दिखाई दे रही है
क्या पता कोई खड़ा ही हो सहारा थामने को

और आखिर काम आ ही तो गई मजबूरियाँ भी
ज़िंदगी के गीत का पहला चरण पूरा हुआ।

आकाशवाणी, दिल्ली के दिनो की उसी कार्यालय की नोटशीट वाले कागज़ पर लिखी कविता। 1958-59 के आसपास जनवरी मास की।

मैं गाऊँगा

और सघन हो जाने दो तम
चाँद उगेगा, मै गाऊँगा।
    मेरी कविता दर्द घुटन
    या पीड़ा की भूमिका नहीं है
    मेरा जीवन संघर्षो में
    टूटा ही है, बिका नहीं है
मैं जीवन की पीड़ा में भी
जिन गलियों से भी गुज़रूँगा
थोड़ी गुनगुन भर जाऊँगा

भौतिक दायित्वों से आगे मेरी राहें
मेरे लक्ष्यों से आगे बढ़ गईं अचानक
कुछ ज़ंजीरें जैसे मेरे
पाँवों में पड़ गईं अचानक
पर तुम सुनना साज समझकर
मैं ज़ंजीरें खनकाऊँगा
भाव नहीं डरते पीड़ा से
शब्द नहीं डरते शासन से
मैं जो थोड़ी देर न बोला
मौन हुआ था अपने मन से
दुर्बल कह ले मुझको फिर भी
मैं गायक ही कहलाऊँगा।

विस्फोट

नगरों में धुआँ और ग्राम-ग्राम कुहरा-सा फैला गया
अब तक भी शंकित है हृदय उस धमाके से
ऐसा विस्फोट पहले तो कभी नहीं हुआ
लेकिन इस पर्वत को कटना था
और हमें पत्थर के टुकड़ों की ज़रूरत थी

डरो नहीं
राहों में
छोटे-छोटे टुकड़े
इधर-उधर बिखरे जो चुभते हैं
उनको क्रम देना है
क्या जाने इन्हीं से हो
भावी युग संस्कृति का शिलान्यास
यदि थोड़ा है प्रकाश दीपक में रुको नहीं
ध्यान से पढ़े जाओ
क्या जाने किस टुकड़े पर
लिपि है यदि अपठनीय
अक्षर हैं अनजाने

अर्थ निकल आता है पढ़ने में कहीं-कहीं
भाषा को ज्ञान दो
परिश्रम दो
दिशा दो
तुमको ये शिलान्यास पढ़ने हैं।

संभावित रचनाकाल : 1958-59

पैमान-ए-दर्द

मैंने सोचा था कि तू होगी बियाबान नहीं
मैंने सोचा था कि तू होगी ये तूफान नहीं
किंतु सच होता है इंसान का सोचा भी कहीं

आज ये हाल है सूरज है मगर लौ गायब
होते जाते हैं हरेक साँस में बरसों गायब
उम्र ने मुझको दगा दी है मुहब्बत के सबब

अब भी हमसाए में खामोश सदा बाकी है
मेरे दिल में अभी खुशबू-ए-वफा बाकी है
मैं तो पैमाना हूँ पे दर्द मेरा साकी है

फिर भी कुछ बात नहीं कोई नहीं मजबूरी
महज़ ये है कि ज़रा दूर हूँ तुमसे, दूरी
इसको सहने में लगा देता हूँ ताकत पूरी

यह मुहब्बत का मुअम्मा कभी हल हो कि न हो
ऐसी किस्मत है उमीदों की फसल हो कि न हो
फिर भी जीता हूँ मेरा फर्ज़ है बल हो कि न हो

यह कविता कलकत्ता से प्रकाशित 'नया संसार' के लिए भेजी/1960 के आसपास

मैं दुष्यन्त कुमार

हद हो गई है। वे मुकाम भी
जहाँ मैं उँगली रख सकता था
होंठों से छूने पड़े
मेरे अपने दुःख अपने रहे
कुछ औरों के लिए सुखी होना पड़ा
मुझे वही वस्त्र पहनने पड़े
जिनके आरपार देखा जा सकता था
जो कट-फट चुके थे⋯जैसे शब्द

अब मैं कोई बच्चा नहीं हूँ
जो गेंद की तरह उछालता रहूँ शब्दों को
एक निरर्थक थकान तक
यह बात आई है मेरे कान तक कि
सबसे झूठे, खोखले और बेमानी होते हैं शब्द
जिन पर हम सबसे अधिक भरोसा करते हैं

मैंने उससे पूछा—'तुम पढ़ती हो मेरी कविताएँ
तुम तक पहुँचती हैं
कैसा लगता है तुम्हें—सच बतलाना'
राख की ढेरियों में फूँक मारते-मारते
मेरे होंठों का लहूलुहान हो जाना
वह कुछ नहीं बोली
उसे भारती, रघुवीर, कुँवर और सर्वेश्वर
ज़्यादा पसंद थे।
होंगे वे मेरे समकालीन
अपनी पीड़ाओं और सुखों को भोगते हुए अधिक शालीन
लेकिन अपनी यातना का सहभागी अनिवास
मैं हूँ⋯मैं दुष्यंत कुमार
मेरी कार अगर देशी शराब की दुकान पर खड़ी है
तो मेरी जेब को चरित्र की कसौटी पर मत कसो
अगर हँसना ज़रूरी है तो
मेरी रुचि पर नहीं, मेरी मजबूरी पर हँसो

धन्यवाद और साभार की मुद्रा में
खड़े हुए लोगो!
मैं तुम पर नहीं
अपने जूतों पर नज़र डालता हुआ चल रहा हूँ
यह सोचता हुआ कि हद हो गई है
कि वह मुकाम भी जहाँ मैं
उँगली रख सकता था
होंठों से छूने पड़े

मुझे लगा शहर सूना हो गया है
यहाँ मन नहीं लगता
कहीं चलो
फिर लगा—फूल सूखे पड़े हैं
गमलों में पानी भरो
गंदे हो गए हैं
खिड़कियों के परदे बदलो
पर यूँ ही चौखट पर बैठकर
एक ठीकरे से गोल कंकड़ गढ़ा
युद्ध के अखबार की तरह
मैंने अपने कमरे का भूगोल
कई बार लिखा
कई बार पढ़ा
मैंने अंजुलि में भर-भरकर
अपना एकांत
बड़े प्यार से पिया।

मुझे लगा—चाँद पहले से जड़ हो गया है
बढ़ता-घटता नहीं
अंधकार ठहरा हुआ है
छँटता नहीं
पंछी अपनी उदासी की कथा
पेड़ों से नहीं गाते
पेड़-पौधे सब सहमे हुए-से हैं
सिर नहीं हिलाते
नदी और दुबली हो गई है

लोग अब शायद इधर नहीं आते
मैंने चरागाहों से

अधूरी/भोपाल के दिनों में लिखी गई कविता/1960 के आसपास

व्यथा की झील

यह भयानक झील
जिसके तीर पर शंकित खड़ीं तरुपंक्तियाँ
झुक-झुक झाँकती जल में
पवन के आगमन पर
काँप उठती हैं कँपाकर जल
बैठ जातीं पुनः होकर मौन-दीन विफल
फिर लहर पर लहर उठतीं उछलतीं पल-पल
पटकती हैं शीस

यह भयानक झील
मेरे ही हृदय की वेदना का
नहीं है प्रतिबिंब क्या और
मेरे ही विकल व्यक्तित्व की
अवशिष्ट सुधियाँ नहीं ये तरुपाँति
मुझे बतलाओ कि उफ क्या
ये लहर पर लहर जो हैं उछलतीं पल-पल
आह मैं कैसे कहूँ ये नहीं हैं
तट के निमंत्रण में बँधी इस भाँति
ज्यों परिस्थिति से बँधे हम विवश और विफल

नियति ने ऐसा लिखा है भाग्य मेरा
नैन तरसा करे हरियाली छटा को
हर दिशा में आग का दरिया उफनता बहे
हृदय तपता रहे रेगिस्तान-सा
कंठ जिसमें प्यास जीता रहे
प्राणों में उमगती आँधियों के साथ
हो अँधेरा किंतु मुख पर
रोशनी-सी हर समय मुस्कान पलती रहे

नियति ने मेरा रचा जब भाग्य मुझसे कहा
भीतर और बाहर बना रहूँ
व्यथा सोचूँ किंतु खुशी कहूँ
टूटता जाऊँ मगर उफ—
एक भी तारा न मेरी आह का आवेश-भोगी हो
एक भी मुख कभी रोगी हो न अंतर्दाह से मेरी
आमरण मैं गुनगुनाता रहूँ
काफिला कोई ना गुज़रे राह से मेरी
यह विकल व्यक्तित्व मेरा
ज्यों व्यथा की झील
तट पर शेष सुधियों-सी खड़ी तरुपाँति-सी
रह-रह काँपती है
जल कँपाती है
फिर लहर का रूप धरकर उछलती
फिर बैठ जाती है
किनारे पर है पड़ी चट्टान

अधूरी/भोपाल-काल/1960-61

ये क्या कम है

ये क्या कम है
इतनी दूर चले आए जो
एक-दूसरे की घड़ियों में
आश्रय लेते
थककर रैन-बसेरा करते
जीते-मरते
इस काली सुरंग के मुँह तक
सहयात्री बन
तुमने साथ निभाया मेरा
ज्योतिर्मान किया पथ
सहज-भाव से हर अभाव को जिया

रत्न-सुख दिया व्यथामय
ये क्या कम है।

आज अगर तुमको लगता है
कर्तव्यों की आना-कानी करूँ
इस सुरंग के मुँह में जाते डरूँ?
नही!
अशोभन!!
उद्यत हूँ मैं
है वरेण्यता की सीमा में मेरी
यह अज्ञात विजन पथ
आगे गुफा अँधेरी
जिसमें बढ़ते जाना ही मेरा भविष्य है
सत्य मानना
दुखी नहीं हूँ
मैं इस क्षण तक
ये क्या कम है
तुमने साथ निभाया मेरा इस दुनिया में
जब उदारता केवल संबंधों तक सीमित
ममता और आकर्षण केवल
अपने तन तक।

संभावित रचनाकाल : 1961-62

जैसे हिमालय

हिमालय से उठी एक कराह
एक गोली-सी लगी मेरे हृदय पर
और छाती इस तरह दरकी
कि लाखों-करोड़ों अनजान बर्बर
शत्रु चढ़ आए हमारी बहुत ऊँची
किंतु कुछ कमज़ोर छत पर
लगा सोता रह गया मैं

सिर्फ पल भर और उसके बाद
राइफल से गोलियाँ निकलीं
बर्फ मेरी नसों में पिघला
लगा मैं गा रहा हूँ
और मैं कवि नहीं
जैसे हिमालय हूँ!
और मेरी हिम त्वचा पर
क्रूर अनगिन पाँव मुझको रौंदते हैं
और मैं जो युग-युगों से
संतरी की तरह अटल खड़ा हुआ था
रक्षितों तक युवा, बूढ़ों, बालकों तक
आज रण का निमंत्रण पहुँचा रहा हूँ
साथियों से कह रहा हूँ—
दोस्तो आओ
आज अपनी इस विषम संवेदना को कहीं बो दें
आज वातावरण में सब जागते हैं
पत्र, पल्लव, फल मिलेंगे
कल मिलेंगे : बस ज़रा-सी भूमि खोदें

ये सभी आदेश बाधित शत्रु
आजकल जो हमारी छत पर खड़े हैं
त्रस्त और विवश बड़े हैं!
जानते हैं यदि इमारत डगमगाएगी
या छत टूट जाएगी
तो ऊँचाइयों को लिए नीचे गिरेंगे सब लोग
छत के साथ होंगे दफन
इनके भाग्य इनके भोग्य!!

मुझे इन पर दया आती है
और उन पर क्रोध कम दुःख अधिक होता है
जो कि इतने अधिक सपनों के मरण का दर्द लेकर
स्वयं को जीवित कहेंगे
एक सपना टूटने पर भी कहाँ व्यक्तित्व रहता है

किंतु ये बौने न जाने किस तरह
विश्व में अस्तित्व की संज्ञा लिए जीवित रहेंगे!!

आह, कैसा विषम है संवेदना का शाप
कैसे राष्ट्र देते झोंक अपने लोग अपने आप
कैसे स्वयं अपने व्यक्ति लगते उन्हें अपना भार
कैसे युद्ध के रस्ते देते भार तुरत उतार।
हम तो युद्ध की क्या बात
खेल के मैदान में भी
अगर कोई चोट खा जाए
उसे करते प्यार और दुलार!!
हमारे प्यारे सिपाही झेलते कठिनाइयाँ जो वहाँ
उनको जी रहे हम यहाँ।

भारत-चीन युद्ध का संदर्भ/1962

एक मनः

शांत सोए हुए जल को चीरकर हलचल मचाती
अभी कोई तेज़ नौका
गई है उस ओर,

इस निपट तम में अचानक
आँधियों से भर गया आकाश
सचमुच अभी;

एक पंछी
झील के तट से चिहुँककर
मर्मभेदी चीख भरता हुआ भागा है,

औ' न जाने क्यों
तुझे लेकर फिर हृदय में
एक विवश विचार जागा है।

'धर्मयुग', 20 जनवरी, 1963 में प्रकाशित/'कल्पना', 136 अंक में, फरवरी, 1963 में प्रकाशित 'एक शाम' शीर्षक से, 'आवाज़ों के घेरे' से

सत्य के लिए

त्रस्त जन-मन को मथता
जन का हाहाकार
अन्न के लिए तरसता
उत्तर, मध्य प्रदेश
मृत्यु के तट पर बैठा
जर्जर बुद्ध विहार

देश में व्याप्त तरुण विक्षोभ
समाजोन्मुख चेतना विलुप्त
व्यक्ति कुछ कोठरियों में बंद
कला में अनाचार-अतिचार
आत्मचिंतन की धारा बंद
आत्मरति अथवा यौनाचार
यौन लिप्साओं का अंबार
मूल्य से अवमूल्यन के सेतु
ख्याति का अल्प प्रार्थी रोग
किंतु हाँ, इसमें भी कुछ लोग
सत्य के साथ
सत्य के निकट
सत्य के लिए

भूख या अन्न
सुरा या मृत्यु

उपस्थिति सब प्रश्नों के हेतु

निरंतर जिए
सत्य के साथ
सत्य के निकट
सत्य के लिए
उन्हीं में तुम थे एक मनुष्य

बिहार में अकाल पड़ा था नेहरू की मृत्यु के बाद। गुलजारी लाल नंदा अल्पकाल के लिए प्रधानमंत्री थे। यह वही समय लगता है। (संपादक)/परसाई जी ने इस पर एक व्यंग्य लिखा था—एक संन्यासी को लेकर/1963-64

आज

अक्षरों के इस निविड़ वन में भटकतीं
ये हज़ारों लेखनी इतिहास का पथ खोजती हैं
...क्रांति! ...कितना हँसो चाहे
किंतु ये जन सभी पागल नहीं।

रास्तों पर खड़े हैं पीड़ा भरी अनुगूँज सुनते
शीश धुनते विफलता की चीख पर जो कान
स्वर-लय खोजते हैं
ये सभी आदेश-बाधित नहीं।

इस विफल वातावरण में
जो कि लगता है कहीं पर कुछ महक-सी है
भावना हो...सवेरा हो...
या प्रतीक्षित पक्षियों के गान—
किंतु कुछ है;
गंध-वासित वेणियों का इंतज़ार नहीं।

यह प्रतीक्षा : यह विफलता : यह परिस्थिति :
हो न इसका कहीं भी उल्लेख चाहे
खाद-सी इतिहास में बस काम आए
पर समय को अर्थ देती जा रही है

'कल्पना', अगस्त, 1959 में प्रकाशित, 'आवाज़ों के घेरे' से

दृष्टांत

वह चक्रव्यूह भी बिखर गया
जिसमें घिरकर अभिमन्यु समझता था खुद को

आक्रामक सारे चले गए
आक्रमण कहीं से नहीं हुआ
बस मैं ही दुर्निवार तम की चादर जैसा
अपने निष्क्रिय जीवन के ऊपर फैला हूँ।

बस मैं ही एकाकी इस युद्ध-स्थल के बीच खड़ा हूँ।

यह अभिमन्यु न बन पाने का क्लेश!
यह उससे भी कहीं अधिक क्षत-विक्षत सब परिवेश!!
उस युद्ध-स्थल से भी ज़्यादा भयप्रद''रौरव
मेरा हृदय-प्रदेश!!!
इतिहासों में नहीं लिखा जाएगा।

ओ इस तम में छिपी हुई कौरव सेनाओ!
आओ! हर धोखे से मुझे लील लो,
मेरे जीवन को दृष्टांत बनाओ;
नए महाभारत का व्यूह वरूँ मैं।
कुंठित शस्त्र भले हों हाथों में
लेकिन लड़ता हुआ मरूँ मैं।

रचनाकाल : जुलाई, 1957, 'आवाज़ों के घेरे' से

आग जलती रहे

एक तीखी आँच ने
इस जन्म का हर पल छुआ,
आता हुआ दिन छुआ
हाथों से गुज़रता कल छुआ
हर बीज, अँकुआ, पेड़-पौधा,
फूल-पत्ती, फल छुआ
जो मुझे छूने चली
हर उस हवा का आँचल छुआ!
''प्रहर कोई भी नहीं बीता अछूता
आग के संपर्क से
दिवस, मासों और वर्षों के कड़ाहों में
मैं उबलता रहा पानी-सा
परे हर तर्क से।
एक चौथाई उमर

यौं खौलते बीती बिना अवकाश
सुख कहाँ
यों भाप बन-बनकर चुका,
रीता,
भटकता—
छानता आकाश!
आह! कैसा कठिन
"कैसा पोच मेरा भाग!
आग, चारों ओर मेरे
आग केवल भाग!

सुख नहीं यों खौलने में सुख नहीं कोई,
पर अभी जागी नहीं वह चेतना सोई—;
वह, समय की प्रतीक्षा में है, जगेगी आप
ज्यों कि लहराती हुई ढकनें उठाती भाप!

अभी तो यह आग जलती रहे, जलती रहे,
ज़िंदगी यों ही कड़ाहों में उबलती रहे।

रचनाकाल : जुलाई, 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

सूखे फूल : उदास चिराग

आज लौटते घर दफ्तर से पथ में कब्रिस्तान दिखा
फूल जहाँ सूखें बिखरे थे औ' चिराग टूटे-फूटे
यों ही उत्सुकता से मैंने थोड़े फूल बटोर लिए
कौतूहलवश एक चिराग उठाया औ' संग ले आया

थोड़ा-सा जी दुःखा, कि देखो, कितने प्यारे थे ये फूल
कितनी भीनी, कितनी प्यारी होगी इनकी गंध कभी,
सोचा, ये चिराग जिसने भी यहाँ जलाकर रक्खे थे
उसके मन में होगी कितनी गहरी पीड़ा स्नेह-पगी

तभी आ गई गंध न जाने कैसे सूखे फूलों से
घर के बच्चे 'फूल-फूल' चिल्लाते आए मुझ तक भाग,
मैं क्या कहता आखिर उस हक लेने वाली पीढ़ी से
देने पड़े विवश होकर वे सूखे फूल, उदास चिराग

'कल्पना', अगस्त, 1959 में प्रकाशित, 'आवाज़ों के घेरे' से

साँसों की परिधि

जैसे अंधकार में
एक दीपक की लौ
और उसके वृत्त में करवट बदलता-सा
पीला अँधेरा।

वैसे ही
तुम्हारी गोल बाँहों के दायरे में
मुस्करा उठता है
दुनिया में सबसे उदास जीवन मेरा।

अक्सर सोचा करता हूँ
इतनी ही क्यों न हुई
आयु की परिधि और साँसों का घेरा।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

अनुकूल वातावरण

उड़ते हुए गगन में
परिंदों का शोर
दर्रों में, घाटियों में
ज़मीन पर
हर ओर...

एक नन्हा-सा गीत
आओ
इस शोरोगुल में
हम-तुम बुनें,
और फेंक दें हवा में उसको
ताकि सब सुनें,
और शांत हों हृदय वे
जो उफनते हैं
और लोग सोचें
अपने मन में विचारें
ऐसे भी वातावरण में गीत बनते हैं।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

एक यात्रा-संस्मरण

बढ़ती ही गई ट्रेन महाशून्य में अक्षत
यात्री मैं लक्ष्यहीन,
यात्री मैं संज्ञाहत।

छूटते गए पीछे
गाँवों पर गाँव
और नगरों पर नगर
बागों पर बाग
और फूलों के ढेर
हरे-भरे खेत औ' तड़ाग
पीले मैदान
सभी छूटते गए पीछे...

लगता था
कट जाएगा अब यह सारा पथ
बस यों ही खड़े-खड़े
डिब्बे के दरवाज़े पकड़े-पकड़े।

बढ़ती ही गई ट्रेन आगे
और आगे—
राह में वही क्षण
फिर बार-बार जागे
फिर वही विदाई की बेला
औ' मैं फिर यात्रा में—
लोगों के बावजूद
अर्थशून्य आँखों से देखता हुआ तुमको
रह गया अकेला।

बढ़ती ही गई ट्रेन
धक-धक धक-धक करती
मुझे लगा जैसे मैं
अंधकार का यात्री
फिर मेरी आँखों में गहराया अंधकार
बाहर से भीतर तक भर आया अंधकार।

'कल्पना', जुलाई, 1961 में प्रकाशित, 'आवाज़ों के घेरे' से

कौन-सा पथ···

तुम्हारे आभार की लिपि में प्रकाशित
हर डगर के प्रश्न हैं मेरे लिए पठनीय
कौन-सा पथ कठिन है···?
मुझको बताओ
मैं चलूँगा।

कौन-सा सुनसान तुमको कोंचता है
कहो, बढ़कर उसे पी लूँ
या अधर पर शंख-सा रख फूँक दूँ
तुम्हारे विश्वास का जय-घोष
मेरे साहसिक स्वर में मुखर है।

तुम्हारा चुंबन
अभी भी जल रहा है भाल पर
दीपक सरीखा
मुझे बतलाओ
कौन-सी दिशि में अँधेरा अधिक गहरा है!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

आवाज़ों के घेरे

आवाज़ें...
स्थूल रूप धरकर जो
गलियों, सड़कों में मँडलाती हैं,
कीमती कपड़ों के जिस्मों से टकराती हैं,
मोटरों के आगे बिछ जाती हैं,
दूकानों को देखती ललचाती हैं,
प्रश्नचिह्न बनकर अनायास आगे आ जाती हैं—
आवाज़ें!
आवाज़ें, आवाज़ें!!

मित्रो!
मेरे व्यक्तित्व
और मुझ जैसे अनगिन व्यक्तित्वों का क्या मतलब?
मैं जो जीता हूँ
गाता हूँ
मेरे जीने, गाने
कवि कहलाने का क्या मतलब?
जब मैं आवाज़ों के घेरे में
पापों की छायाओं के बीच
आत्मा पर बोझा-सा लादे हूँ;
जब मैं सोते-सोते
जग-जगकर रोता हूँ
तकिये में सिर धुनता

सुनता हूँ
आवाज़ें!
आवाज़ें, आवाज़ें!!

मित्रो!
इनकी प्रतिध्वनियाँ
जैसे मीलों से आती हैं
आकर मुझसे
मेरे मन से
मेरी आत्मा से टकराती हैं,
माथे की शिकनों में
कविता के अनजन्मे शब्दों में
भावों में रम जाती हैं,
मुझको छूती हैं, उकसाती हैं
मेरे पौरुष के चप्पे-चप्पे को
घायल कर जाती हैं।
सीने से माथे तक दहता हूँ
फिर भी मैं रोम-रोम पर सहता हूँ
आवाज़ें!
आवाज़ें, आवाज़ें!!

मुक्ति नहीं पाऊँगा क्या मैं?
घुट-घुटकर मर जाऊँगा क्या मैं?
इस आपद् के समय बुलाता हूँ
आओ!
मेरे मित्रो!
मेरी कविताएँ पढ़ने वालो
मेरे सहयोगी लिखने वालो
आओ!
आवाज़ों के चौतरफा हमलों से
मुझे बचाओ।
या फिर मेरी आँखों पर पट्टी बाँधो
मेरे अधरों पर जड़ दो ताले
कानों के परदे कर दो नष्ट
मेरी भावुकता को कस बेबस कर दो

"वरना फिर
जब मेरे पैन की स्याही में आँसू झलकें
वाणी में लपटें उतरें
कागज़ पर छंदों में विद्रोही नक्शे दीखें
तब मुझसे ये मत कहना
—ये क्या करते हो भाई?
—ये क्या कहते हो भाई?

मित्रो!
मुझसे हमदर्दी है तो
मेरी बेचैनी का कारण समझो-बूझो
आओ
मेरे संग-संग इन आवाज़ों से जूझो
इनकी ध्वनियों को बदलो
इनके अर्थो को बदलो
इनको बदलो!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

निर्जन सृष्टि

कुलबुलाती चेतना के लिए
सारी सृष्टि निर्जन
और"
कोई जगह ऐसी नहीं
सपने जहाँ रख दूँ।

दृष्टि के पथ में तिमिर है
औ' हृदय में छटपटाहट
ज़िंदगी आखिर कहाँ पर फेंक दूँ मैं
कहाँ रख दूँ?

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

ओ मेरे प्यार के अजेय बोध

ओ मेरे प्यार के अजेय बोध!
संभव है मन के गहन गह्वरों में जागकर
तूने पुकारा हो मुझे
मैं न सुन पाया हूँ;
—शायद मैं उस वक्त
अपने बच्चों के कुम्हलाए चेहरों पर
दिन उगाने के लिए
उन्हें अक्षर-बोध करा रहा हूँ
—या ऑफिस की फाइल में डूबा हुआ
इत्तिफाक की भूलों पर
संभावनाओं का लेप चढ़ा रहा हूँ
—या अपनी पत्नी के प्यार की प्रतीक
चाय पी रहा हूँ!

ऐसा ही होगा
ओ मेरे प्यार के अजेय बोध,
ऐसा ही हो सकता है
क्योंकि यही क्रम मेरा जीवन है, चर्या है
वरना
मैं तुम्हारी आवाज़ नहीं
आहट भी सुन लेता था
कोलाहलों में भी जब हवा महकती थी
तो मुझे मालूम हो जाता था
कि चंपा के पास कहीं मेरी प्रतीक्षा है!
जब तारे चमकते थे
तो मैं समझ लेता था कि आज नींद
व्योम में आँखमिचौनी खेलेगी
और यह कि मुझे तुम्हारे पास होना चाहिए।

ओ मेरे प्यार के अजेय बोध,
शायद ऐसा ही हो कि मेरा एहसास मर गया हो
क्योंकि मैंने कलम उठाकर रख दी है

और अब तुम आओ या हवा
आहट नहीं होती,
बड़े-बड़े तूफान दुनिया में आते हैं
मेरे द्वार पर सनसनाहट नहीं होती
...और मुझे लगता है
अब मैं सुखी हूँ—
ये चंद बच्चे, बीवी
ये थोड़ी-सी तनख्वाह
मेरी परिधि है जिसमें जीना है
यही तो मैं हूँ
इससे आगे और कुछ होने से क्या?

...जीवन का ज्ञान है सिर्फ जीना मेरे लिए
इससे विराट चेतना की अनुभूति अकारथ है
हल होती हुई मुश्किलें
खामखा और उलझ जाती हैं
और ये साधारण-सा जीना भी नहीं जिया जाता है।
मित्र लोग कहते हैं
मेरा मन प्राप्य चेतना की कड़ुवाहट को
पी नहीं सका,
उद्धत अभिमान उसे उगल नहीं सका
और मैं अनिश्चय की स्थिति में
हारा,
उद्विग्न हुआ,
टूट गया;
शायद ये सब सच हो।

पर मेरे प्यार के अजेय बोध,
अब इस परिस्थिति ने नया गुल खिलाया है
आक्रामक तुझे नहीं अब मुझे बनाया है
अब मेरी पलकों में स्वप्न-शिशु नहीं रोते
(यानी अब तेरे आक्रमण नहीं होते)
अब तेरे दंशन को उतनी गहराई से
कभी नहीं जीता हूँ
अब तू नहीं

मैं तेरी आत्मा को पीता हूँ
तेरे विवेक को सोखता हूँ
तुझको खाता हूँ
क्योंकि मैं बुभुक्षित हूँ,
भूखा हूँ,
ओ मेरे प्यार के अजेय बोध!

'कल्पना', जुलाई, 1961 में प्रकाशित, 'आवाज़ों के घेरे' से

अच्छा-बुरा

यह कि चुपचाप पिए जाएँ
प्यास पर प्यास जिए जाएँ
काम हर एक किए जाएँ
और फिर छिपाएँ
वह ज़ख्म जो हरा है
यह परंपरा है।

किंतु इंकार अगर कर दें
दर्द को बेबसी को स्वर दें
हाय से रिक्त शून्य भर दें
खोलकर धर दें
वह ज़ख्म जो हरा है
तो बहुत बुरा है।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

गीत का जन्म

एक अंधकार बरसाती रात में
बर्फ़ीले दर्रों-सी ठंडी स्थितियों में

अनायास दूध की मासूम झलक-सा
हँसता, किलकारियाँ भरता
एक गीत जन्मा
और
देह में ऊष्मा
स्थिति संदर्भों में रोशनी बिखेरता,
सूने आकाशों में गूँज उठा :
—बच्चे की तरह मेरी उँगली पकड़कर
मुझे सूरज के सामने ला खड़ा किया।

यह गीत
जो आज चहचहाता है,
अंतर्वासी अहम् से भी स्वागत पाता है,
नदी के किनारे या लावारिस सड़कों पर
निःस्वन मैदानों में
या कि बंद कमरों में
जहाँ कहीं जाता है
मरे हुए सपने जगाता है—
बहुत दिनों तड़पा था अपने जनम के लिए।
मेरी भावनाओं की ज़ख्मी कोख में
कोहनियाँ टिकाकर
नन्हे नाखूनों से खरोंचकर
लगातार छोटे-छोटे पाँवों से प्रहार कर
विवश कर दिया था इसने बंध्या अभिव्यक्ति को।

—और आज हँसता है
सामने खड़ा होकर मुँह बिराता है,
साथ-साथ कूदने के लिए ललकारता है,
अँधियारे कोनों में जा-जाकर
मुझको पुकारता है।

और मुझे लगता है
अपने जनम के लिए शायद सब गीत
इसी तरह घुटते हैं
इसी तरह लड़ते हैं

...और क्या पता
कि मैं और तुम और हम सब
जो धरती माता की गोद में तड़पते हैं,
मुट्ठियाँ बाँध-बाँधकर आगे बढ़ते हैं,
लड़ते हैं और हार जाते हैं—
किसी वृहद् और विशाल गीत के बोल हों,
और कल जन्म लेकर
पूरी धरती पर फैल जाएँ!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

विवेकहीन

जल में आ गया ज्वार
सागर आंदोलित हो उठा मित्र,
नाव को किनारे पर कर लंगर डाल दो,

हर कुंठा क्रांति बन जाती है जहाँ पहुँच
लहरों की सहनशीलता की उसी सीमा पर
आक्रमण किया है हवाओं ने,

स्वागत! विक्षुब्ध सिंधु के मन का
स्वागत! हर दुःखहर आंदोलन का

कब तक सहता रहता
अन्यायी वायु के प्रहारों को मौन यों ही
गरज उठा सागर—
विवेकहीन जल है, मनुष्य नहीं।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

दुहरी ज़िन्दगी

रात बारह का गजर बोला है
फिर गली में गला फाड़ के रोया कुत्ता
यह कबूतर के बँधे पंखों की आवाज़ उठी
वह दबे पाँव किसी दाँव पर अकुलाती हुई
रात आकर छाई

आज का दृश्य यहीं खत्म करेंगे हम लोग
रोशनी गुल कर दो
परदे को गिराओ जल्दी
ओस गिरती हुई खामोशी में धीरे-धीरे
अब इन्हें सोचने दो
जाने दो
लोग अलसाए औ' उकताए हुए लगते हैं
रात बारह का गजर बोल चुका

ये दुहरी ज़िंदगी, अब और अधिक देर नहीं
लोग हैं ये
इनके जज़बात न बुझ जाएँ कहीं
इन्हें ले जाओ—इन्हें चाय पिलाओ
जाओ
वाचक से कहो चुप हो जाए
बंद कर ले वह किताब
जिसको तोते की तरह पढ़ता रहा
रात बारह का गजर बोल चुका
आज का दृश्य यहीं खत्म करेंगे हम लोग…

भोपाल के दिनों लिखी कविता

प्रश्नवाचक लोग

अब नहीं तो फिर किसी दिन जगेंगे
प्यारे लगेंगे
ये उदास-उदास बैठे प्रश्नवाचक लोग
इस विचारों के सघन वन से कभी भी
अचानक उठकर हवा का तेज़ झोंका सर्द
इन्हें झकझोर देगा, पंथ देगा दिशा देगा
शक्ति के अनजान रस में बोर देगा
नए अर्थों से करेगा ज्ञान को संपृक्त
हाँ, नहीं फिर विचारों में शक्ति का क्या अर्थ

गाँठ-सी बाँधी हुई
चेतना भीतर मुखर होगी
फैल जाएँगे दिशाओं में
सुबह के पंछियों-से गीत
रास्तों में पड़े ये पाषाण जैसे विघ्न
दिशासूचक बने शायद खड़े हों भयभीत
क्या पता है या सभी बन जाएँ अपने मीत
और फिर प्यारे लगें
ये घर-गली ये गाँव
ये जगत की तप्त जलती छाँव
ये उदासी प्रश्नवाचक लोग
और ये वृश्चिक दर्शन-सी ज़िंदगी
जिसे हम तुम सब रहे हैं भोग

एक आशीर्वाद

जा,
तेरे स्वप्न बड़े हों
भावना की गोद से उतरक
जल्द पृथ्वी पर चलना सीर

चाँद-तारों-सी अप्राप्य सच्चाइयों के लिए
रूठना-मचलना सीखें
हँसें
मुसकराएँ
गाएँ
हर दीये की रोशनी देखकर ललचाएँ
उँगली जलाएँ
अपने पाँवों पर खड़े हों।
जा,
तेरे स्वप्न बड़े हों।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

भविष्य की वंदना

संपुट प्रकाश-पुंज हो तुम
मैं हूँ हिमाच्छन्न पर्वत
किरण-कोष धारे हो तुम
मैं हूँ विस्तीर्ण गर्व-उन्नत
मुझे गलाने वाली किरणें कब फेंकोगे?
धरती पर बहने का मार्ग कब दोगे?
कब करोगे मुक्त
छाती पर बसे भार से?
हे संयमित व्यक्तित्व से नम्र, श्रुत भविष्यत!

वायु के सहारों पर टिका हुआ
कोहरा आधार है हमारा
कल्पना पर जीते हैं
गैस के गुब्बारों-से सपने
बच्चों-सी लालची हमारी आत्माओं को
निकट बुलाते हैं
...खरीदें,
पर हम रीते हैं,

इस पर भी दंभ है महत्त्वाकांक्षाओं का
(जो कि ज़िंदगी की चौहद्दी में
वेष बदल, रावण-सी घुस आई)

खंडित पुरुषार्थ
गांडीव की दुहाई देता हुआ, निष्क्रिय है
कर्म नहीं—
केवल अहंकार को जगाता है!
(आह, राम घायल हो
मायावी हिरण के तेज़ सींगों से
रह-रह कराहते हैं)

आशाएँ रही-सही शीघ्र टूट जाएँगी
खीझों के फलस्वरूप
नुचे हुए पत्तों-सी नंगी डालें लहराएँगी
(विजय-सूचिका ही उन्हें
चाहे हम समझें)

सुनो, आहत राम ने लक्ष्मण को पुकारा
—हरी गई सीता!
—अब किसी बियाबान वन में जटायु टकराएगा
—नहीं, वायुयान पर बिठाकर ले जाएगा
अव्वल तो जटायु नहीं आज
और हो भी तो कब तक लड़ पाएगा?
...राम युद्ध ठानेंगे सामने मशीनों के?
वानरों की सेना से!
जो कि स्वयं भूखी है आज!
अपने नगर के घरों में
मुँडेरों पर बैठकर
रोटी ले भागने की फिक्र में रहती है

लेकिन नहीं है भविष्यत!
भूत को
इतना तो बदलो मत,
आस्था दो
कि हम अपनी बिक्री से डरें

बल दो—दूसरों की रक्षा को—
अपहरण न करें,
दृष्टि दो
जो हम सबकी वेदना पहचानें
सबके सुख गाएँ,
आग दो
जो सोने की लंका जलाएँ।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

राह खोजेंगे…

ये कराहें बंद कर दो
बालकों को चुप कराओ
सब अँधेरे में सिमट आओ यहाँ नतशीश
हम यहाँ से राह खोजेंगे।

हम पराजित हैं मगर लज्जित नहीं हैं
हमें खुद पर नहीं
उन पर हँसी आती है
हम निहत्थों को जिन्होंने हराया
अँधेरे व्यक्तित्व को अंधी गुफाओं में
रोशनी का आसरा देकर
बड़ी आयोजना के साथ पहुँचाया
और अपने ही घरों में कैद करके कहा :
"लो तुम्हें आज़ाद करते हैं।"

आह!
वातावरण में बेहद घुटन है
सब अँधेरे में सिमट आओ
और सट जाओ
और जितने आ सको उतने निकट आओ
हम यहाँ से राह खोजेंगे।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

दूसरा संदर्भ

वही बालुका तट है
जिस पर रूई-चाँदनी फैल रही है
वही अखंडित मौन
किंतु कुछ सूना-सूना
जैसे आकर कोई अजदह सूँघ गया है;

वही दशाएँ...
शांत खड़ी हैं नावें अब भी
लहरें आकर टकराती हैं
पर टक्कर को चुप सह लेना
अनुभव को यह दर्द नया है।

थके हुए अजनबी यात्रियो—आओ!
उभरें चिह्न बालुका-तट पर—गाओ!
मौन तोड़ दो नावों पर चढ़ जाओ!
—हाँक लगाओ!
हम भी तुमको लहरों से टकराते देखेंगे
चाहे हम कितने तटस्थ द्रष्टा हों लेकिन
यह ठहराव हमें दुःख देता है।

'ज्ञानोदय', फरवरी, 1960 में प्रकाशित, 'आवाज़ों के घेरे' से

सूना घर

सूने घर में किस तरह सहेजूँ मन को
पहले तो लगा कि अब आईं तुम, आकर
अब हँसी की लहरें काँपी दीवारों पर
खिड़कियाँ खुलीं अब लिए किसी आनन को

पर कोई आया-गया न कोई बोला
खुद मैंने ही घर का दरवाज़ा खोला
आदतवश आवाज़ें दीं सूनेपन को

फिर घर की खामोशी भर आई मन में
चूड़ियाँ खनकती नहीं कहीं आँगन में
उच्छ्वास छोड़कर ताका शून्य गगन को

पूरा घर अँधियारा गुमसुम साए हैं
कमरे के कोने पास खिसक आए हैं
सूने घर में किस तरह सहेजूँ मन को

'धर्मयुग' में 4 नवंबर, 1962 को प्रकाशित, 'आवाज़ों के घेरे' से

गांधीजी के जन्मदिन पर

मैं फिर जनम लूँगा
फिर मैं
इसी जगह आऊँगा
उचटती निगाहों की भीड़ में
अभावों के बीच
लोगों की क्षत-विक्षत पीठ सहलाऊँगा
लँगड़ाकर चलते हुए पाँवों को
कंधा दूँगा
गिरी हुई पद-मर्दित पराजित विवशता को
बाँहों में उठाऊँगा।

इस समूह में
इन अनगिनत अचीन्ही आवाज़ों में
कैसा दर्द है!
कोई नहीं सुनता!
पर इन आवाज़ों को
और इन कराहों को
दुनिया सुने मैं ये चाहूँगा।

मेरी तो आदत है
रोशनी जहाँ भी हो
उसे खोज लाऊँगा

कातरता, चुप्पी या चीखें
या हारे हुओं की खीज
जहाँ भी मिलेंगी
उन्हें प्यार के सितार पर बजाऊँगा।

जीवन ने कई बार उकसाकर
मुझे अनुलंघ्य सागरों में फेंका है
अगन-भट्ठियों में झोंका है,
मैंने वहाँ भी
ज्योति की मशाल प्राप्त करने के यत्न किए
बचने के नहीं,
तो क्या इन टटकी बंदूकों से डर जाऊँगा?

तुम मुझको दोषी ठहराओ
मैंने तुम्हारे सुनसान का गला घोंटा है
पर मैं गाऊँगा
चाहे इस प्रार्थना सभा में
तुम सब मुझ पर गोलियाँ चलाओ
मैं मर जाऊँगा
लेकिन मैं कल फिर जनम लूँगा
कल फिर आऊँगा।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

दो मुक्तक

1

ओ री घटा
तूने एक बूँद भेजी नहीं
ले प्यासे अधर यहाँ
कब से खड़ा हूँ मैं!

मेरी हर अग्नि तुझ तक
पहुँचकर बनी है जल

सोचा तो होता
याचक कितना बड़ा हूँ मैं!!

2

रोम-रोम पुलकित
उच्छ्वसित अधर
उठती-गिरती छाती
कंपित स्वर
आँखों में विस्मय···!
···अभी-अभी जो मेरा तन सिहराती गई
क्या वह तेरी साँस नहीं थी
जिसने मुझे छुआ
क्या वह तेरा स्पर्श नहीं था?

रचनाकाल : 1957-59 के बीच, 'आवाज़ों के घेरे' से

अपनी प्रेमिका से

मुझे स्वीकार हैं वे हवाएँ भी
जो तुम्हें शींत देतीं
और मुझे जलाती हैं
किंतु
इन हवाओं को यह पता नहीं है
मुझमें ज्वालामुखी है
तुममें शीत का हिमालय है
फूटा हूँ अनेक बार मैं,
पर तुम कभी नहीं पिघली हो,
अनेक अवसरों पर मेरी आकृतियाँ बदलीं
पर तुम्हारे माथे की शिकनें वैसी ही रहीं
तनी हुईं।
तुम्हें ज़रूरत है उस हवा की
जो गर्म हो

और मुझे उसकी जो ठंडी!

फिर भी मुझे स्वीकार है यह परिस्थिति
जो दुःखाती है
फिर भी स्वागत है हर उस सीढ़ी का
जो मुझे नीचे, तुम्हें ऊपर ले जाती है
काश! इन हवाओ को यह सब पता होता!
तुम जो चारों ओर
बर्फ की ऊँचाइयाँ खड़ी किए बैठी हो
(लीन समाधिस्थ)
भ्रम में हो।
अहम् है मुझमें भी
चारों ओर मैं भी दीवारें उठा सकता हूँ
लेकिन क्यों?
मुझे मालूम है
दीवारों को
मेरी ऑच जा छुएगी कभी
और बर्फ पिघलेगी
पिघलेगी!

मैंने देखा है
(तुमने भी अनुभव किया होगा)
मैदानों में बहते हुए उन शांत निर्झरों को
जो कभी बर्फ के बड़े-बड़े पर्वत थे
लेकिन जिन्हें सूरज की गर्मी समतल पर ले आई।

देखो ना!
मुझमें ही डूबा था सूर्य कभी,
सूर्योदय मुझमें ही होना है,
मेरी किरणों से भी बर्फ को पिघलना है,
इसीलिए कहता हूँ—
अकुलाती छाती से सट जाओ,
क्योंकि हमें मिलना है।

'राष्ट्रवाणी' के दिसंबर, 1956 अंक में 'हमें मिलना है' शीर्षक से प्रकाशित,
'आवाज़ों के घेरे' से

प्रयाग की शाम

यह गर्मी की शाम
इसका बालम बिछुड़ गया है
...इसका बालम बिछुड़ा जब से
उखड़ गए हैं शायद सुख-सपनों के डेरे
...आज हुई पगली
प्रयाग की सड़क-सड़क पर
गली-गली में
घूम रही है लंबे काले बाल बिखेरे
(घोर उदासी भरी, पसीने से तर)
है बेहद बदनाम!
यह प्रयाग की शाम!

रचनाकाल : 1957, 'आवाज़ों के घेरे' से

स्वप्न-खंड

रात-भर जिया हूँ अँधियारे में
गुमसुम-से खड़े रहे पेड़-फूल
उम्र के विषैले गलियारे में
बहुत तेज़ आँधी आई, उड़ी धूल
...कोई नहीं बोला रात
लोग सभी लंबी तान सोते रहे
घूमते रहे अलकापुरियों में लोगों के—
स्वप्न, सिर्फ मेरे विकल होते रहे।
...लगा—आह! कैसे तहखाने में आ गया!
कौन मार्गदर्शक ऐसा
गलत पथ सुझा गया?

छोटा-सा एक स्वप्न
दुनिया दिखा गया!!

'कल्पना' के फरवरी, 1963 अंक में प्रकाशित, 'आवाज़ों के घेरे' से

असमर्थता

पथ के बीचों-बीच खड़ी दीवार
और मैं देख रहा हूँ!

बढ़ती आती रात
चील-सी पर फैलाए,
और सिमटते जाते
विश्वासों के साए।
तम का अपने सूरज पर विस्तार
और मैं देख रहा हूँ!

महज़ तनिक-से तेज़
हवा के हुए दुधारे,
औंधे मुँह गिर पड़े
धूल पर सपने सारे,
खिलने के क्षण में ऐसे आसार
और मैं देख रहा हूँ!

धिक्! मेरा काव्यत्व
कि जिसने टेका माथा,
धिक् मेरा पुंसत्व
कि जिसकी कायर गाथा,
ये अपने से ही अपने की हार
और मैं देख रहा हूँ!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

आत्मकथा

आँख जब खोली मैंने पहले-पहल
युग-युगांतरों का तिमिर
घनीभूत
सामूहिक

सामने खड़ा पाया।
साँस जब ली मैंने
सदियों की सड़ाँध
वायु-लहरों पर जम-जमकर
ज़हर बन चुकी थी।
पाँव जिस भूमि पर रखा उसको पदमर्दित,
अनवरत प्रतीक्षाहत,
शंकाकुल,
कातर,
कराहते हुए देखा
शापग्रस्त था मेरे ही माथे का लेखा!
मिला नहीं कोई भी सहयोगी
अपना पुंसत्व-बोध खोए क्षत, संज्ञाहत
सिक्कों से घिसे औ' गुरुत्वहीन
ऐसे व्यक्तित्व मिले
जिन्हें अपनाने में तिलमिला गया मैं।
परिचय घनिष्ठ हो गया लेकिन इन सबसे
कैसे नकारूँ इन्हें या अस्वीकारूँ आज
ये मेरे अपने हैं
मेरी ही आत्मा के वंशज हैं।
इन्हें इसी धरती ने
इसी वातावरण ने
इसी तिमिर ने अंग-भंग कर दिया है।

सच है
अब ये अकुलाते नहीं,
बोलते-गाते नहीं,
दुःखते-जलते हैं,
इंच-इंच गलते हैं,
किंतु कभी चीखते नहीं ये
चिल्लाते नहीं,
अधर सी दिए हैं इनके
बड़े-बड़े तालों ने
जिन्हें मर्यादा की चाबियाँ घुमाती हैं।

किंतु मैं अकुलाया
चीखा-चिल्लाया भी
नया-नया ही था दुःख सहा नहीं गया
मौन साध लेता कैसे
रखकर मुँह में ज़बान
प्रश्न जब सुने
आहत, विह्वल मनुष्यता के
उत्तर में मुझसे चुप रहा नहीं गया।

किंतु मैं कवि हूँ कहाँ
कहाँ किसे मिलती है मेरी कविताओं में
इंद्रजुही सपनों की
रूप और फलों की
सतरंगी छवियों की
स्निग्ध कलित कल्पना;
लगता है
मैं तो बस जल-भीगा कपड़ा हूँ
जिसको निचोड़कर मेरी ये कविताएँ
उष्ण इस धरती के ऊपर छिड़क देती हैं
कविताएँ माध्यम हैं शायद
उस ऋण को लौटाने का
जो मैंने तुम सबसे लिया है
मित्रो,
मेरी प्रशंसा क्यों करते हो
मैंने क्या किया है!

फिर भी
लेकिन फिर भी
लोगों ने मुझे कवि पुकारा
उद्धत, अविनीत नहीं
क्योंकि
यद्यपि वे मौन रहे
किंतु उन ही की भावनाओं को
वाचा दी मैंने
उन सबकी ध्वनियों को
गुंजरित वितरित किया

और पूछना जो चाहते थे वे
यही प्रश्न
मैंने प्रतिध्वनित किया
चारों दिशाओं में।

सच है ये
उत्तर अभी नहीं मिला
किंतु मैं चुपा भी नहीं,
सच है ये
अब तक रण अनिर्णीत
किंतु मैं थका भी नहीं।
जारी हैं सारे संभव प्रयत्न
जारी रहेंगे।
ये ही प्रश्न गूँजेंगे
सत्य के लिए भटकती आत्मा की तरह
गूँजते रहेंगे ये ही प्रश्न
वर्षों के अंतराल में ‥जब तक
उत्तर न पा लेंगे।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

घूमने अकेले

पथ के इधर-उधर खड़े हुए वृक्ष नहीं बोलते
लता-गुल्म चुप
फूल-पत्ते खामोश!
पाँवों से लिपटने की आतुरता धूल में नहीं
झोंकों-पर-झोंके पास से गुज़र जाते हैं
बाँसुरी बजाती नहीं हवा
गाते नहीं पंछी
झुंड-के-झुंड दुर्भाग्य की तरह
मेरे शीश के ऊपर मँडलाते हैं।

‥नदी के किनारे संगीत नहीं
मेढकों का शोर उभर आता है,

पानी में तिरती हैं परछाइयाँ काली,
कदंब की छाया में उमस है अशांति भरी
धूप नहीं,
आकाश के आइने में दैत्याकार मेघ-खंड
प्रतिबिंबित अधनिर्मित सपनों के रूप नहीं;
...थोड़े-से जल में उतरते हुए डरता हूँ,
सूने से प्रेत-प्रभाव जगता है,
ओ मेरी प्रिया!
तुझसे क्या कहूँ!
आज उसी पथ पर हर अनुभव
विपरीत हुआ लगता है।

'धर्मयुग' में 4 नवंबर, 1962 को प्रकाशित, 'आवाज़ों के घेरे' से

विवश चेतना

मेरे हाथ कलम लेकर
मुझसे भी अच्छे गायक का पथ जोह रहे हैं,
मेरी दृष्टि कुहासे में से
नई सृष्टि-रचना की संभावित बुनियादें
देख रही है,
मेरी साँसें
अस्तित्वों की सार्थकता को जूझ रही हैं,
मेरी पीड़ा हर उदास चेहरे से मिलकर
एक नई उपलब्धि खोजती भटक रही है,
मेरी इच्छा कोई वातावरण बनाने में तत्पर है,
मेरी हर आकांक्षा
आने वाले कल में जाग रही है,
(तन का क्या है
ये तो बेजन्मा-सा आकुल-आतुर यात्री)
मेरी विवश चेतना
जग में बसने को घर माँग रही है।

रचनाकाल : 1957, 'आवाज़ों के घेरे' से

छत पर : एक अनुभूति

दृष्टि के विस्तार में बाँधे मुझे
तुम शाम से छत पर खड़ी हो :
अब तुम्हारे और मेरे बीच का माध्यम : उजाला
नष्ट होता जा रहा है।

देखती हो
भाववाही मौन की संपन्न भाषा भी बहुत असमर्थ
और आशय हमें ही लग रहे हैं अपरिचित-से
और हम दोनों प्रतिक्षण
निकटता का बोध खोते जा रहे हैं।

दो छतों के फासले में
श्यामवर्ण अपारदर्शी एक शून्य बिखर रहा है;
किस तरह देखूँ
कि मेरा मन अँधेरे में
तुम्हारे लिए विह्वल हो रहा है।

ऑन कर दो स्विच
कि तुम तक हो पुनः विस्तार मेरा
अँधेरे में तुम्हारे संकेत मुझ तक नहीं आते।
(आह! कितना बुरा होता है अँधेरा)

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

क्या मेरे साथ यही न्याय है तुम्हारा

हर वक्त मुझे
विष और अमृत भरी दृष्टि से निहारना
एक तृषा मारना
दूसरी सँवारना
मुझे घुलाने के लिए स्वयं घुलना
व्यंग्य करने के लिए

मेरी बातें पकड़ना
और जो तुम नहीं हो
उस रूप में खुलना
यानी बिना बात लड़ना
क्या मेरे साथ यही न्याय है तुम्हारा

मैं बड़ी-बड़ी शर्तों में उलझकर
जिस एक क्षण से निकलने के लिए
छटपटाता हूँ
मैं अपने पूरे परिवेश में
सजाए हुए तुमको
अग्निमुखी सपनों की कल्पना करता हुआ
एक स्वप्न-खंड से उबरने के लिए
अपनी आत्मा का अस्तित्व भूल जाता हूँ
तो क्या इसलिए कि
तुम मेरे जागरूक वर्तमान को
उस अंधे अतीत की
काल-कोठरी में डाल दो
फिर मरे हुए सपनों को
बच्चों की गेंद के समान छुओ
छेड़ो, दबाओ और उछाल दो
निर्मल गंगाजल से भरा
भावनाओं का कलश
अपनी ईर्ष्या का हाथ डाल
बेहतर खँगाल दो
क्या मेरे साथ यही न्याय है तुम्हारा

संभावित रचनाकाल : 1962-63

सरस्वती-वंदना

माँ, मुझको क्षमा मिले
फिर मैं हूँ उत्सुक *

आतुर
अधीर
श्रद्धा-नत
क्षत-विक्षत;
मैं तेरी आत्मा का एक अंश!
ओ माँ!
मैं पहले था थोड़ा अविनीत
धृष्ट
उद्धत
दुस्साहस-युत, क्रोधी,
पर माँ
इस दुनिया ने
अनुभव ने
पीड़ा ने
मुझमें भी ज्ञान-बेलि बो दी।

अब मेरी दृष्टि रहेगी स्थिर
व्यथा कुछ न बोलेगी
शक्ति नहीं लरजेगी
वीर्यवान संवेदन रहेगा मौन
निर्वश!

माँ!
मेरी बद्ध अंजुलियों में
रस है अब
तड़प नहीं
वाणी में सहज अभ्यर्थना है
आग नहीं,
बस तू है मेरी आराध्य मातः
क्षमा मिले!

फिर मैं हूँ उत्सुक!
आतुर!!
अधीर!!!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

अबोध शाप

तुम अबोध थीं
जो अनार के दानों-सी खिलखिलाकर हँस दीं
मैं बालक था
उसे सहज निष्काम भाव से ग्रहण कर लिया,
तुमने कभी न जाना
सहसा मुझमें कितनी उतर गई तुम,
मैंने कभी न जाना—
कोई सुंदर-सा अभिशाप वर लिया।

तब से अब तक
अंतर्मन में दंश लिए पल-पल बीते हैं
गहरे से गहरा अभाव भी
हमने साझे में निपटाया,
कैसा अंतर्ग्रथित भाग्य है प्राण परस्पर हम दोनों का

तुम वह हँसी नहीं हँस पाई
मैं वह भाव नहीं तज पाया।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

शीत-प्रतिक्रिया

बाहर कितना शीत
हवा का दुसह बहाव
भीतर कितनी कठिन उमस है
औ' ठहराव!

तेज़ हवा को रोक
कि ये ठहराव फाड़ दे
शीत घटा
या मन के अंगारे उघाड़ दे;

दो खंडों में बाँट न
यह व्यक्तित्व अधूरा
ईश्वर मेरे,
मुझे कहीं होने दे पूरा।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

परंपरा-वियुक्त

दुनिया की चहारदीवारी में
ये हम जो सुनते हैं आवाज़ें
ये सब माँ से बिछुड़े बालक हैं :

आँगन में लोट रहे, चीख रहे
माथे को पीट-पीट
पाँवों को पटक रहे
बालों को नोच रहे
ये सब माँ से बिछुड़े बालक हैं :

मेले में भटके होते तो
कोई घर पहुँचा जाता
ये घर में भटके हैं :

मैंने तो कई बार समझाया इन्हें
कहा—'सुख लो परिस्थिति से,
घर की स्वतंत्रता से,
ड्राइंगरूम में जाकर बैठो
सोफों पर कूदो
परदे झिंझोड़ दो,
जिन्हें मना करती थी माँ
वे प्लेटें, वे प्याले तोड़ दो;
घर को, इस चहारदीवारी को
खेल-खेल में ही
तूफान से भर दो,

चमकदार सीमेंटेड दीवारें
माथों से फोड़ दो,
काली कर दो।'

पर ये नहीं माने, रोते रहे।
मेरे समझाने पर
और भी अधिक विह्वल होते रहे।

तब मैंने कहा—
'लो, तुम्हारी माँ अब आई,
मार्केट तक गई है
खिलौने लाएगी
चुप हो जाओ तो
अभी लौट आएगी।'

मगर नहीं
प्रकट की अनास्था
हर खेल हर खिलौने पर
अविश्वास मेरे आश्वासन पर
स्वर में आशंका औ' भय भरकर
केवल यही पूछा—
'माँ कब तक आएगी?'

वर्षों से बिछुड़े
ये सब बालक
अब तक भी रोते हैं
मेरे समझाने पर
और भी अधिक विह्वल होते हैं।
अब इनको कोई तो समझाए
अपने आशीष छोड़
हर माँ मर जाती है
केवल मँडराते रह जाते हैं कुछ साए।

रचनाकाल : 1958, 'आवाज़ों के घेरे' से

मिली यह अमरता

बच्चे फुसफुसाकर बोलते हैं
शोर नहीं करते
बूढ़े कब्र के किनारे बैठे हैं
डरते-डरते
माँओं की ज़बानें थक गई हैं
'उनकी' बात करते-करते
सोचता हूँ
बेहतर होता कि इस माहौल में
तिल-तिलकर घुलने से
मिली यह अमरता
मुझ पर न थोप दी गई होती
तो मैं न डरता
कि हवाई जहाज़ से गिरकर मरता
आत्महत्या करता
काश! हम माँ की कोख से नहीं
किसी ऊँची पहाड़ी की चोटी से
गिरकर धरती पर उतरते।

भोपाल के दिनों की

कल

कल :
अपनी इन बिद्ध नसों में डोल रहा है
संवेदन में पिघला सीसा घोल रहा है
हाहाकार-हीन अधरों की बेचैनी में बोल रहा है
हर आँसू में छलक रहा है!!

ये अक्षर-अक्षर कर जुड़ने वाले स्वर
ये हकला-हकलाकर आने वाली लय

पगला गए गायकों जैसे गीत
बेवफा लड़कियों-सी कविताएँ
ये चाहे कितनी अपूर्ण अभिव्यक्ति
समय की हों,
पर इनमें कल झलक रहा है!!

कल :
जिसमें हम नहीं जी रहे
देख रहे हैं,
कल :
जिसको बस सुना-सुना है
देख रहे हैं :
बाज़ारों में लुटे-लुटे-से
चौराहों पर सहमे-सहमे
आसमान में फैले-फैले
घर में डरे-डरे दुबके-से...।

चारों ओर बिछा है अपनी पीड़ाओं का पाश
दिशा-दिशा में भटके चाहे
किंतु भविष्य-विहग उलझकर
आ जाएगा पास!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

इसलिए

सहता रहा आतप
इसलिए हिमखंड
पिघले कभी
बनकर धार एक प्रचंड
जा भागीरथी में
लीन हो जाए।

जीता रहा केवल
इसलिए मैं प्राण,
मेरी ज़िंदगी है
एक भटका बाण
भेदे लक्ष्य
शाप-विहीन हो जाए।

रचनाकाल : 1957, 'आवाज़ों के घेरे' से

फिर...

फिर मेरे हाथों में गुलाब की कली है।
फिर मेरी आँखों में वही उत्सुक चपलता है।

सोचा था यहाँ
तुमसे बहुत दूर
शायद सुकून मिले
...पर यहाँ लबे-सड़क, कोठियों में
गुलाबों के पौधे हैं
और रास्ता चलते
बँगलों में लगे गुलाबों को तोड़ लेने जैसा मेरा मन है
...और फिर तुम तो
सूना जूड़ा दिखाती हुई
अनायास सैकड़ों मील दूरी से पास आती हुई...।

और फिर...
फिर वही दिशा है गंतव्य
जो तुम्हारी है,
फिर वही दंशन है आत्मीय
फिर वही विष है उपभोग्य
मेरा उपजीव्य आह!
फिर वही दर्द है—अकेलापन!!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

प्रश्न-दृष्टियाँ

इस समर को दूर से देखने वालो,
यह सरल है
आहतों पर दया दिखलाओ
'आह बेचारे!' कहो
या साथ इनके तिक्त संवेदना के क्षण सहो
औ' पराजय पर विकल होकर रचो साहित्य,
...किंतु जो सैनिक पराहत
भूमि पर लुंठित पड़े हैं
तुम्हारा साहित्य उन तक नहीं जाता
यह तटस्थ दया तुम्हारी
और संवेदना उनको बींधती है।

...आह! बेचारे भ्रमित
ये सोचते थे—
ले चुकी है जन्म
एक विशाल औ' निर्भीक पीढ़ी
आज इनके साथ...

इन्हें लगता था कि हम
संघर्ष में कूदे अगर
तो इन सहस्रों बाहुओं का बल मिलेगा
दृष्टियों का जाल
ऊपर फैलकर
सारे प्रहार सँभाल लेगा।

...किंतु सारे कवच खंडित
स्वप्न मरणासन्न
ये असंख्य उदास आँखें पूछती हैं—
कहाँ हैं वे बाहु...
    जिनसे रण सजेगा
कहाँ हैं वे गीत...
जो उठकर गगन में गूँजते थे
कहाँ हैं वे मित्र

कहाँ वे संगी-सहायक
कहाँ हैं हम?

इस समर को दूर से देखने वालो,
ये उदास-उदास आँखें माँगती हैं
दया मत दो
इन्हें उत्तर दो।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

प्यार : एक दशा

यह अकारण दर्द
जिसमें लहर और तड़प नहीं है,
यह उतरती धूप
जिसमें छाँह और जलन नहीं है,
यह भयंकर शून्य
जिसमें कुछ नहीं है...
ज़िंदगी है।

आह! मेरे प्यार,
तेरे लिए है अभिव्यक्ति विह्वल
शब्द कोई नहीं
अर्थ-अपार!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

एक साद्धर्म्य

मुझे बतलाओ
कि क्या ये जलाशय
मेरे हृदय की वेदना का नहीं है प्रतिरूप?
मेरे ही विकल व्यक्तित्व की सुधियाँ नहीं

तट पर खड़ी तरु-पाँति?
और ये लहरें तड़पतीं जो कि प्रतिपल
क्या नहीं तट के नियंत्रण में बँधी इस भाँति?
ज्यों परिस्थिति से बँधे हम विवश और विफल।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

गली से राजपथ पर

ये गली सुनसान वर्षों से पड़ी थी
दूर तक
अपनी अभागिन धड़कनों का जाल बुनती हुई,
राजपथ से उतरकर चुप
    कल्पनाओं में अनागत यात्रियों के
पगों की आहटें सुनती हुई।

ये गली
जिसके धड़कते वक्ष पर
थमे ज़ख्मी पॉव रखकर
दूर की उन बस्तियों को चले गए अनेक
ओ' उधर से
लौट पाया नहीं कोई एक,
आज तक रख बुद्धि और विवेक
जीवित है।

आज लेकिन
आज
वर्षों बाद
झोपड़ों से
आहटें सुन पड़ रही हैं
गली में आने
गली से राजपथ में पहुँच पाने के लिए
पगडंडियों से लड़ रही हैं...

आहटें!
एक, दो, दस नहीं
अनगिन पगों की
रह-रह तड़पतीं
लड़खड़ातीं पर पास आती हुई
हर क्षण
बढ़ रही हैं...

अभी होगा भग्न
दैत्याकार यह वातावरण
एक मरणासन्न रोगी की तरह
अकुला रहा है मौन
पूछती है गली मुझसे बावली—
'कवि!
राजपथ पर आ रहा है कौन?'

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

ठंडे कोयले

कभी दहकते थे जो सपने लाल
कितनी विवश करुण ध्वनियाँ निकली थीं इनसे
तुमने इन्हें उठाकर
जब फेंका था जल में
तड़प उठा था क्षण-भर सारा ताल
ये प्रतिवादी अधर रह गए थे खुलते-खुलते

आज ताल का पानी सूख गया
आज परिस्थितियाँ वे बदल गईं
उस घटना को वर्षों बीत गए...
...वर्षों बीत गए

लेकिन
वह आवेश अधूरा
औ' वे व्यथा चिंतनाएँ सब
मेरे मन में अब भी हैं,
वे ध्वनियाँ बेचैन सिसकतीं
आहें भरतीं
मेरे स्वर-स्पंदन में अब भी हैं,
लिखे अंगुलियों से जो मैंने
संकल्पों के असफल छंद
गगन में अब भी हैं,
अब भी मन करता है
सूखे हुए ताल में उतर पड़ूँ
खोजूँ—
शायद मुझको वे ठंडे कोयले पड़े मिल जाएँ
शायद किसी शरद् में ऊष्मा भर दें
मुझसे लेकर आँच
कहीं खिल जाएँ।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

एक मित्र के नाम

मैं भी तो भोक्ता हूँ
इस परिस्थिति का मित्र!
मेरे भी माथे पर,
हैं दुःख के मानचित्र।

मैंने न समझा तो
और कौन समझेगा?
मौन जो रहा है खुद
वही मौन समझेगा ।

अर्थ मैं समझता हूँ
इन बुझी निगाहों का
जी रहा ठहाकों पर
पुंज हूँ व्यथाओं का।

कई रास्तों पर बस
दृष्टि फेंक सकता हूँ,
प्राप्त कर नहीं सकता
स्वप्न देख सकता हूँ।

संकट में घिरे हुए
वचनबद्ध योद्धा-सा
शस्त्रों को छू भी लूँ
तो चला नहीं सकता।

अनजानी लगती है
अपनी ही हर पुकार
छू-छूकर लौट-लौट आती
हर गली-द्वार।

अनुभव की वंशी में
बिंधा पड़ा है जीवन
क्षण-भर का पागलपन
पूरा यौवन उन्मन

लगता है तुमको भी
शूल चुभा है कोई।
किश्ती से अनदेखा
कूल चुभा है कोई!

जीवन के सागर में
यौवन के घाट पर
चला गया लगता है
प्यार-दर्द बाँटकर

पर अब तुम जियो
कहो—कोई तो बात नहीं!
रण में योद्धाओं की
हार-जीत हाथ नहीं!

एक दाँव हारे हैं
एक जीत जाएँगे,
जीवन के कै दिन हैं
अभी बीत जाएँगे।[1]

1. यह कविता कमलेश्वर को संबोधित मान लिखी गई, कमलेश्वर द्वारा प्रदत्त डायरी में।
1957, 'आवाज़ों के घेरे' से

हम

ज़िंदगी को
एक वृहद् प्रसंग में रख
और व्यापक अर्थ इसके
खोजते-फिरते रहे जो
हमीं हैं वो

हमीं तो
इस सर्वहारा ज़िंदगी का
और गहरी शर्त
और दृढ़ दायित्व से
निर्वाह करने चले थे

हम तो यह चाहते थे
ज़िंदगी को और अच्छी पृष्ठभूमि मिले
और अच्छी तरह रक्खें
सजाकर यह चित्र
और गहरे रंग उभरें...

मगर हम ही प्रसंगों से कट गए खुद
बह गए
हम उपन्यासिक अधूरे कथा-नायक
विश्व के साहित्य में
आलोचकों की कृपा के पात्र होकर रह गए।

हमीं तो हैं जो निरर्थक पड़े हैं
हमारे सपने अभी तक इस गगन में खड़े हैं
हमारी गूँजें पड़ी हैं वनों में
आहें मिलों में, दफ्तरों में।

हमारी आहें, हमारी यही गूँजें
साँस-सी फुँकारती हैं
पत्थरों पर फन पटकतीं
विवश होकर फिर हमीं को मारती हैं।

हम
कि जो इस रूपभोग्या धरा से चिपटे हुए
उद्दाम अपनी वासनाएँ जी रहे हैं;
हमारी खुशियाँ हमारी नहीं
हम फिर भी हँसते रहे हैं;

हम अजीवित
जीवितों से
हर व्यथा की हाँक सुनकर सिहरते हैं
बोलते हैं;
हमीं हैं जो बुझ गए
लेकिन अभी तक
मुट्ठियों को बाँधते हैं, खोलते हैं।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

...उपरांत वार्ता

हिल उठा अचानक संयम का वट-वृक्ष
अस्फुट शब्दों की हवा तुम्हारे अधरों से क्या बही
सब जड़ें उभर आईं...

पहले भी मैंने
तुमको समझाया था
याद करो—
ये बिरवा है
ढह जाएगा
लहरों के आगे इस बिरवे की क्या बिसात!

आँधियाँ सँभाले हुए दिशाओं-सा दिल
रहे अविचलित
मुसकानों को झेले जाए नित
इस योग्य नहीं।

जीवन का पहरेदार सजग : संयम,
लेकिन कब तक...?
हर क्षण पर कोई मुहर नहीं होती!

यह जीवन खाली था
इसको भरने वाली
आकांक्षाएँ पनिहारिन चढ़ आईं
मैं कैसे समझाता या उन्हें मना करता!

पर तुमको तो
पहले भी समझाया था याद करो
मैं बहुत विवश हूँ
कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं यहाँ,
दूरी रखने के लिए कहाँ जाऊँ
तुम हो न जहाँ?

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

साथियों से

साथियो, सघन वन के सन्नाटे में
गोली जैसी गूँजी हैं मेरी आवाज़ें
परतें-परतें उघड़ गईं सन्नाटे की।

षड्यंत्रों की पूर्व-पीठिका जैसी खामोशी
दिशा-दिशा, तृण-तरु-पत्तों
औ' वन में छाई थी
थकी हुई घायल आवाज़ें
खोज रही थीं पथ,
था कण-कण निस्तब्ध
रुका हो जैसे गति का रथ;

जब इस सन्नाटे ने उकसाया
बहुत विवश होकर मैंने गाया
लगा, विवशता में होता है बल
अगर विवशता हो सच्ची निश्छल

साथियो, सघन वन के सन्नाटे में
सहसा आवाज़ें मेरी फूट पड़ीं
परतें-परतें उघड़ गईं सन्नाटे की।
है मुझमें इतनी सामर्थ्य
हर जड़ मुखरित हो जाएगा
हर ध्वनि देगी कोई अर्थ
मुझको ज्ञान न था।
पर मैं देख रहा हूँ देवों की
अपराजित सेनाएँ हार गईं
जीने के संकल्प नहीं हारे!

शीश उठाए बिरवे उगते हैं
निर्भय मेरे स्वर के साए में
दौड़ लगाती बच्चों-सी निर्द्वंद्व
गूँज उड़ रही देश पराए में
मैं जिसको निर्वीर्य समझता था

वे सपने आकार पा रहे हैं
मेरी आवाज़ों की प्रतिध्वनियाँ
सुनकर जागे लोग आ रहे हैं!

साथियो, सघन वन के सन्नाटे में
मेरी आवाज़ें कभी नहीं हारीं,
ये लगा मौन जितना गहरा होगा
आवाज़ पड़ेगी उतनी ही भारी
साथियो, फर्ज़ मैं अपना निभा चला
साथियो, तुम्हारी आई है बारी।

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

अभी तो

—रात के घने काले समय में
मेरी हथेली पर
तुमने बनाया है जो सूरज
        —मेहँदी से
        कहीं सुबह तक रचेगा
        लाल होगा!

—यों उतावले मत हो
रचेगा ज़रूर
सूरज है
तुमने बनाया है!

        —लेकिन प्रिय,
        अभी तो अँधेरा है
        मभी है हथेली में
        सुबह की प्रतीक्षा है।

1957, 'आवाज़ों के घेरे' से

तीन छोटी कविताएँ

1

पास आएँ
दो भुजाएँ
दो भुजाओं की प्रतीक्षा तो मुझे भी है
एक तीखा दर्द दे
तो दूसरी बल दे
एक मुझको स्नेह दे
तो दूसरी बल दे

2

आह! कोई जगह ऐसी नहीं
सपने जहाँ रख दूँ
कुलबुलाती चेतना के लिए सारी सृष्टि निर्जन
दृष्टि के पथ में तिमिर है
पर हृदय में छटपटाहट
ज़िंदगी आखिर कहाँ पर फेंक दूँ मैं
कहाँ रख दूँ

3

कहीं से आवाज़ दे कोई तड़फकर
एक गोली-सी लगे आकर हृदय पर
सिहर बैठूँ बैठ जाऊँ, और सोचूँ—
मैं कि सोता रहा आँगन में निरंतर
युद्ध होता रहा आँगन में निरंतर

गौतम बुद्ध से

तुमने धरती की सीमाओं
तक पहुँचा दी अपनी वाणी,
सत्य, अहिंसा, परहित, निग्रह
और भावना जन-कल्याणी;

तुमने युग-हित की चिंता में
छोड़ राजसुख वैभव-माया,
मिट्टी के सिंहासन को स्वीकारा
दुःख से आँजी काया;

वर्षों अचल समाधि, अनेकों कष्ट
भर्त्सना तिरस्कार सब
केवल इस आशा से तुमने सहे
—मुक्ति का मंत्र मिला अब!

और मिला भी मंत्र कि तुमने
सिद्धि, कीर्ति पाई उजियारी,
नई चेतना, नए सत्य से
हो निकली संपृक्त तुम्हारी!

तुमने कहा—'दुःख कारण है
दुःख यहाँ सर्वत्र व्याप्त है,
हो निर्वाण लक्ष्य जीवन का
जीवन जो अतिशय विषाक्त है'

तुमने कहा—'छोड़ घर, शरण
संघ की आओ, शांति मिलेगी,
शरण धम्म की चलो
मुक्ति के सब सपनों की कली खिलेगी'

आज तुम्हारे इस निदान को
लेकर मैंने सोचा भरसक,
मैं—भूखी मानवता का कवि
जर्जर जनता का उद्घोषक

असंतुष्ट रह गया, लगा—
यह समाधान मिथ्या जीवन का,
क्योंकि आज परिभाषाएँ परिवर्तित
बदला स्वर जीवन का;

प्रश्न नहीं उस दुःख का, वह दुःख
जिस पर तुमने मनन किया था,
वह निर्वाण अधूरा है, वह—
जिसको तुमने सृजन किया था;

वह अष्टांगिक मार्ग, सुना था
जिससे दुःख विनष्ट होता है,
आज न जाने किस पथ पर
घुटनों में शीश दिए रोता है!

दुःख है मूल आज भी, जिसकी
मात्रा की कुछ शर्त नहीं है,
संघ धम्म की शरण
लाख सिर पटके कोई अर्थ नहीं है;

सच पूछो 'निर्वाण' शांति से
जीने के दिन कहलाते हैं;
हाय! तुम्हारे शब्द; नित्यप्रति
अर्थ बदलते ही जाते हैं!

युग व्याख्या करता है, मैं तो
केवल उनमें लय भरता हूँ,
हाँ, तुम तो युग के प्रतिनिधि थे
तुमसे एक प्रश्न करता हूँ—

आज धुएँ के इस घेरे में
तुम जीते होते तो बोलो,
तुम 'दर्शन' की सीख माँगते
या कहते 'ये खिड़की खोलो'

क्या तब भी ये 'दर्शनशास्त्र'
'धम्म' या 'संघ' सुहा सकते थे,
क्या तुम युग के स्वर से कोई
स्वर अलगा कर गा सकते थे?

ये जो उठती चीख़-कराहें
सब गलियों सब दरवाज़ों से,
सच कहना क्या बचकर जा सकते थे
तुम इन आवाज़ों से?

कल की चिंता में जब तुम
जीवन को जीते आँखें मींचे,
क्या तुम उसका भी हल
पा सकते थे बोधि वृक्ष के नीचे?

...खैर, सत्य है तुम युग के सृष्टा थे
मैं कुछ बहक गया हूँ
अभी नसों का खून गर्म है
इस दुनिया में बहुत नया हूँ;

और न तुम्हें पढ़ा ही इतना
पढ़ने का अवकाश मिला कम,
संघर्षों के सागर में
तिरते-तिरते फूल गया दम;

फिर भी दो आशीष कि जल्दी
पा लें कोई कूल-किनारा,
काले आसमान में जागे
ज्योतिमान छोटा-सा तारा!

आज नहीं तो कल, जब ऋतु
बदलेगी, अपने ज़ख्म भरेंगे,
जिनको तुमने छेड़ा, हम भी
उन प्रश्नों पर मनन करेंगे!

रचनाकाल : 1958-62, 'आवाज़ों के घेरे' से

सीमा की पुकार

कोलाहल बढ़ता जाता है, सुनो ध्यान से मेरे भाई,
सीमाओं पर खड़े पर्वतों ने शायद आवाज़ लगाई।

उठे आ रहे दूर हिमानी शिखरों से आवाहन के स्वर
दुश्मन ने आक्रमण कर दिया आज हिमालय की सीमा पर
लो हथियार सँभालो देखें किसको मौत यहाँ ले आई,
सीमाओं पर खड़े पर्वतों ने हमको आवाज़ लगाई।

हर अंचल में सुलग रही है आग भभकती दसो दिशाएँ
एक लपट-सी दहक रही है आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ

गूँज उठी है सारी धरती किसने यह भैरवी बजाई,
सीमाओं पर खड़े पर्वतों ने हमको आवाज़ लगाई।

आर्त्त पुकार सुनी है तेरी हर घर हर पाषाण हिला है
माँ तेरे बेटों को अवसर, बहुत दिनों के बाद मिला है
गरज उठी है एक कंठ हो, पूरे भारत की तरुणाई।
सीमाओं पर खड़े पर्वतों ने हमको आवाज़ लगाई।

1962/चीन के भारत पर आक्रमण के दौरान रची गई।

कसाई के आँसू

उसने कहा
नदी बहुत तेज बह रही है
मैंने समझा
पानी की खानी वह नापसद करती है
मेरी समझ पर
वह हसी नहीं
एक पेड की तरफ उँगली उठाकर बोली-
'देखते हो, पहले वहाँ झुड के झुड पक्षी
रहा करते थे'
मुझे लगा
उसे सपने अब अच्छे नहीं लगते
बिना कलरव के पेड़ उसे सूने लगते है
मुझे लगा
बहुत कुछ बदल गया है
कभी हरियलों का एक उड़ता हुआ
झुंड यहाँ आया था
मुझे याद आया—हाँ
तब से मुझे सब वृक्ष हरियलमय लगते है
मैंने कहा—'पहले तो रहते आए थे।'
वह बोली—'कितनी देर रहे?'
मैंने कहा—'सिर्फ आते दिखे थे फिर

सबके सब जैसे उसी वृक्ष में समा गए?'
वह बोली—'छोड़ो, कल क्या होगा
शायद कल ये वृक्ष भी
दिखाई नहीं देंगे
निचाट सूनापन ओढ़े हुए
आँखें यहाँ ठहरेंगी'

'नंगी चट्टानों पर मैं क्या करूँ?' मैंने पूछा।
'तुम! तुम कुछ कर सकते हो—
चाहो तो अंजलि में भर लो यह नदी
इसे होंठों पर रख लो
ऐसी तन्मयता से देखो
इस वृक्ष की ओर
हर पत्ता हरियल बन जाए...

भोपाल के दिनों की रचना, सम्भावित रचनाकाल 1963-1964

युग की रचना

तुम्हारा देश तुम्हारे जीवन में औ सपनों में मर गया
और फिर तुमने अपने युग की रचना नए सिरे से की

देश में व्याप्त तरुण विक्षोभ
कला में अनाचार, अतिचार
व्यक्ति की कुंठाओं का नृत्य
समय का त्रासद हाहाकार

एक दिन अनजाने ही क्रांति
तुम्हारे सपनों में भर गई
तुम्हारे चिंतन की धारा को
सहसा परिवर्तित कर गई
और फिर तुमने अपने युग की रचना नए सिरे से की

मृत्यु के तट पर थे आदर्श
मूल्य थे अवमूल्यन के छंद
आत्मचिंतन था पीड़ायुक्त
मुक्ति की कोठरियों में बंद

समाज अपनी चेतना विलुप्त
तुम्हारे मानस में भर गया
और फिर तुमने अपने युग की रचना नए सिरे से की

समय के सामंतों के साथ
दमन का करते हुए विरोध
कि तुमने अपना हर क्षण किया
लिया जर्जर जन का प्रतिरोध

तुम्हारी क्रांति तुम्हारे साहस का
स्तर गूँजा, घर-घर गया
और फिर न्याय और समता का बोध
तुम्हारे भीतर उतर गया
और फिर तुमने अपने युग की रचना नए सिरे से की

संभावित रचनाकाल : 1964-65

□□